पता —

सूरजमल मोमाणी ।
ठि० जीवनराम गंगाराम
३५, क्रोस स्ट्रीट (सूतापट्टी)
कलकत्ता ।

मुद्रक —
अनुकूलचन्द्र
[illegible] प्रेस कलकत्ता

श्रीविष्णु

सशङ्खचक्रं सकिरीटकुण्डलं सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम् ।
सहारवक्षःस्थलकौस्तुभश्रियं नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम् ॥

GITA PRESS GORAKHPUR

❀ भूमिका ❀

सत्य-असत्य दोनोंसे विलक्षण, अतर्क्यशक्तिशाली किसी सूत्रधारके विलासमात्र इस स्वप्नमय जगतके रंग-मञ्च पर प्रत्येक व्यक्ति अपने अभिनयके समयमें भयङ्करसे भयङ्कर रोमाञ्चकारी दृश्य तो कभी मनोहरसे मनोहर आमोद्-प्रमोद मय दृश्य उपस्थित करता हुआ सुखो, दुखी, राजा, रंक, चोर, चाण्डाल भिन्न भिन्न नामसे व्यर्थमें ही लाञ्छित होता रहता है।

उस समय वह भो अपने स्वाङ्गमें इस प्रकार तल्लीन रहता है कि उसे अपने सच्चे स्वरूपको विस्मृति ही नहीं किन्तु उस काल्पनिक क्षणिक स्वरूपके अभिमान करके उसकी विख्यातिमें ही अपना संमान समझने लगता है। उसका ऐसा समझना बड़ी भूल है। उस सूत्रधारमें भी ऐसी आकर्षण शक्ति है कि उसके रंग-मञ्च पर एक बार आ कर फिर उससे मुंह मोड़ लेना दुष्कर हो जाता हैं। वहां एक एकको कैद करनेके लिये अगणित विषय मौजूद रहते हैं। उसकी जंजीर इतनी मजबूत है कि उससे निकल भागना शायद ही होता है। उससे निकलने का एक मात्र उपाय उस सूत्रधारके असली स्वरूप और अपने सच्चे स्वरूप का परिज्ञान करना है। असलमें तो अपने स्वरूपके सच्चे ज्ञान नहीं रहनेके कारण ही उसके फन्देमें चिर कालसे प्राणीमात्र फंसा रहता है। ऐन्द्रजालिकके कार्यकी असलियत मालूम पड़ जानेके पीछे उसके रचित सामग्री को कोई लेनेकी इच्छा तक भी

नहीं करता है। किन्तु जब तक उसके स्वरूपका परिचय नहीं होता है तब तक यह विश्व—अभिनय और उसका यह नियन्त्रण चालू ही रहता है।

प्रत्यूष कालमें पश्चिममें जब पूर्ण कलाधर अस्त होने लगते हैं तो पूर्वमें भगवान् मरीचिमाली निकल आते हैं। दोनों तेज वाले नक्षत्र हैं, पर जब एक प्रकाशवान् होते हैं, दूसरा प्रकाश-रहित हो जाते हैं यही सृष्टि का नियम है। उत्थान और पतनके, सुख और दुःखके, सौभाग्य और दुर्भाग्यके कठोर यन्त्रसे यह समग्र विश्व मण्डल नियन्त्रित है। आये दिन लोग रंकसे राव और रावसे रंक होते रहते हैं। इस सुख और दु.खके द्वन्दमें बंधा हुआ यह संसार चक्र अनादिकालसे घूम रहा है अतः इसको अपना समझ कर अभिमान करना ही समस्त अनर्थका निदान है।

उस अविवेकिता को हटाने और अपने चिर विस्मृत परमानन्दमय स्वरूपकी प्राप्ति करनेके लिये ही वेदान्त दर्शनका निर्माण हुआ है। वेदान्त दर्शनके गम्भीर मनन करनेसे इस विश्व-नाट्य-शालाके उस मायारूप सूत्रधारको शुरूसे अन्त तक समस्त मिथ्या-मय विचित्र रचना का निश्चित पता लग कर उससे सदैवके लिये छुटकारा हो जाता है अतः जिज्ञासु के लिये वेदान्त-शास्त्रका विचार करना परम कर्तव्य समझा गया है।

मत-मतान्तरका विचार

"तत्त्वमसि" आदि वेदान्त वाक्योंके द्वारा ही पदार्थ की उप-

स्थिति हो कर वाक्यार्थ ज्ञान होगा और उस ज्ञानके स्वतःप्रामाण्य रहनेसे उसीसे अज्ञान और उसके कार्यभूत संसारकी निवृत्ति हो जायगी फिर इस मत-मतान्तरके विवेचन करनेका क्या प्रयोजन है इसका विचार करना प्रथम आवश्यक है।

स्वतः प्रामाण्य रहनेके कारण वेदान्तवाक्योंके द्वारा यद्यपि निर्विकल्पक आत्म-साक्षात्कार हो जाता है तथापि विरोधी जनोंके द्वारा वेदान्त अर्थके विरुद्ध आक्षेप होनेसे मन्द बुद्धिशाली व्यक्तिका सन्देह उत्पन्न होना स्वाभाविक हो जाता है और उस सन्देहरूप प्रतिबन्धकके रहनेसे उसका अज्ञान विनष्ट नहीं होता है किन्तु विचारके द्वारा सन्देहकी निवृत्ति होनेसे सर्वात्मना अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है।

सारांश यह कि प्रतिवादी जनके द्वारा उत्थापित विप्रतिपत्ति की निवृत्तिके लिये ही शास्त्र और मत-मतान्तरका विचार करना मनुष्यमात्रके लिये अत्यन्त आवश्यक है।

'त्वं' पदार्थ अर्थात् जीवके विषयमें जो मत-मतान्तर उपलब्ध हो रहे हैं, सबसे प्रथम उन सबका ही विचार करना आवश्यक समझ कर वैसा ही प्रतिपादन किया गया है।

यद्यपि ग्रन्थके तात्पर्य का विषय 'तत्' पदार्थ अर्थात् ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय अद्वितीय ब्रह्म है अतः उसीका प्रथम विचार कर्तव्य था किन्तु ग्रन्थका फल जो मोक्ष है उसका अधिकारी 'त्वं' पदार्थ जीव) ही है अतः तत् पदार्थ की अपेक्षा 'त्वं' पदार्थ

नहीं करता है। किन्तु जब तक उसके स्वरूपका परिचय नहीं होता है तब तक यह विश्व—अभिनय और उसका यह नियन्त्रण चालू ही रहता है।

प्रत्यूष कालमें पश्चिममें जब पूर्ण कलाधर अस्त होने लगते हैं तो पूर्वमें भगवान् मरीचिमाली निकल आते हैं। दोनों तेज वाले नक्षत्र हैं, पर जब एक प्रकाशवान् होते हैं, दूसरा प्रकाश-रहित हो जाते हैं यही सृष्टि का नियम है। उत्थान और पतनके, सुख और दुःखके, सौभाग्य और दुर्भाग्यके कठोर यन्त्रसे यह समग्र विश्व मण्डल नियन्त्रित है। आये दिन लोग रंकसे राव और रावसे रंक होते रहते हैं। इस सुख और दुःखके द्वन्द्वमें बंधा हुआ यह संसार चक्र अनादिकालसे घूम रहा है अतः इसको अपना समझ कर अभिमान करना ही समस्त अनर्थका निदान है।

उस अविवेकिता को हटाने और अपने चिर विस्मृत परमानन्दमय स्वरूपकी प्राप्ति करनेके लिये ही वेदान्त दर्शनका निर्माण हुआ है। वेदान्त दर्शनके गम्भीर मनन करनेसे इस विश्व-नाट्य-शालाके उस मायारूप सूत्रधारको शुरूसे अन्त तक समस्त मिथ्या-मय विचित्र रचना का निश्चित पता लग कर उससे सदैवके लिये छुटकारा हो जाता है अतः जिज्ञासु के लिये वेदान्त-शास्त्रका विचार करना परम कर्तव्य समझा गया है।

मत-मतान्तरका विचार

"तत्त्वमसि" आदि वेदान्त वाक्योंके द्वारा ही पदार्थ की उप-

स्थिति हो कर वाक्यार्थ ज्ञान होगा और उस ज्ञानके स्वतः प्रामाण्य रहनेसे उसीसे अज्ञान और उसके कार्यभूत संसारकी निवृत्ति हो जायगी फिर इस मत-मतान्तरके विवेचन करनेका क्या प्रयोजन है इसका विचार करना प्रथम आवश्यक है।

स्वतः प्रामाण्य रहनेके कारण वेदान्तवाक्योंके द्वारा यद्यपि निर्विकल्पक आत्म-साक्षात्कार हो जाता है तथापि विरोधी जनोंके द्वारा वेदान्त अर्थके विरुद्ध आक्षेप होनेसे मन्द बुद्धिशाली व्यक्तिका सन्देह उत्पन्न होना स्वाभाविक हो जाता है और उस सन्देहरूप प्रतिबन्धकके रहनेसे उसका अज्ञान विनष्ट नहीं होता है किन्तु विचारके द्वारा सन्देहकी निवृत्ति होनेसे सर्वात्मना अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है।

सारांश यह कि प्रतिवादी जनके द्वारा उत्थापित विप्रतिपत्ति की निवृत्तिके लिये ही शास्त्र और मत-मतान्तरका विचार करना मनुष्यमात्रके लिये अत्यन्त आवश्यक है।

'त्वं' पदार्थ अर्थात् जीवके विषयमें जो मत-मतान्तर उपलब्ध हो रहे हैं, सबसे प्रथम उन सबका ही विचार करना आवश्यक समझ कर वैसा ही प्रतिपादन किया गया है।

यद्यपि ग्रन्थके तात्पर्य का विषय 'तत्' पदार्थ अर्थात् ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय अद्वितीय ब्रह्म है अतः उसीका प्रथम विचार कर्तव्य था किन्तु ग्रन्थका फल जो मोक्ष है उसका अधिकारी 'त्वं' पदार्थ जीव) ही है अतः तत् पदार्थ की अपेक्षा 'त्वं' पदार्थ

ही अधिकतर जिज्ञास्य है इस लिये इस ग्रन्थमें प्रथम जीव का ही विचार किया गया है।

जीवके संवन्धमें चार्वाक-मत

'त्वं'पदार्थ जो जीवात्मा है उसके विषयमें चार्वाकका कहना है कि पृथिवी, जल, तेज, वायु ये चार भूत ही देहाकारमें परिणत हो कर जीव बनते हैं अतः वे ही 'त्वं' पदसे ज्ञेय हैं। उन चार्वाक गणमें भी परस्पर मत-विरोध है। किसीका कहना है कि चक्ष प्रभृति एक एक इन्द्रिय 'त्वं' पदार्थ यानी जीव है, किसीका कहना है—संमिलित इन्द्रिय गण जीव है, किसीका कहना है—मन ही जीव है और किसीका कहना प्राण ही जीव है।

इस प्रकार देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मन आत्मवाद और प्राणात्मवाद ये चार प्रकारके विरुद्ध मत चार्वाकके ही जीवके संवन्धमें उपलब्ध हैं।

इनके मतमें किसी प्रकारकी सार-गर्भित युक्ति नहीं है। ये प्रत्यक्ष वादी हैं। स्थूल-सूक्ष्मके तारतम्यसे जिसकी जैसी पहुंच है, तदनुसार उसके समस्त मतका उपादन करके यहीं उसका विशदरूपसे उसीकी प्रणालीसे खण्डन करनेकी शैली रक्खी गयी है अत: चार्वाक दर्शनसे ही इस भागका प्रारम्भ होता है।

जीवके संबन्धमें बौद्ध-मत

बौद्ध-मतमें क्षणिक विज्ञान ही जीव है। संसारमात्रको उन्होंने

क्षणिक माना है किन्तु विज्ञानको यानी ज्ञानको ही जीवात्मा माना है। ज्ञानसे भिन्न जीवके अस्तित्वमें कुछ भी प्रमाण नहीं है यही कहा गया है।

'अहं' इस प्रकारके आलय विज्ञान यानी जीव क्षण क्षणमें उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं। पूर्व पूर्व जीवके द्वारा उत्तर उत्तर जीवकी उत्पत्ति होती रहती है। इन्द्रिय आदिसे उत्पन्न होने वाले प्रवृत्तिविज्ञान छः प्रकारके माने गये हैं। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और सुखादि।

वर्तमान कालके क्षणिक जीवकी (आत्माको) तब तक प्रयत्न चालू रहता है, जब तक क्षणिकत्वकी परिपक्व भावनाके द्वारा अनादि कालसे आती हुई संसारकी सुदृढ़ वासनाका उच्छेद नहीं हो जाता है।

संसारके विषयमें क्षणिकत्वका विचार जब परिपक्व हो जाता है तब जीवको मोक्ष प्राप्त होनेसे उसकी किसी प्रकारकी प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं होती है।

इस प्रकार विरुद्ध मत रखने वाले सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक ये चार प्रकारके बौद्ध हैं। इनमें सबसे अधम (निकृष्ट) सौत्रान्तिक है।

सौत्रान्तिकके मतमें घट, पट आदि समस्त बाह्य विषय सदैव अनुमेय हैं, क्योंकि घट, पट आकारका जो ज्ञान है वह घट आदि बाह्य विषयका ज्ञानमें प्रतिबिम्ब पड़ना हैऔर प्रति-

बिम्ब बिम्ब-पूर्वक ही होता है क्योंकि ऐसा ही अनुमान उपलब्ध है— "प्रतिबिम्बं बिम्ब-पूर्वकं प्रतिबिम्बत्वात्, मुखादि-प्रतिबिम्बवत्।"

इस प्रकार सौत्रान्तिकके मतमें बाह्य पदार्थका प्रत्यक्ष नहीं मान कर अनुमानके द्वारा उसका अस्तित्व माना गया है।

सौत्रान्तिक से श्रेष्ठ वैभाषिक है, क्योंकि वह घट आदि बाह्य पदार्थोंके प्रत्यक्षका अपलाप नहीं करता है, उन दोनोंके मतमें सर्वत्र भ्रमस्थलमें शुक्ति आदिमें रजत आदिके अभाव रहने पर भी ज्ञान-रूप ही रजत आदि भासित होता रहता है। सौत्रान्तिक और वैभाषिक दोनों सर्वास्तिवादी कहे जाते हैं।

वैभाषिकसे श्रेष्ठ योगाचार है। योगाचारके मतमें समस्त संसार ज्ञान स्वरूप है, ज्ञानसे भिन्न कहीं कुछ नहीं है क्योंकि ज्ञान होनेसे ही किसी वस्तुका अस्तित्व मालूम पड़ता है घट आदि विषय अवयव अथवा अवयवी कुछ भी पदार्थ नहीं है।

घट, पटादि विषय को परमाणु स्वरूप अर्थात् अवयव स्वरूप माननेसे उसमें स्थूलताका ज्ञान नहीं हो सकता है और अवयवी स्वरूप माननेसे यानी परमाणु-समुदायसे भिन्न परमाणु समुदायसे उत्पन्न होने वाला एक नवीन पदार्थ माननेसे उस एक पदार्थ में आवृतत्व-अनावृतत्व, सकम्पत्व—अकम्पत्व, और रक्तत्व-अरक्तत्व आदि परस्पर विरुद्ध धर्म युक्त होनेसे एक ही व्यक्तिके विभेद हो जाने का दोष हो जायगा अतः 'घटोद्रव्यम्' इत्यादि स्थलमें

अङ्गीकृत जो तादात्म्य संबन्ध (अभेद संबन्ध) है वही ज्ञान और घट, पटादि बाह्य विषय इन दोनोंमें माना जाता है। तादात्म्यसे अतिरिक्त किसी सम्बन्धकी कल्पना करनेमें गौरव-दोष (कल्पना-बाहुल्य) भी हो जाता है।

घट-पटादिविषय ज्ञानके ही भिन्न भिन्न आकार हैं। वे आकार वास्तव नहीं हैं क्योंकि ज्ञान निराकार माना गया है अर्थात् वास्तवमें ज्ञानका आकार (अंश) नहीं है अतः संशय आदि स्थलमें भी ज्ञानके परस्पर विरुद्ध कल्पित नाना आकार उपलब्ध होते हैं। प्रमाण और प्रमाता भी ज्ञानके ही कल्पित आकार हैं। प्रमेय पदार्थका प्रकाश होना प्रमिति है और उस प्रमितिके प्रकाश करने की जो शक्ति है वह प्रमाण है। प्रमितिका आश्रय (आधार) प्रमाता है।

पूर्व पूर्व ज्ञानसे उत्तर उत्तर ज्ञान उत्पन्न होता है, समस्त ज्ञान स्व-विषय होता है यानी एक ज्ञानका विषय अन्य ज्ञान नहीं होता है। "ज्ञानका विषय अन्य ज्ञान है" ऐसा माननेसे अनवस्था दोष होनेका प्रसङ्ग हो जाता है।

विज्ञान वादीके मतमें ज्ञानके आकार स्वरूप ही घट-पटादि ज्ञानके विषय हैं। क्षणिक विज्ञानोंके भिन्न भिन्न कालमें अस्तित्व रहनेके हेतु परस्पर विषय-विषयिभाव नहीं होता है।

सौत्रान्तिक, वैभाषिक और योगाचार इनके मतमें विशुद्ध क्षणिक विज्ञान की भावना करते करते उस भावनाके प्रवाह में अविच्छिन्न प्रवेश करना ही मोक्ष माना गया है।

योगाचारसे श्रेष्ठ माध्यमिक है। माध्यमिकके मतमें शून्य ही जीव कहा जाता है। उसके मतमें समस्त संसार विज्ञान स्वरूप होने पर भी मिथ्या ही है। क्षणिकत्व की भावना और शून्यत्वकी भावनासे उसके मतमे मोक्ष प्राप्त होता है ।

'विज्ञान स्वरूप आत्मा मिथ्या है' इस कथनका ही रूपान्तर 'शून्य ही आत्मा है' यह कथन है। शून्य नामका कुछ तत्त्व नहीं माना गया है। "सर्वं मिथ्या इति माध्यमिकमतम्" यह खण्डनकार ने भी कहा है।

दिगम्बरको 'आर्हत' कहते हैं। जैन-मतमें देह और इन्द्रियसे अतिरिक्त देहके समान परिमाण वाला जीव माना जाता है। विशाल देहका त्याग करनेके बाद छोटे शरीरमें प्रवेश करनेके समय आत्मा का ह्रास (संकोच) होता है किन्तु आत्मा का विनाश नहीं होता है क्योंकि परिमाण (वजन) के विनाश होने पर भी द्रव्य का विनाश नही होता है।

यद्यपि आत्मा की सन्तत ऊर्ध्व गति स्वभाव है किन्तु कर्म रूप बन्धनसे बद्ध रहनेके कारण संसार-दशामें उसकी ऊर्ध्वगति नही होती है। कर्मोंके आत्यन्तिकरूपसे उच्छेद होने पर उसकी ऊर्ध्व गति होती है, वही उसका मोक्ष है, अथवा अलौकिक आकाश गमन मोक्ष है यह भी कहा गया है।

बौद्ध-मत भी सर्वथा युक्ति-रहित है। चार्वाक की तरह बौद्ध केवल प्रत्यक्ष वादी नहीं है वह तर्कका भी आश्रय लेता है किन्तु

उसका मुख्य सिद्धान्त क्षणिक वाद ही तर्क-रहित है अतः वह भी मान्य नहीं है।

उसी प्रकार जैन-मत भी समीचीन नहीं है क्योंकि आत्मा का देह-समान परिमाण मानना और नित्यत्व मानना यह दोनों विरुद्ध हैं। हस्ति-कीटके शरीरमें प्रवेश करनेके समय आत्माके अवयवके न्यूनाधिक्य माननेसे कृतहान और अकृताभ्यागम दोष हो जाता है। जैन भी वेदको नहीं मानता है और वेद-प्रतिपादित ईश्वर को भी नहीं मानता है अतः वह भी नास्तिक ही है।

इस प्रकार नास्तिकों के षट् दर्शनका उपपादन और उसका खण्डन करके आस्तिकोंके षट् दर्शनका उपपादन किया गया है।

वैशेषिक, तार्किक और मीमांसक (प्रभाकर) के मतमें कर्त्ता भोक्ता, जड और विभु जीव माना गया है। उनमें वैशेषिकका मत है कि आत्मामें सुख दुःख दृष्ट होनेसे उन सुख-दुःखोंके बीजभूत विहित-निषिद्ध कर्मराशिका कर्त्ता आत्मा है। आत्मा ज्ञानसे भिन्न है अतः जड़ है यानी अचित् है क्योंकि "जानामि—मैं जानता हूं" इस प्रकार की प्रतीति उपलब्ध होनेके कारण वह ज्ञानका आश्रय (आधार) समझा जाता है अर्थात् ज्ञानरूपसे आत्माका ज्ञान नहीं होता है किन्तु ज्ञानके आश्रय रूपसे ज्ञान होता है। आत्मा का समस्त मूर्त्त पदार्थके साथ संयोग होता है अतः वह विभु कहा जाता है।

आत्माके अणु परिमाण माननेसे देहके समस्त अवयवोंसे संबन्ध नहीं रहनेके हेतु आत्मा को जो समस्त अवयव में सुख

आदिका अनुभव होता है उसका व्याघात हो जाता है। आत्माको अणु माननेसे आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि महत् परिमाण-शाली पदार्थका ही प्रत्यक्ष होता है।

मध्यम परिमाण माननेसे आत्मा सावयव हो जाता है और सावयव होनेसे उत्पत्तिशाली सिद्ध हो कर विनाशवान् यानी अनित्य हो जायगा अतः आत्माका परम महत् परिमाण माना जाता है इस प्रकार विभुत्व की स्थापना की जाती है। आत्मा सदैव देह आदिसे भिन्न है इस प्रकारके आत्मा प्रभृति पदार्थ-ज्ञानके परिपाकसे आत्यन्तिकरूपसे यानी निःशेषरूपसे समस्त कर्मोंके उच्छेद हो कर जो आत्यन्तिक रूपसे दुःखका उच्छेद है वही मोक्ष है। वैशेषिक की तरह तार्किक मतमें भी परमाणुसे ईश्वर के द्वारा जगतकी सृष्टि, पदार्थ-तत्त्वज्ञान ही मोक्षका साधन और दुःख-ध्वंश मोक्ष ये सब समान ही माने जाते हैं। कुछ ही प्रक्रिया में मत-भेद है।

भट्ट-मत

भट्ट-मतानुसारी मीमांसक गण जीवको ज्ञान स्वरूप और जड़ कहते हैं। उस मतमें आत्यन्तिक रूपसे दुःखका उच्छेद अथवा नित्य सुखका साक्षात्कार मोक्ष माना गया है।

मोक्ष-कालमें चक्षु आदि इन्द्रियोंके विच्छेद होने पर भी मनका विच्छेद नहीं होता है अतः कर्म रूप प्रतिबन्धकके उच्छेद होनेसे नित्य सुख-विशिष्ट स्वरूपसे आत्माका साक्षात्कार मन के द्वारा

किया जाता है। आत्माके चित् और अचित् दो अंश माने गये हैं। चित् अंश रहनेके कारण वह सबका ज्ञाता होता है और "सोऽहम्" इस प्रकार अपनी भी प्रत्यभिज्ञा करता हैं। अचित् अंशसे उसका ज्ञान, सुख आदिरूप परिणाम होता हैं। "मामहं जानामि—मैं अपनेको जानता हूं" इस प्रकार आत्माका ज्ञेयत्व सिद्ध होता है अतः आत्मा ज्ञानका कर्त्ता भी है और ज्ञानका विषय यानी कर्म भी है। ज्ञानके विषय होनेसे उसकी जड़ता सिद्ध होती है इस लिये आत्मा चित्-अचित् उभयरूप माना गया है।

सांख्य और पातञ्जल मतमें केवल ज्ञानस्वरूप जीवका और नाना जीव माना गया है किन्तु कर्त्ता नहीं माना गया है। पुण्य-पाप या किसी भी कर्म को करने वाली इस मतमें प्रकृति है, उसीके द्वारा जीवको भोग प्राप्त होता है अर्थात् सुख—दुःखका भोग प्रकृति की सहायतासे जीवात्मा को ही होता है। प्रकृति और पुरुषका विवेक ज्ञान नहीं रहता है अतः जीवात्मामें कर्तृत्व का व्यवहार होता है किन्तु वास्तवमें जीवात्मा कर्त्ता नहीं है।

सर्वत्र ही भ्रमस्थलमें दो पदार्थोंके असंसर्गके अज्ञानसे संसर्ग (संबन्ध) का व्यवहार होता है। धर्मि-ज्ञान और धर्म-ज्ञान इन दोनोंके भेदके अज्ञानसे ज्ञानको एकताका व्यवहार होता है। कोई भी विशिष्ट ज्ञान नहीं हैं। इस मतमें अन्यथाख्याति नहीं मानी जाती है किन्तु अख्याति मानी जाती है, अतः असंसर्गके अज्ञान स्वरूप दोष रहने के हेतु विशिष्ट ज्ञान होता है। असंसर्गके ज्ञानसे

इस मतमें किसीका बाध नही होता है यह लाघव यानी गुञ्जायस है। मीमांसक प्रभाकरने भी इसे ऐसा ही माना है।

सुख-दुःख आदि बुद्धिके धर्म हैं। जीवात्मा केवल ज्ञान स्वरूप है अर्थात् सब प्रकारके संसर्गसे रहित, स्वप्रकाश, कूटस्थ और चैतन्यस्वरूप नाना माना जाता है किन्तु उसके साथ बुद्धिके अविवेक रहनेके कारण बुद्धिके धर्मका अनुभव करता है वही उसका भोक्तृत्व है।

वह भोक्तृत्व काल्पनिक नही किन्तु सत्य ही है। संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधिके परिपाक-पर्यन्त प्रकृति-पुरुषके विवेक-ज्ञानसे अविवेककी निवृत्ति हो कर जो त्रिविध दुःखका आत्यन्तिक उच्छेद है वही मोक्ष है।

औपनिषदके यानी वेदान्तीके मतमें अविद्याके कारण जीवात्मा कर्त्ता और भोक्ता भी माना गया है किन्तु वास्तवमें सर्व-धर्म-रहित, परमानन्द ज्ञान स्वरूप ही 'त्व' पदार्थ यानी जीवात्मा माना गया है।

आस्तिकोंमें भी तारतम्य

आस्तिकोंमें सबसे निकृष्ट (अधम) वैशेषिक है क्योंकि उसके मतमें शब्द प्रमाण नहीं अङ्गीकृत रहनेके कारण वेदका प्रामाण्य नहीं माना जाता है।

वेदकी प्रामाणिकता माननेवालों में तार्किक (नैयायिक) न्यून है क्योंकि 'असङ्गोह्ययंपुरुषः' इत्यादि जीवात्माके शुद्ध स्व-

रूपके प्रतिपादक श्रुतियोंका और 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियोंका अभेद-भावनामें यानी अद्वैत ब्रह्मके प्रतिपादन करनेमें तात्पर्य निश्चित है किन्तु तार्किकने "इदं सर्वं यदयमात्मा" 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतियोंका ब्रह्मकर्तृक विश्वमें तात्पर्य माना है अर्थात् ब्रह्म ही इस विश्वका कर्त्ता है यही उन श्रुतियोंका तात्पर्य समझा है।

प्रभाकर और भट्टका वेदान्त दर्शनमें कुछ भी विद्वेष नहीं है। स भट्ट-कारिकामें कहा है।

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयस्तु बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ॥

उक्त भट्ट-कारिकाके द्वारा वेदान्त दर्शनकी प्रशंसा की गयी है। प्रभाकरने भी अपने ग्रन्थमें कहा कि "यद्यपि प्रपञ्च-रहित ब्रह्म ही आत्मा है, तथापि कर्मके प्रसङ्गमें यह नहीं कहना चाहिये क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णने कहा है:— "न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।" मीमांसकाचार्यकुमारिल और पार्थसारथि मिश्रका ऐसा ही मत है।

भट्ट-मतकी अपेक्षा प्रभाकर-मत न्यून है क्योंकि भट्टने अपने ग्रन्थमें "जड़ बोधात्मक आत्मा है" इस कथन के द्वारा आत्माको अविद्योपहित चिद्रूप सूचित किया है और प्रभाकर ने अपने ग्रन्थ में स्वप्रकाश जन्य बोधाश्रय चिद्रूप आत्मा है, इस कथन के द्वारा प्रपञ्चके ज्ञानमें 'अन्यथाख्याति'का भी कथन नहीं किया है।

भट्ट भी सांख्य-पातञ्जलकी अपेक्षा न्यून है क्योंकि सांख्य

आदिकी तरह उसके ग्रन्थमें आत्मा का असंगत्व नहीं माना गया है।

सांख्य भी पातञ्जलकी अपेक्षा न्यून है क्योंकि 'क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर.' इस सूत्रके द्वारा पातञ्जल-मतमें ईश्वरका स्वीकार किया जाता है और सांख्यने ईश्वरको नही माना है।

इसी प्रकार 'तत्' पदार्थ यानी ब्रह्मके विषयमें भी नाना मत-भेद उपलब्ध होते हैं।

वैशेषिक और तार्किकके कुछ अंशोमें मत-भेद रहने पर भी जीवके विषय में मत-भेद नहीं है।

यद्यपि वेद प्रमाणको नहीं मानने के कारण वैशेषिक भी नास्तिक ही कहला सकता है किन्तु वह भी जगत्का कर्ता रूपसे ईश्वर को मानता है अतः आस्तिक-श्रेणीमें यहां उसकी गणना की गयी है।

तार्किक और वैशेषिकका मत-भेद

वैशेषिक के मतमें पृथिवी आदि कार्य मात्र विना किसी कारणके उत्पन्न नही हो सकता है और इस संसारमें बहुत से वृक्ष, वनौषधि आदि जो उत्पन्न होते हैं उसका कोई मनुष्य आदि प्राणी कर्ता द्रष्टा नहीं होता है अथवा इसी पृथिवी आदिका बनानेवाला कोई जीव नहीं है और वह कार्य है अतः उसका कोई कर्ता भी अवश्य है वही कर्ता ईश्वर है इस अनुमान प्रमाण के द्वारा ईश्वर को वैशेषिकने माना है।

पदार्थ तत्वज्ञान ही मोक्षका साधन है और एकैस प्रकारके जो दुःख हैं उनके ध्वंसको ही मोक्ष कहते हैं। वैशेषिक शब्द प्रमाण को नहीं मानते हैं और शब्दात्मक वेद को भी नहीं मानते हैं अर्थ, काम और मोक्ष ये तीन इनके मतमें पुरुषार्थ माने जाते हैं।

नैयायिक (तार्किक) के मतमें भी वैशेषिककी तरह परमाणु कारणतावाद और पदार्थ-तत्वज्ञान के अधीन एकविंशति (एकैस) दुःख-ध्वंशका मोक्षतावाद समान ही है किन्तु नैयायिकने अनुमानके सिवाय शब्दको भी प्रमाण माना है और ईश्वर-रचित होने के कारण वेदका प्रामाण्य भी माना है। तार्किकके मतमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गये हैं। पारलौकिक वस्तुकी सत्ता स्वीकार करनेसे वह आस्तिक कहा जाता है, शब्द प्रमाण नही माननेसे मूक और वाचालकी विशेषता किस प्रमाणसे जानी जा सकती है। 'मेरे पिता हैं' इसके निर्णय करनेके लिये माताका वाक्य ही तो प्रमाण होता है उससे अन्य प्रत्यक्ष या अनुमान कुछ भी प्रमाण नहीं होता हैं।

उक्त प्रकार एक जीव के सम्बन्ध में ही अणुपरिमाणवाद, मध्यमपरिमाणवाद विभुपरिमाणवाद एक जीववाद नाना जीववाद आदि अनेक विप्रतिपत्ति उपलब्ध हो रही है, उसी प्रकार इस जगत के कर्ताके सम्बन्धमें भी नाना मत-भेद उपलब्ध हो रहे हैं। जैसे—सांख्य-पातञ्जल का जड़प्रकृतिकारणवाद तो न्याय-वैशेषिक का चेतन ईश्वरकारणवाद उपलब्ध हो रहे हैं।

उसी प्रकार मीमांसक का कर्मवाद और परमाणुकारणता वाद तो वेदान्ती का माया और ईश्वरकारणतावाद ज्वलन्तरूपसे उपलब्ध है।

जगत के सम्बन्ध में भी न्याय, वैशेषिक, मीमांसक का आरम्भवाद, सांख्य-पातञ्जल का परिमाणवाद और वेदान्ती का विवर्त्तवाद मौजूद है।

जीवात्मा और परमात्मा के विषय में भी द्वैतवाद, द्वैता-द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद अद्वैतवाद वर्णित है।

इस प्रकार मत-मतान्तर के पारावार के अन्तःस्तल में निमज्ज-मान जिज्ञासु जनता का व्याकुल और दुःखी होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है।

कीट, पतङ्ग से लेकर समस्त ब्रह्माण्डमें सब किसी को 'अहम्' मैं हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, इस प्रकार का ज्ञान रहता है और उस 'अहम्-मैं से अपनी आत्मा ही सामान्यस्वरूप से प्रत्येक प्राणीको ज्ञात हो रहा है किन्तु उसका विशेष स्वरूप क्या है यानी असलियत में वह क्या चीज है, यह जिज्ञासा जिज्ञासु मात्र को स्वाभाविक ही है अतः सार्वजनिक अनुभव-सिद्ध उस आत्मा के विषय में विभिन्न विचार रखने वाले वादी गणके द्वारा विप्रतिपत्ति यानी विभिन्न विचार प्राचीन काल से चला आता है और विचार-विमर्श के द्वारा उसके साथ ही उसका निर्णय भी होता चला आ रहा है क्योंकि यह सृष्टि अनादि है और पूर्व कल्प

के अनुसार ही उत्तर कल्प में भी कुछ अंशोंमें परिवर्त्तित हो कर यह सृष्टि कायम रहती है।

प्रकृति की अनेकरूपता से बुद्धि की अनेकरूपता और बुद्धि की अनेकरूपता से विचार की अनेकरूपता स्वभाव-सिद्ध है। इस विचार संघर्ष के उलझनों में पड़ी हुई साधारण जनता को उसके हितैषी मार्ग को बतला देना और उन विभिन्न विचारों के असलियत स्वरूपका निर्णय करा देना ही हमारे महर्षियों का कर्त्तव्य था अतः जनता के परम कल्याण के लिये उनके द्वारा सृष्टि के प्रारम्भ काल में ही हमारे परम पुनीत उच्चतम विचार स्वरूप और एक मात्र जिज्ञासु मानवके मनन करने योग्य दर्शन शास्त्रका प्रणयन किया जाता है, पश्चात् देश-कालके अनुसार अनेक प्रतिभा-सम्पन्न आचार्यों के द्वारा अनेक प्रकार से विस्तृत और सरल विचार प्रगट किये जाते हैं किन्तु उनके तारतम्य के निःपक्ष गम्भीर विचार करने से समस्त प्रतिभाशाली धुरंधर विद्वानों का यही निश्चित मत होता है कि वेदान्त दर्शन का सिद्धान्त ही सर्वथा मान्य है उसी के उपदिष्ट मार्ग से चलने से जिज्ञासु जनता का वास्तविक श्रेय प्राप्त हो सकता है।

षट् दर्शन के व्याख्याता, सर्व मान्य श्रीमद्वाचस्पति मिश्र प्रभृति के भी उक्त प्रकार के भाव परिलक्षित होने और उस अर्थ में ही श्रुतियों के तात्पर्य-समन्वय दृष्ट होने से अनेक मत-मतान्तर का उपपादन और तदनुसार उसका खण्डन करके

उसी प्रकार मीमांसक का कर्मवाद और परमाणुकारणता वाद तो वेदान्ती का माया और ईश्वरकारणतावाद ज्वलन्तरूपसे उपलब्ध है।

जगत के सम्बन्ध में भी न्याय, वैशेषिक, मीमांसक का आरम्भवाद, सांख्य-पातञ्जल का परिमाणवाद और वेदान्ती का विवर्त्तवाद मौजूद है।

जीवात्मा और परमात्मा के विषय में भी द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद अद्वैतवाद वर्णित है।

इस प्रकार मत-मतान्तर के पारावार के अन्तःस्तल में निमज्जमान जिज्ञासु जनता का व्याकुल और दुःखी होना अस्वाभाविक नही कहा जा सकता है।

कीट, पतङ्ग से लेकर समस्त ब्रह्माण्डमें सब किसी को 'अहम्' मैं हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, इस प्रकार का ज्ञान रहता है और उस 'अहम्-मैं' से अपनी आत्मा ही सामान्यस्वरूप से प्रत्येक प्राणीको ज्ञात हो रहा है किन्तु उसका विशेष स्वरूप क्या है यानी असलियत मे वह क्या चीज है, यह जिज्ञासा जिज्ञासु मात्र की स्वाभाविक ही है अतः सार्वजनिक अनुभव-सिद्ध उस आत्मा के विषय में विभिन्न विचार रखने वाले वादी गणके द्वारा विप्रतिपत्ति यानी विभिन्न विचार प्राचीन काल से चला आता है और विचार-विमर्श के द्वारा उसके साथ ही उसका निर्णय भी होता चला आ रहा है क्योंकि यह सृष्टि अनादि है और पूर्व कल्प

के अनुसार हो उत्तर कल्प में भी कुछ अंशोंमें परिवर्तित हो कर यह सृष्टि कायम रहती है।

प्रकृति की अनेकरूपता से बुद्धि की अनेकरूपता और बुद्धि की अनेकरूपता से विचार की अनेकरूपता स्वभाव-सिद्ध है। इस विचार संघर्ष के उलझनों में पड़ी हुई साधारण जनता को उसके हितैषी मार्ग को बतला देना और उन विभिन्न विचारों के असलियत स्वरूपका निर्णय करा देना ही हमारे महर्षियों का कर्त्तव्य था अतः जनता के परम कल्याण के लिये उनके द्वारा सृष्टि के प्रारम्भ काल में ही हमारे परम पुनीत उच्चतम विचार स्वरूप और एक मात्र जिज्ञासु मानवके मनन करने योग्य दर्शन शास्त्रका प्रणयन किया जाता है, पश्चात् देश-कालके अनुसार अनेक प्रतिभा-सम्पन्न आचार्यों के द्वारा अनेक प्रकार से विस्तृत और सरल विचार प्रगट किये जाते हैं किन्तु उनके तारतम्य के निःपक्ष गम्भीर विचार करने से समस्त प्रतिभाशाली धुरंधर विद्वानों का यही निश्चित मत होता है कि वेदान्त दर्शन का सिद्धान्त ही सर्वथा मान्य है उसी के उपदिष्ट मार्ग से चलने से जिज्ञासु जनता का वास्तविक श्रेय प्राप्त हो सकता है।

षट् दर्शन के व्याख्याता, सर्व मान्य श्रीमद्वाचस्पति मिश्र प्रभृति के भी उक्त प्रकार के भाव परिलक्षित होने और उस अर्थ में ही श्रुतियों के तात्पर्य-समन्वय हुए होने से अनेक मत-मतान्तर का उपपादन और तदनुसार उसका खण्डन करके

वेदान्त दर्शन के सिद्धान्त का निर्णय इस ग्रन्थ में किया गया है

विद्वानों के उपादेय वस्तुओंमें यदि इस कृतिको भी कहीं स्थान प्राप्त होगा तो अन्तिम भागमें मीमांसा, साख्य, योग और वेदान्त दर्शनका भी विस्तृत प्रणालीसे विचार किया जायगा यह लेखक की हार्दिक अभिलाषा है।

मेरी संशोधकतामें ही यह पुस्तक लिखी गयी है अतः इसके स्खलन का मैं क्षमा प्रार्थी हूं।

विद्वानों का वशंवद—

पं० शिवनारायण झा

दार्शनिक (मिथिला)

समर्पण

परम पूजनीय पिताजी !

आप अपने अनुपम प्यार से सदैव जिसका लालन-पोषण किया करते थे और सात्विक उपदेश देकर जिसकी धार्मिक प्रवृत्ति अक्षुण्ण रक्खा करते थे वही आज मैं आपकी दिवङ्गत आत्माकी चिर शान्तिके लिये आज तक के अपने आत्म-विकाशके उपहारस्वरूप 'दर्शन तत्त्व-रत्नाकर' इस द्वितीय भाग को आपही के कर-कमलों में सादर समर्पित करता हूं।

आपका चरण-सेवक

सूरजमल

लेखक के पिता

परम श्रद्धेय श्रीयुक्त बाबू रामप्रतापजी मीमाणी
(वैकुण्ठवासी, सम्वत १९८६ वि०)

* श्री गणेशाय नमः *

—ॐ लेखक का वक्तव्य ॐ—

इस महामोहमय संसार में स्वकल्पित बन्धनसे बद्ध जीवके लिये अपने वास्तव स्वरूप के परिज्ञान के बिना संसृति-क्लेशसे मुक्ति और चिरस्थायी सुख की प्राप्ति दोनों असंभव हैं अतः अपने वास्तव स्वरूपका परिज्ञान करना ही मानव-जन्मका उद्देश है। साक्षात् परम्परया समस्त शास्त्रोंका भी वही लक्ष्य है।

जब तक बुद्धि पवित्र, निश्चल और प्रखर नहीं होती है तब तक अपने वास्तव स्वरूप का परिज्ञान होना असंभव है।

बुद्धिको पवित्र, मल-रहित और संस्कार-सम्पन्न बनाने का साधन अपने अपने वर्णाश्रम धर्मका सात्त्विक अनुष्ठान करना है और बुद्धि के निश्चल और सात्त्विक होने के साधन भगवद्भक्ति और उपासना आदि हैं। उन सबका विशद विवेचन मैंने 'धर्म भक्तिरत्नाकर' में कर दिया है और यौगिक-प्रक्रियाके यम-नियमादि साधन एवं संसार-बन्धन के मूलभूत वासनाका भी दिग्दर्शन इसी 'दर्शन तत्त्वरत्नाकर' के प्रथम भाग में कर दिया गया है, किन्तु अपने वास्तवस्वरूप के आवरण दोष को हटाने के लिये वेदान्तदर्शन का गम्भीर मनन करना परमावश्यक है अतः उसके विपरीत तत्त्व-निर्णयकारक प्राचीन समस्त मत मतान्तर का विशद उपपादन तथा उसके मान्य पद्धति से ही उसके अयुक्त अंश का इस भाग में खण्डन कर दिया गया है, क्योंकि भिन्न-भिन्न विचार देखने से जिज्ञासु गणके संशय और विपर्यय का उद्भव होना अस्वाभाविक नहीं है।

इस भागमें चार्वाक दर्शन से ले कर न्याय-वैशेषिक तक का विवेचन किया गया है।

न्याय-वैशेषिकदर्शन के खण्डन करने से ही 'प्रधानमल्ल-निबर्हण" न्याय के अनुसार मीमांसा,सांख्य और योगका भी खण्डन हो ही जाता है क्योंकि परमाणुकारणवाद मीमांसा और न्याय दोनों के ही अभि-मत हैं किन्तु ईश्वरको न मानना अदृष्ट मात्र को जगत का नियामक मानना आदि मीमांसा के असमी-चीन अंश अव खण्डनीय हैं। मीमांसा के कर्मकाण्ड अंश तो सब के मान्य ही हैं।

साख्य और योग दर्शन में जो आत्मा को व्यापक, चेतन, और सर्व धर्म-रहित माना गया है वह तो वेदान्त का भी अभि-मत ही है किन्तु उन दोनों दर्शनोंमें आत्मा के भेद यानी असंख्य आत्माको माना है , जगतको सत्य माना है और ईश्वरसे जीवका भेद माना है। ये तीन अंश ही श्रुति युक्ति विरुद्ध हैं अतःवे अमान्य होते हैं

वेदान्त दर्शनका विशद विवेचन मैंने 'ज्ञान रत्नाकर' में कर दिया है तब भी इस के अन्तिम भागमें अवशिष्ट दर्शनों का इसी प्रणालीसे विवेचन करनेका प्रयत्न करू गा अतः आप महानु भावों का शुभ आशीर्वाद का प्रार्थी हो रहा हू।

भवदीय—

सूरजमल मीमाणी

नमःश्रीलशङ्कराचार्य्यचरणकमलेभ्यः ।

अवधानमाधाय साधु निरैक्षि मया श्रीसूरजमलजी मीमाणी महोदयेन सङ्कलितो 'दर्शनतत्त्वरत्नाकरा'भिधोऽनुपमो हिन्दी भाषामयो ग्रन्थः । ग्रन्थोऽयं समस्तास्तिकनास्तिकदर्शनानां सिद्धान्तान् वैशद्येन सामग्र्येण च निरूप्य नास्तिक दर्शन-राद्धान्तान् श्रुतिस्मृतियुक्तिवचोनिचयोपन्यासेन खण्डयित्वा आस्तिकदर्शनसिद्धान्तान् सैद्धान्तिक कोटिमारोहयतिनावा-वधि हिन्दी भाषायामेतादृशं ग्रन्थरत्नं केनचिद्विद्वल्ललामेन सङ्कलितं मदृदृष्टिपथिकतांगतम् । एतेन युगान्तरमेवोपस्थापितं विद्वज्जनतायामप्यभ्युपगततदीयपदार्थ सार्थगाम्भीर्यदुरवगाहेऽमि-तमतिजनैतरैदु ष्पठे भीममकरादिपरिवारकरम्बित कूपारे इव महासारैक लभ्ये सिद्धान्तरत्नराशौ दर्शनशास्त्रे महीयसायासेन सरलतरया शैल्या तथा दार्शनिका गूढतमा विषयाः प्रत्यपा-दिषत येन च दर्शनसमकालमेव स्वल्पधियामपि हृदयान्यारोहे-युस्ते। किमधिकोक्तया,एनमेकमेवग्रन्थं परिशीलयन् जनः सम्यक्प-रिचिनुयात्साधकबाधकप्रमाणसरणि पुरस्सरसर्वानेव दार्शनिक सिद्धान्तान् भूयोभिर्वर्षैरपि दुर्ज्ञेयानित्युक्तौनास्त्यतिशयोक्तिलेशो पीति मे दृढिष्ठो विश्वासः । 'ज्ञानरत्नाकर' 'धर्मरत्नाकरादि ग्रन्थलेखनेन समस्त सुश्रु त विश्रु त लेखसौष्ठवस्य सुरभारती समुन्नतिकृते धृत व्रतस्य लेखकस्यास्य महोदयस्य लेखशैली नितमां प्रशंसनीया ग्रन्थाकारश्च नितान्तस्वान्ताकर्षकः । विद्व-

पामवश्यं द्रष्टव्योऽयं ग्रन्थः । अन्वर्थं नाम दर्शन परिशीलन-मन्तरा केवल व्याकरणसाहित्य सौहित्य सम्पादनेन वैदुष्यम-दूष्यं न भवतीति नातिरोहितं विपश्चिदपश्चिमगोष्ठ्याम् । अस्मिन् ग्रन्थ-विषये इदमेकं त्रिशिष्याभिधातव्यमस्ति यत् "एकंब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित् । आस्ते न धीर-धीरस्य भङ्गः संकरकेलिषु" इति खण्डनखण्डखाद्ये श्रीहर्षोक्त्या अद्वैतमतस्य सर्वमतश्रेष्ठतया बौद्धाधिकारे (उदयनाचार्यीये) एवोक्तत्वादित्यभिधाय "बलिनि वेदनये जयश्रीः" इति बौद्धा-धिकारीयं पद्यं प्रामाण्येनोद्धरतः 'बलिनिसर्वेभ्यो द्वैतवादि-मतेभ्यो बलवति वेदनये-वेदान्त दर्शने जयश्रीर्जयोत्कर्षेकाष्ठा इत्येवं रूपेण व्याचक्षाणस्याद्वैतसिद्धेः प्रसिद्ध व्याख्यातुर्-गौडब्रह्मानन्दीति प्रसिद्धाभिधलघुचन्द्रिकाव्याख्यायाम् तादृश व्याख्याविधानप्रामाण्योपयिकतया "किमार्द्रक वणिजो वहित्र-चिन्तया" इत्यौदयनवचनमुद्धरतो गौडब्रह्मानन्द्या गौडब्रह्मानन्दस्य मतेन 'वेदान्त दर्शनं दर्शनेषु सर्वेषु दर्शनीयतमं दर्शनम्' इति मधुसूदन सरस्वती रचित 'सिद्धान्त बिन्दो' रादपद्यस्यारम्भ एव 'न्यायरत्नावल्यां' गौडब्रह्मानन्दस्य कथनेन, वेदस्यान्तोबाधकत्ता-सम्बन्धेन तात्पर्यविषयो यत्रे ति विद्वज्जनप्रसिद्ध 'वेदान्त' पद-निरुक्तौ प्रमाणैरन्यैश्रौतैःस्मार्तैश्च वेदान्तदर्शनं सर्वदर्शनमू-र्धन्यमिति व्यक्तं प्रचकाशीत्याकलय्य परेषामपि मतौ तथैव निर्विधारविषया वेदान्तमतस्यैव श्रेष्ठ्यमिति प्रत्यपीपदत् ,

प्रत्यतिष्ठिपद्य तथैव प्रमाणपूर्णं प्रकृतग्रन्थकृन्महाशयः । परोपकृति-मात्रकृतिना भवरक्तेनापि विरक्तेन महाशयेनानेन हिन्दीसाहित्याय मातृभूमिदेयर्णं मुमुक्षया किमन्यपूर्वंसुदर्शन दर्शनराद्धान्त प्रति-पादक ग्रन्थात्मकं वस्तूपाहारि, येन च महतोभावाभियोगस्य पूर्त्ति-रजनि, हिन्दीभाषाभापि संसारे, इत्यावेदयतो मोमुद्यमानमानस्य सन्तुष्यतितमां मे चेतः, अपरानपीदृक्षान् परःसहस्रान् ग्रन्थान् प्रकाशयितुमेनं वृन्दारकभारतीभक्तमास्तिकप्रवरमधिगतानवद्य ब्रह्म-विद्यं नैकविधग्रन्थ परिशीलन शालिनं चिरञ्जीवयतु सर्वथा समुन्नयन् भगवान् भवानीजानि रित्याशासानः संमन्यते--

स्वामी भागवतानन्दो मण्डलीश्वरः
शास्त्री काव्य, सांख्य, योग, न्याय,
वेदान्ततीर्थो वेदान्तवागीशो मीमांसा-
भूषणो वेदान्तरत्नम्,
कनखल (हरिद्वार) वास्तव्यः

विद्यासेवापरायणेन श्रीमता सूरजमल मीमाणी महोदयेन विरचितस्य "दर्शन तत्त्व रत्नाकर" नामधेयग्रन्थस्य प्राथमिको भागो मया परिदृष्टः। ग्रन्थेऽस्मिन् रचयितुर्बहुचिन्तनतायाः परिचयो बहुत्र वरीवर्त्ति। अत्र खलु योग-वेदान्तशास्त्रप्रतिपाद्या बहवः सार-सिद्धान्ताः सरलया हिन्दीभाषया नवीनरीत्या तथा वर्णिता यथा हिन्दीभाषाभिज्ञानां सर्वेषामेव बुद्धिमतां मूलग्रन्थपाठमन्तरेणापि तत्तत् सिद्धान्तपरिज्ञानं भविष्यतीति मन्यते। काम्यते च सर्वत्रास्य प्रचार इति।

ज्येष्ठ शुक्ल प्रतिपदि
शकाब्दाः १८५७

काशीवासिना
महामहोपाध्याय श्रीफणभूषण
तर्क वागीश भट्टाचार्येण

'दर्शन तत्त्व-रत्नाकर' के ३३६ पत्रों पर यत्र तत्र दृष्टि डाल कर मैंने परमानन्द की प्राप्ति की। दर्शन के सम्बन्धमें यह पुस्तक सचमुच ही रत्नाकर है। हिन्दी भाषाका यह सौभाग्य है जो उसमें इस प्रकार के गहन और महत्त्व-पूर्ण विषयोंसे परिप्लुत पुस्तक का प्रकाशन हो गया।

दौलतपुर
२८-३५ ई०

महावीरप्रसाद द्विवेदी
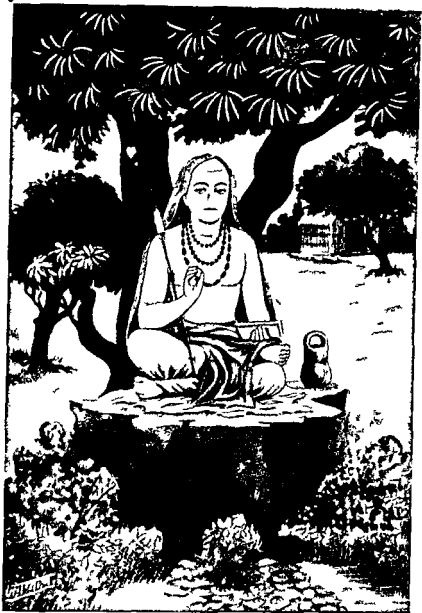
भगवान् श्रीशङ्कराचार्य

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य-
श्रीमच्छंकरभगवत्पाद-प्रतिष्ठित-
श्रीकाञ्ची-कामकोटिपीठाधिपजगद्गुरु-
श्रीमच्चन्द्रशेखरेन्द्रसरस्वती श्रीपादैः ।

कलिकातानगरनिवासिनां श्रीमतां सूरजमल मोमाणी महोद्यानां सर्वाभीष्टसिद्ध्यै क्रियते नारायणस्मृतिः ॥

बौद्धादिप्रस्थानानामवैदिकानांखण्ड्यानामस्मत्प्राचीनास्तिकदर्शनग्रन्थेषु यावद्विवरणं वर्तते ततोऽपि बह्वधिकं विभज्य प्रदर्शनं भवदीय ग्रन्थे दृश्यत इति एतस्य "दर्शन तत्त्वरत्नाकर" नामक ग्रन्थस्य निर्मातॄणां भवतां विषये श्रेय आशास्महे ॥

कार्तिक कृ० १० सं १९९२ मुकाम् कोल्लाघाट	नारायणस्मृतिः ॥

विषय सूची ।

सदाशिव

नमः शिवाय निःशेषक्लेशप्रशमशालिने । त्रिगुणग्रन्थिदुर्भेदभवबन्धविभेदिने ॥

GITA PRESS GORAKHPUR

ॐ तृतीय रत्न प्रारम्भ ॐ

चार्वाका. कथयन्ति कायमपरे बौद्धा क्षणस्थायिनम् ।
जैना मध्यममानक जडमहो काणाद-नैयायिका. ॥
मीमासापरिनिष्ठिता अपि जडं चैतन्ययुक्त च वै ।
साख्या योगविशारदाश्च शतशोऽनेक हि जल्पन्ति यम् ॥ १ ॥
सर्वे द्वैतसमन्विता खलु यथाऽमान्या भविष्यन्ति त ।
सत्तर्कै श्रुतिरक्षितैरिह तथा सम्यक् समीक्षा कृता ॥
ध्वान्तद्वैतमपास्य त हि कथयन्त्याभासक चेतनम् ।
एकं नित्यसुखात्मक ननु भृश पूज्या हि वेदान्तिन ॥ २ ॥

जिस-आत्म तत्त्वको चार्वाक लोग शरीर कहते हैं, अर्थात् चार्वाकके मतमे शरीरसे अतिरिक्त अन्य आत्मा नहीं है, बौद्ध उसको क्षणिक कहते हैं। जैनमतावलम्बी आत्माको मध्यम परिमाणशाली कहते हैं। वशेषिक और नैयायिक जिस आत्माको जड मानते हैं। मीमासक लोग चेतन और जड दोनों स्वरूप मानते हैं। साख्य और योग-शास्त्रके वेत्ता जिसको अनेकानेक मानते हैं, वे सबके सब द्वैतवादी हैं। जिस प्रकार वे चार्वाक आदि मान्य नहीं हैं इस ग्रन्थमे श्रुति और समीचीन युक्तियोंके द्वारा सुचारुरूपसे उसका विचार किया गया है।

द्वैतरूप अन्धकार को दूर हटा कर उसी आत्माको जो सर्व-प्रकाशक नित्य आनन्दरूप एक कहते हैं, व वेदान्ती गण सर्व-पूज्य हैं अर्थात् वेदान्तका अद्वैत-सिद्धान्त ही सर्व मान्य है।

"दर्शन तत्त्व रत्नाकर" के अभी तक दो भाग हो चुके हैं। प्रथम भागमें जिज्ञासुकी सरल भाषामे वेदान्त की कुछ प्रक्रिया और उसके सहकारी रूपसे यौगिक परिभाषाका कुछ विवेचन किया गया

है। इस द्वितीय भागमें विशद-विवेचन-पूर्वक चार्वाक दर्शनसे ले कर न्याय-वैशेषिक दर्शन तक का विचार किया जाता है।

प्रतिपक्षी गणके मत-मतान्तर का उपपादन करके विशद रूपसे युक्तियोंके द्वारा तथा श्रुतियोंके अर्थका पारस्परिक विरोध हटा कर सबकी एकवाक्यता (समन्वय) करके प्रतिपक्षी गणके मत-मतान्तरका खण्डन किया जाता है। सबसे प्रथम नास्तिक-शिरोमणि चार्वाकके मतका प्रचुर और विशदरूपसे उपपादन करके उसका खण्डन किया जाता है।

चार्वाक मत

चार्वाकदर्शन का मुख्य सिद्धान्त "देहात्मवाद" अथवा 'भूतचैतन्यवाद' है, अत एव इस सिद्धान्त को मानने वाला व्यक्ति देहात्मवादी या भूतचैतन्यवादी अथवा भूतचैतनिक कहा जाता है।

चार्वाक का आत्मा

देहात्मवादी नास्तिक का कोई बृहस्पति नाम का आचार्य हुआ है उसने कहा है—

"चैतन्यविशिष्टः काय पुरुष"

चैतन्य गुण से युक्त जो यह शरीर है, वही आत्मा या जीव है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, ये चार भूत जब देहाकार में परिणत हो जाते हैं तब उनमें चैतन्य या ज्ञान स्वय उत्पन्न हो जाता है। चार्वाक-मत में प्रत्यक्ष दीखने वाले इस स्थूल शरीर के सिवा दूसरा कोई शरीर मान्य नहीं है।

जिस प्रकार गुड, चावल प्रभृति पदार्थों में नशा न रहने पर भी उनके विलक्षण संयोग होने से उनसे नशीली मदिरा (शराब) उत्पन्न होती है और कत्था, चूना, पान इन अलग २ वस्तुओं में लाल रंग नहीं रहने पर भी उनके सम्मेलन से लाल रंग उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार पृथिवी आदि भूतों में चैतन्य शक्ति नहीं रहने पर भी उनके विलक्षण (एक प्रकार का) पारस्परिक संयोग होने से ही शरीर में चैतन्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

पृथिवी आदि चार भूतों का एक ऐसा सयोग हो जाता है, जिस सयोग के होने से ये भूत शरीराकार में परिणत हो जाते हैं, उसी सयोग को विलक्षण सयोग कहते हैं।

शरीराकार में परिणत होते ही उनमें ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सस्कार आदि चेतन धर्म उत्पन्न हो जाते हैं।

यद्यपि पृथिवी आदि चार भूतों से ही पर्वत आदि स्थावर पदार्थों की भी उत्पत्ति होती है किन्तु उनके आरम्भक भूतों का शरीरारम्भक सयोग नहीं होने से उनमें ज्ञान आदि उत्पन्न नहीं होते हैं, अत वे अचेतन ही रह जाते हैं, साराश यह कि भूत विशेष का चैतन्य धर्म है, अखिल भूत का नहीं।

इस प्रकार विवेचन करने से सिद्ध होता है कि शरीर के आरम्भक जो भूत हैं, उनका विलक्षण संयोग ही ज्ञान या चैतन्य का उत्पादक होता है।

जैसे चार्वाक शास्त्रों में कहा है—

अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः ।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥

चार्वाक मत में पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चार भूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है ।

चार्वाक का तत्त्व चतुष्टय

जिस प्रकार पृथिवी, बीज, जल के परस्पर संयोग होने से वृक्ष आदि तथा उनके द्वारा फल उत्पन्न होते हैं, उन वृक्ष आदि पदार्थों का उत्पादक पृथिवी, बीज, जल के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नहीं देखा जाता है, उसी प्रकार पृथिवी, जल, तेज (अग्नि) वायु इन चार भूतों से ही यह सारी सृष्टि उत्पन्न होती है, अत उनके अतिरिक्त अन्य किसी को इस सृष्टि का उत्पादक मानना ठीक नहीं ।

आकाश को तत्त्व मानना और उससे भी सृष्टि का निर्माण करना युक्ति युक्त नहीं है, क्योंकि आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता है अत चार्वाक दर्शन में चार ही तत्त्व माने जाते हैं । जैसा कहा गया है—

पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि तत्समुदाये
शरीरविषयेन्द्रियसंज्ञास्तेभ्यश्चैतन्यम् ॥

(बार्हस्पत्य सूत्र)

पृथिवी, जल, तेज, वायु ये चार तत्त्व हैं, उन तत्त्वों के समुदाय में ही शरीर, इन्द्रिय और विषयकी संज्ञा होती है।

उन पृथिवी आदि भूतों के विनष्ट होते ही यह स्थूल शरीर रूप आत्मा स्वयं विनष्ट हो जाता है। जैसा श्रुति में भी कहा गया है—

> विज्ञानघन एवैतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु
> विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति।
>
> (बृह० २।४।१२)

विज्ञान घन आत्मा पृथिवी आदि भूतों से ही उत्पन्न होकर उनके विनष्ट होते ही विनष्ट हो जाता है, मरने के बाद इसकी संज्ञा नहीं रहती है।

इस प्रकार चतुर्विध भूतों से उत्पन्न होने वाला चैतन्य शक्ति-सम्पन्न जो यह स्थूल शरीर है वही आत्मा है, उससे भिन्न अन्य कोई आत्मा नहीं है।

> किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्।
> देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः॥
> अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः।
> मम देहोऽयमित्युक्तिः सम्भवेदौपचारिकी॥

चार्वाक मत में पृथिवी, जल, तेज और वायु इन सम्मिलित चार भूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है, जिस प्रकार तण्डुल

आदि कई सम्मिलित वस्तुओं से नशीली शक्ति उत्पन्न होती है।

मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, इस प्रकार स्थूलत्व आदि धर्म का और चैतन्यका (अहंभावका) एक ही आधार प्रतीत होने से और स्थूलता-कृशताका आधार यही शरीर है यह प्रत्यक्ष होने से यह शरीर ही आत्मा निश्चित होता है, दूसरा कोई आत्मा नहीं।

'मम देहः अयम्' यह मेरा देह है, इस प्रकार विभिन्न आधार का जो व्यवहार उसके विरुद्ध दृष्ट होता है वह गौण है अर्थात् यथावत् अर्थ के अनुसार नहीं है।

जिसमें 'अह बुद्धि' होती है वही आत्मा है ऐसा सब विचारवान् पुरुषो ने माना है और अहं बुद्धि इस स्थूल शरीर मे ही प्रतीत होती है, क्योंकि 'स्थूलोऽहम्' 'कृशोऽहम्' 'गौरोऽहम्' 'अह गच्छामि' अर्थात् मैं मोटा हूं, मैं पतला हूं, मैं गौर वर्ण का हूँ, मैं चलता हूं, इत्यादि लौकिक व्यवहार ज्वलन्त रूप से चला आता है, उससे निश्चित होता है कि जिसमें स्थूलता, कृशता और गौर वर्ण रहते हैं, जिसका गमन होता है उसीमें अहं बुद्धि होती है।

अहं भाव और स्थूलत्व इन दोनों का एक आधार निश्चित होता है। स्थूलता, कृशता, गौर वर्ण आदि धर्म इस स्थूल शरीर में ही प्रत्यक्ष रूप से दीख पड़ते हैं और चलना भी इसीका दृष्ट होता है, अतः उक्त धर्म स्थूल शरीर के ही हैं यह निर्विवाद है।

उक्त प्रकार अह बुद्धि का विषय होने से यह स्थूल शरीर ही आत्मा सिद्ध होता है।

'मम शरीरम्—मेरा शरीर' इस प्रकार जो आत्मा का शरीर से नहीं २ भेद व्यवहार उपलब्ध होता है वह तो 'राहोः शिरः राहु का मस्तक' इस तरह का गौण व्यवहार है अर्थात् यथावत् अर्थ के अनुसार नहीं है, क्योंकि जो केतु नाम का ग्रह है उसके शिर की सञ्ज्ञा राहु है, फिर भी पदों के अर्थ का ध्यान न रख कर लोगों में 'राहोः शिरः' इस प्रकार प्रतीति होती रहती है।

जाग्रत् अवस्था मे जिस स्थूल शरीर में अहं बुद्धि होती है, स्वप्न अवस्था मे भी उसी स्थूल शरीर मे अहं बुद्धि रहती है कोई भी मनुष्य स्वप्नकाल म पशु या पक्षी मे अहं बुद्धि का अनुभव नहीं करता है, इससे ज्ञात होता है कि यह स्थूल शरीर ही आत्मा है।

जिसमे मुख्य प्रीति होती है वही आत्मा है। स्त्री, पुत्र, धन, पशु आदि जो पदार्थ इस स्थूल शरीर के उपकारक नहीं होते हैं उनमे प्रेम नहीं देखा जाता है। इस शरीर के लिये ही अन्य वस्तुओं की प्रीति होती है, अतः सबसे प्रिय होने के कारण इस स्थूल शरीर मे ही मुख्य प्रीति सबकी रहती है, इसलिये यही स्थूल शरीर आत्मा है।

इस स्थूल शरीर का प्रत्यक्ष होता है इसके अतिरिक्त अन्य किसी को आत्मा मानने में प्रमाण नहीं है, क्योंकि अन्य किसी का प्रत्यक्ष नहीं होता है और प्रत्यक्ष के सिवा अन्य कोई प्रमाण *मान्य नहीं है।*

चार्वाक का प्रमाण

चार्वाक-मत में अनुमान आदि प्रमाण नहीं माने जाते हैं, केवल प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है।

अनुमान के विषय में देहात्मवादी का यह कथन है कि पर्वत आदि प्रदेश में धूम (धुआ) देख कर ही बुद्धिमान् पुरुष वहां अग्नि का अनुमान करके अग्नि लाने के लिये उस प्रदेश मे चला जाता है और वहा से अग्नि ले कर चला आता है, इस प्रकार के व्यवहार दृष्ट होने से अनुमान प्रमाण अवश्यमेव मन्तव्य है यह कहना अनुमानवादियों का तर्क-शून्य है। क्योंकि 'धूम के साथ नियमत अग्नि का अस्तित्व रहता है' इस प्रकार के व्याप्ति ज्ञान (नियत साहचर्य ज्ञान) रहने से ही लोग केवल धूम देख कर अर्थात् अग्नि का प्रत्यक्ष नहीं होने पर भी अग्नि का अनुमान कर सकते हैं। अनुमान करने की और दूसरी कोई पद्धति नहीं है यह अनुमानवादियों ने माना है।

उक्त प्रकार का व्याप्तिज्ञान, अनुमानवादी के लिये जिसका रहना अनिवार्य है, प्रत्यक्षात्मक ही हो सकता है, क्योंकि धूम के साथ नियमतः अग्नि का अस्तित्व रहता है यह निश्चय तभी होता है जब महानस (पाक-गृह) आदि अनेक प्रदेशों में धूम के साथ नियमतः अग्नि का अस्तित्व प्रत्यक्ष रूप से दृष्ट होता है।

धूम-अग्नि के साहचर्य का उक्त रूप का जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह सदैव और सर्वत्र रहने वाला नहीं कहा जा सकता है,

अर्थात् भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल में एव सर्व देशो मे रहन वाला नहीं है, क्योंकि वर्तमान काल में धूम के साथ अग्नि के साहचर्य का प्रत्यक्ष ज्ञान रह भी सकता है, किन्तु भूत और भविष्य काल क धूम अग्नि के साहचर्य का प्रत्यक्ष ज्ञान कसे हो सकता है, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय (नेत्र) के साथ विषय का सयाग होन से ही रूपवान् वस्तु का प्रत्यक्ष होता है। भूत और भविष्य काल में रहने वाले धूम अग्नि का वर्तमान काल के चक्षु के साथ सयाग कराना किसी व्यक्ति के लिये असभव है।

जब तक भूत, भविष्य, वर्तमान दूर, व्यवहित सर्वप्रकार के धूम के साथ अग्नि का अस्तित्व नियमत रहता है इस प्रकार निश्चय नहीं होता है तब तक धूम को देखकर अग्नि का अनुमान करना युक्ति-रहित है।

वर्तमान काल के किसी एक देश के कुछ धूम अग्नि के साहचर्य का प्रत्यक्ष ज्ञान होने से ही सामान्यरूप से त्रिकालवर्त्ती तथा समस्त देशवर्त्ती समस्त धूम अग्नि का साहचर्य ज्ञान करना प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है। विषय (धूम अग्नि आदि) और इन्द्रिय (चक्षु आदि) के सन्निकर्ष (सयोग आदि) होने से ही प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है।

इस प्रकार प्रत्यक्षात्मक व्याप्ति ज्ञान का अस्तित्व देशान्तर और कालान्तर मे नहीं रहने के कारण कहीं भी अनुमान की कल्पना करना आकाश कुसुम की कल्पना करना है।

जिस प्रकार व्याप्ति-ज्ञान बाह्य प्रत्यक्षात्मक सिद्ध नहीं हो सकता है उसी प्रकार अनुमित्यात्मक भी व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता है अर्थात् व्याप्ति ज्ञान का अनुमान भी नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रत्येक अनुमान में व्याप्ति-ज्ञान अपेक्षित रहता ही है अतः व्याप्ति ज्ञान के साधक उस अनुमान में भी जो व्याप्ति-ज्ञान अपेक्षित है, उसका भी अनुमान के द्वारा ही निर्णय हो सकता है।

इस प्रकार पूर्व-पूर्व व्याप्ति-ज्ञान के लिये उत्तरोत्तर अनुमान के अवलम्बन करने से कहीं विश्राम नहीं हो सकता है और कहीं विश्राम नहीं होने के कारण अनवस्था नामक दोष हो जाता है, अतः अनुमान के द्वारा भी व्याप्ति-ज्ञान की स्थापना करना असंभव है।

इस प्रकार की गवेषणा करने से चार्वाक-दर्शन में अनुमान प्रमाण नहीं माना जाता है। धूम आदि को देख कर अग्नि आदि लाने की जो लोगों की प्रवृत्ति देखी जाती है वह संभावना-मूलक है अर्थात् अग्नि आदि के प्रत्यक्ष न होने पर केवल संभावना से ही अग्नि आदि लाने की प्रवृत्ति होती है।

शब्द-प्रमाण में भी वृद्ध व्यवहाररूप लिङ्ग का ज्ञान अपेक्षित रहता है और वह ज्ञान भी व्याप्ति-ज्ञान की तरह पूर्वोक्त रूप से दूषित है, अतः शब्द प्रमाण की सिद्धि नहीं हो सकती है।

उक्त प्रकार के विवेचन करने से यह निश्चित होता है कि एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण मान्य है, अन्य कोई भी नहीं।

चार्वाक का पुरुपार्थ

स्त्री के आलिङ्गन करने से, मिष्टान्न भोजनसे और भी अपने अनुकूल पदार्थके प्राप्त होने से जो सुख होता है वही पुरुपार्थ है।

दु:ख से मिश्रित रहने के कारण लौकिक सुख पुरुपार्थ नहीं है, यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सुख-जनक पदार्थ मे दु:ख उपस्थित होने की संभावना रहती है, किन्तु उसमे जो दु:ख उपस्थित हों उन्हे छोड़कर केवल सुख भोग कर लेना चाहिये। जैसा कहा गया है—

सुखं सर्वात्मना ग्राह्यं दु:खंहेयमिति स्थितिः।

सुख को सर्वथा ग्रहण कर लेना चाहिये और दु:ख को छोड देना चाहिये यही जगत का नियम है।

तुप (छिलके) से युक्त धान को लोग लाते हैं किन्तु तुप, को निकाल कर जितना लेने के योग्य है, उतना अश निकाल लेते हैं, दु:ख होने के भय से सुख का भी त्याग कर देना ठीक नहीं। 'मृगा: सन्तीति शालयो नोप्यन्ते! हरिण है इस भय से क्या खेत नहीं बोयी जाती। यदि कोई व्यक्ति प्रत्यक्ष सुख का त्याग करता है तो वह पशुवत् मूर्ख है। जैसा कहा गया है—

त्याज्यं सुखं विषयसंगमजन्म पुंसाम्।
दु:खोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा॥
व्रीहीञ्जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्।
को नाम भोस्तुपकणोपहितान् हितार्थी॥

धन, स्त्री आदि विषयों के प्राप्त होने से जो सुख मिलता है वह दुःख से सम्मिलित है अतः मनुष्य को उसका त्याग कर देना चाहिये यह मूर्ख का विचार है। अपना हित चाहने वाला ऐसा कौन व्यक्ति है जो स्वच्छ, सुन्दर तण्डुल से युक्त धान्य (अन्न) को तुष से आच्छादित रहने के कारण छोड़ देता है।

साराश यह है कि इस लोक का जो सुख है वही पुरुषार्थ है, अन्य कुछ भी पुरुषार्थ नहीं है। वही स्वर्ग है और कण्टक आदि से उत्पन्न होने वाला दुःख ही नरक है।

• परलोक और परलोक के सब सुख दुःख कपोल कल्पित हैं, मिथ्या हैं, सत्य नहीं हैं।

पारलौकिक सुख का अस्तित्व नहीं मानने से विद्या वृद्ध सज्जन पुरुष धन व्यय और परिश्रम करके अग्निहोत्र आदि यज्ञ कर्म क्यों करते हैं ? यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि इन कर्मकाण्डी धूर्तों ने ही सिर्फ अपनी जीविका चलाने के लिये अपने कर्मकाण्ड की बड़ाई की और दूसरे के ज्ञानकाण्ड की निन्दा की, इसी प्रकार ज्ञानकाण्डी धूर्तों ने इनके कर्मकाण्ड की निन्दा की और अपने ज्ञानकाण्ड का उत्कर्ष किया। जैसे—

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्म पुण्ड्रकम् ।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥

अग्निहोत्र, तीनों वेद पाशुपत व्रत और भस्म का तिलक ये सब बुद्धि और पुरुषार्थ से रहित पुरुषों के हैं अर्थात् भूखे और कायरकी जीविका है, यह चार्वाक के आचार्य बृहस्पतिने कहा है।

इस आत्मा के उद्देश से नाना प्रकार के यज्ञ आदि क्लेश-कारक कर्म करने को कहा गया है, वह भी असंगत है, क्योंकि स्थूल शरीर रूप आत्मा का तो मरण समय में उक्त चार भूतों में लय हो जायगा, दूसरा कोई कर्त्ता नहीं है तब उन यज्ञ आदि के फल को कौन भोगेगा ? अतः पर लोक में भोक्ता के अभाव से यज्ञ आदि कर्म करना भी व्यर्थ है तथा स्वर्ग आदि परलोक भी नहीं है, यदि होता तो घट आदि की तरह दिखायी देता।

यज्ञ आदि में जितनी घृत आदि सामग्री थी, वह तो तभी जल जाती है और उस जली हुई सामग्री से कोई अदृष्ट तथा स्वर्ग उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि जले हुए आम्र आदि वृक्षों से कोई फल उत्पन्न नहीं होता है। अतः यज्ञ आदि कर्मों के अनुष्ठान से कोई फल नहीं हो सकता है इसलिये यज्ञ आदि करना व्यर्थ है।

वस्त्र, भूषण, अंजन, मञ्जन, भोजन आदि अनेक प्रकारके विषय-भोग का विधान आयुर्वेद-शास्त्र में इस स्थूल शरीर के ही अनुकूल किया गया है। 'चिरंजीव-चिरजीवी रहो' इस प्रकार के आशीर्वाद के वचन भी इस स्थूल शरीर की दीर्घ जीविका के उद्देश से ही चरितार्थ होते हैं; इत्यादि युक्तियों और अनुभवों से निश्चित होता है कि यह स्थूल शरीर ही सब कुछ है, इस लोक से भिन्न यदि कोई परलोक कहीं रहता, तो घट-पट आदि रहने वाले पदार्थों की तरह कभी उसका भी प्रत्यक्ष होता और जिसका कभी प्रत्यक्ष नहीं होता है, उसके अस्तित्व की

कल्पना करना 'शश-शृंग—खरहे की सींग' की कल्पना करना है।

चार्वाक के वर्णाश्रम

ब्राह्मण आदि उत्तम-अधम जाति की और आश्रम की व्यवस्था और उसके अनुसार कर्म-अनुष्ठान ये सब भी कथन मात्र के हैं, क्योंकि—

> शुद्धिर्वंशद्वयीशुद्धौ पित्रोः पित्रोर्यदेकशः ।
> तदनन्तकुलादोषाददोषाजातिरस्तिका ॥
> अनेकपङ्क्त्यां नाश्नीयात्संयतैः स्वजनैरपि ।
> को हि जानाति किं कस्य प्रच्छन्न पातकं भवेत् ॥
> अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे ।
> कुले च कामिनीमूले काजातिपरिकल्पना ॥

अपने पिता-माता के जो पिता माता हैं, उन सबके एक एक के समस्त पितृ-कुल और मातृ-कुलकी शुद्धि रहने पर ही जातिकी परिशुद्धि कही जा सकती है, अतः अनेकानेक कुलोंसे संबंध रहने के कारण कौन जाति संकर दोषसे रहित है यह जानना असंभव है, अर्थात् दोष रहित परिशुद्ध जातिकी कल्पना करना व्यर्थ है।

अपने आवश्यक परिवारोंके साथ भी एक पंक्तिमें बैठ कर भोजन नहीं करना चाहिये, कौन जानता है कि किसका गुप्त पाप क्या है? अतः किसीके साथ एक पंक्तिमें भोजन करना शास्त्र में मना है।

यह संसार अनादि है, कामदेव दुर्निवार है, कुल का मूल कामिनी (स्त्री) है, तो फिर जाति की कल्पना क्या है?

इस प्रकार की शास्त्र की व्यवस्था रहने से भी निश्चित होता है कि ब्राह्मण आदि जाति का निर्णय करना असभव है।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य आदि जो चार आश्रम कहे गये हैं वे भी उपहासास्पद हैं, क्योंकि शास्त्रों में गार्हस्थ आश्रम ही ज्येष्ठ कहा गया है। उस गार्हस्थ आश्रम से ही अन्य आश्रम जीवित रहते हैं, जिस से काम, क्रोध, लोभ आदि जीवित रहते हैं। जैसा कहा गया है—

> ब्रह्मचारि वनस्थायियतनो गृहिण यथा ।
> त्रयो यमुपजीवन्ति क्रोधलोभमनोभवा ॥

ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और सन्यासी ये तीनों ही आश्रमधारी गृहस्थ के आश्रित रहते हैं। जिस प्रकार क्रोध, लोभ और काम गृहस्थ के आश्रित रहते हैं।

इस प्रकार विवेचन करने से यह सिद्ध होता है कि जिस वर्ण (जाति) म तात्कालिक सुख हो, वही जाति श्रेष्ठ और कमनीय है तथा जिस आश्रम में तात्कालिक सुख प्राप्त होता है वही आश्रम सराहनीय है यही चार्वाक के वर्ण आश्रम हैं, इसके सिवा अन्य कुछ वर्ण-आश्रम मान्य नहीं हैं।

चार्वाक का मोक्ष

इस स्थूल शरीर का विनाश होना ही मोक्ष है, जिसे सब लोग प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं, इसके सिवा और कुछ भी मोक्ष नहीं, अत मोक्ष अभिलषित नहीं। जैसा कहा गया है—

न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः ।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः ॥
को हि वेदास्त्यमुष्मिन्वा लोकइत्याह या श्रुतिः ।
तत्प्रमाणादमुंलोकं लोकः प्रत्येतु वा कथम् ॥

न कहीं स्वर्ग है, न कहीं मोक्ष है, परलोक गमन करने वाला आत्मा भी नहीं है, वर्णाश्रमकी फल देने वाली क्रियाएं भी नहीं हैं।

'को हि तद्वेद यद्यमुष्मिन् लोकेऽस्ति वा नवा' 'दिद्‌वती काशान् करोति' इत्यादि श्रुतियों-द्वारा कहा गया है कि परलोक में सुख है या नहीं है इसको कौन जानता है अर्थात् कोई भी नहीं जानता है।

जब सर्व-मान्य श्रुति को ही इसका निर्णय नहीं हो सकता है, सन्देह ही है तो श्रुति के द्वारा ही परलोक जानने वाला संसारी व्यक्ति कैसे निर्णय कर सकता है कि परलोक में सुख है।

श्रुतिस्मृत्यर्थबोधेषु नैकमत्यं महाधियाम् ।
व्याख्या बुद्धिबलापेक्षासानोपेक्ष्या सुखोन्मुखी ॥

श्रुति-स्मृति के अर्थ-निर्णय करने में धुरन्धर विद्वानों का भी परस्पर मत-भेद रहता है। श्रुति और स्मृति की व्याख्या लोग अपने बुद्धि-बल से अपने २ मतलब की कर लेते हैं, अतः जिस व्याख्या करने से सुख प्राप्त हो वही व्याख्या आदरणीय है।

यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

यदि गच्छेत् परं लोकं देहादेष विनिर्गतः ।
कस्मादयं न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुलः ॥
पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ॥
स्वर्गस्थिता यदा तृप्तिं गच्छेयुस्तत्र दानतः ।
प्रासादोपरि स्थानामत्र कस्मान्न दीयते ॥

मनुष्यको सुखसे संपूर्ण जीवन बिताना चाहिये, ऋण (उधार) ले कर भी घृत आदि स्वादिष्ट पदार्थ खाना चाहिये । भस्म हो जाने पर फिर यह शरीर कहां से आ सकता है ।

इस शरीर से निकल कर आत्मा को परलोक जाने की यदि क्षमता (शक्ति) है, तो परिवारों के प्रेम में फंसा हुआ वह आत्मा फिर क्यों नहीं आ जाता है ?

ज्योतिष्टोम यज्ञ में जिस पशु की हिंसा की जाती है, वह पशु (बकरा आदि) यदि स्वर्ग जाता है तो यज्ञ-कर्त्ता स्वर्ग के लोभ से अपने पिता को ही उस यज्ञ में क्यों नहीं मार डालता !

मृतः स्मरति जन्मानि मृते कर्मफलोर्मयः ।
अन्यैर्भुक्ते मृते तृप्तिरित्यलं धूर्त्तवार्तया ॥

जीव मर कर पूर्व-जन्मों का स्मरण करता है, मरने पर कर्म-फल अर्थात् सुख-दुःख का भोग होता है, ब्राह्मण-भोजन कराने से मृत व्यक्ति की तृप्ति होती है, यह सब धूर्त्त के कथन हैं अतः कर्त्तव्य नहीं हैं ।

इस प्रकार के विवेचन से चार्वाक दर्शन में परलोक और पारलौकिक सुख रूप पुरुषार्थ अथवा परम सुख मोक्षरूप पुरुषार्थ नहीं माना जाता है।

चार्वाक का ईश्वर

चार्वाक मत म राजा ही ईश्वर है। इसके सिवा अन्य कोई इस जगत का नियामक ईश्वर नहीं है। जैसे कहा है—

देवश्चेदस्ति सर्वज्ञ. करुणाभागवन्ध्यवाक्।
तत्कि वाग्व्ययमात्रान्न. कृतार्थयति सत्त्वरम्॥

'यदि कोई सर्वज्ञ, परमकारुणिक, ईश्वर है, जिसकी वेद रूप सत्य वाणी कही जाती है, तो वह सर्वज्ञ आदि उक्त त्रिविध विशेषणसे युक्त हो कर भी मांगनसे ही हम लोगोंको भुक्ति मुक्ति दे कर क्यों नहीं कृतार्थ करता है?

राजा ही सबके ऊपर शासन करते दृष्ट होता है। वही इस जगत को मर्यादित रूप से रखता है। नियम विरुद्ध कार्य करने से दण्ड देता है, जिसके भय से लोग नियम विरुद्ध कार्य नहीं करते हैं अत निग्रह और अनुग्रह की सामर्थ्य रखने वाला राजा ही ईश्वर हो सकता है, अन्य नहीं। प्रारब्ध आदि अन्य कोई भी अदृष्ट शक्ति इस जगत का नियामक नहीं है।

यह अनेक प्रकार का ससार और उसकी विचित्र शक्ति, अनेक प्रकार के सुख दु ख के भोग ये सब स्वाभाविक रूप से होते रहते हैं। किसी के नियन्त्रण करने से इस जगत की विचित्रता नहीं होती है। जैसा कहा गया है—

अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः ।
केनेदं चित्रितं तस्मात्स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः ॥

अग्नि गरम होती है, जल ठण्डा होता है, वायु गरम और ठण्ड दोनों से रहित है, किसने ऐसा रचा है ! अर्थात् किसी ने ऐसा नहीं रचा है। स्वभाव से ही यह विचित्रता होती आयी है।

सोकर उठने पर बिना कारण के ही किसी रोज चित्त प्रसन्न रहता है और किसी रोज प्रसन्न नहीं रहता है।

सारांश यह कि स्वभाव से ही जगत की सारी विचित्रताएँ है अतः स्वभाववाद ही मानना युक्ति-युक्त है।

देहात्मवाद का खण्डन

'चावल गुड़ आदि पदार्थों से उत्पन्न शराब की नशा की तरह अचेतन वायु, तेज, जल, पृथिवी से उत्पन्न शरीर में चैतन्य शक्ति स्वयं उत्पन्न हो जाती है' यह चार्वाक का भूत-चैतन्य वाद प्रलापमात्र है, क्योंकि चावल, गुड़ आदि पदार्थों में भी सूक्ष्म रूप से नशा रहती ही है, चावल खाने के पश्चात् भूख की निवृत्ति होने से वह नशा रूपान्तर से अनुभव में आती है और गुड़ आदि पदार्थों के संमिश्रण होने से वही मदिरा की नशा रूप में परिणत हो जाती है।

वायु, तेज, जल आदि में लेशमात्र से चैतन्य नहीं रहने के कारण उससे उत्पन्न होने वाले स्थूल शरीर में चैतन्य कैसे आ सकता है !

'स्थूल शरीर का चैतन्य गुण स्वभाव है' ऐसा म.

से मूर्च्छा और सुषुप्ति के समय में भी स्थूल शरीर में चैतन्य उपलब्ध होना चाहिये। मूर्च्छा और सुषुप्ति मे स्थूल शरीर में चैतन्य उपलब्ध नहीं होता है। .

यद्यपि मूर्च्छा और सुषुप्ति मे किसी अश में चैतन्य उपलब्ध होता है यह मान भी लिया जाय तथापि मृत्यु होने पर प्रत्यक्ष रूप से इस स्थूल शरीर के रहने पर भी किसी अंश में चैतन्य उपलब्ध नहीं होता है अत स्थूल शरीर का स्वभाव चैतन्य है, यह कहना सर्वथा निर्मूल है।

'जिसमें अहं बुद्धि होती है वही आत्मा है और अहं बुद्धि इस स्थूल शरीर में ही प्रतीत होती है' यह कहना चार्वाक का सर्वथा युक्ति और अनुभव से विरुद्ध है क्योंकि यह नियम है कि जिस पदार्थ मे ममत्व बुद्धि होती है वह पदार्थ अपनी आत्मा से भिन्न अनात्म पदार्थ सिद्ध होता है।

जैसे–'मम गृहम्' 'मम पुस्तकम्' (मेरा घर, मेरी किताब) इस प्रकार के अनुभव से निश्चित होता है कि गृह और पुस्तक आत्मा से भिन्न पदार्थ हैं, क्योंकि उनमे मेरापन अर्थात मेरा है इस प्रकार का व्यवहार लोगों का देखा जाता है, वैसे ही 'मम शरीर स्थूलमस्ति, मम शरीर कृशमस्ति, मम शरीर गौर वर्णमस्ति, मम शरीर नीरोगमस्ति' (मेरा शरीर मोटा है, मेरा शरीर पतला है, मेरा शरीर गौर वर्ण का है, मेरा शरीर नीरोग है) इत्यादि रूप से व्यवहार देखे जाते हैं।

जिस प्रकार मम 'पुस्तकम्' कहने से पुस्तक और मेरा अर्थात् आत्मा का भेद ज्ञान होता है यानी पुस्तक से अन्य कोई पदार्थ आत्मा है ऐसा निश्चित होता है उसी प्रकार 'मम शरीरम्' इत्यादि ज्वलन्त व्यवहार रहने से 'शरीर से अन्य कोई पदार्थ आत्मा है' यही निर्धारित होता है, क्योंकि उक्त दोनों प्रतीतियों में किंचित् भी विलक्षणता नहीं है।

'स्थूलोऽहम् कृशोऽहम्' (मैं मोटा हूं, मैं पतला हूं) इत्यादि व्यवहार से शरीर और आत्मा का जो ऐक्य (अभेद) ज्ञात होता है, वह भ्रम मूलक है। जिस प्रकार स्फटिक (काचमणि) के नजदीक जवा पुष्प (एक प्रकार का लाल फूल) के रहने से स्वच्छ स्फटिक भी लाल रंग का दीखने लगता है और 'रक्त स्फटिक' (लाल वर्ण का स्फटिक है) इस प्रकार का व्यवहार लोगों में होने लग जाता है, उसी प्रकार जो आत्मा का अहंभाव है वह अनादि काल से अज्ञान रहने के कारण इस शरीर में प्रतीत होता है, अतः आत्मा और शरीर के अभेद बोधक 'स्थूलोऽहम्' इत्यादि जितने व्यवहार दृष्ट होते हैं वे सबके सब मिथ्या कल्पित हैं।

उक्त प्रकार इस शरीर में अहं प्रतीति के कल्पित रूप से रहने और आत्मा में वास्तविक रूप से रहने के कारण अहं प्रतीति का विषय आत्मा ही सिद्ध होता है, स्थूल शरीर अहं प्रतीति का विषय सिद्ध नहीं होता है अतः स्थूल शरीर आत्मा नहीं कहा जा सकता।

'जाग्रत् अवस्था में जिस स्थूल शरीर मे अहं बुद्धि होती है, स्वप्न अवस्था में भी उसी स्थूल शरीर में अहं बुद्धि होती है' यह कहना भी चार्वाक का युक्ति-रहित है, क्योंकि यदि जाग्रत् और स्वप्न दोनों अवस्थाओं में एक ही शरीर मे अहं बुद्धि होती, तो कलकत्ता में रहने वाले व्यक्तिको 'मैं काशी मे गगा स्नान करता हूँ' इस प्रकार का कभी स्वप्न मे अनुभव कैसे होता ? क्योंकि जिस समय अर्थात् स्वप्नकाल में स्थूल शरीर कलकत्ते मे अवस्थित है उस समय उसका काशी में गंगा-स्नान कैसे हो सकता। इस प्रकार के अनुभव के अनुरोध से निश्चित होता है कि स्वप्नकाल में कलकत्ते के स्थूल शरीर से भिन्न केवल वासनामय शरीर काशी में गगा स्नान करता है। उस वासनामय शरीर की प्रतीति स्वय प्रकाश आत्मा के द्वारा होती है।

इस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न के विभिन्न शरीर में भी एक ही आत्मा का बोध होता है, अतः शरीर कभी आत्मा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जाग्रत् और स्वप्न में अलग २ शरीर का रहना ज्ञात होता है और दोनों मे एक आत्मा की सत्ता अनुभव-सिद्ध है।

'जिसमे मुख्य प्रीति होती है वही आत्मा है और मुख्य प्रीति इस शरीर मे ही साबित होती है, अतः यह शरीर ही आत्मा है' चार्वाक का यह कथन भी लोक और शास्त्र दोनो से विरुद्ध है, क्योंकि कोई पुरुष विशेष अपमानित होने पर महान् दुःख का अनुभव करके विष आदि प्रयोग के द्वारा इस शरीर का सदैव के लिये त्याग कर बैठता है, इससे ज्ञात होता है कि मुख्य प्रीति

इस शरीरमें नहीं रहती है किंतु जीवात्मामे मुख्य प्रीति रहती है।

अपमान आदि जीवात्मा के सुख मे प्रतिबधक हो जाते हैं अत उस अपमान जनित दु ख को हटाने और जीवात्मा को सुखी रखने के अभिप्राय से उस शरीरका त्याग कर दिया जाता है, जिस शरीर के सबध से अपमान दु ख आदि सुख विघातक पदार्थ का अनुभव जीवात्मा को होता रहता है। श्रुति में भी कहा है—

न वा अरे पत्यु कामाय पति प्रियो भवति।
आत्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति॥

पति के सुख के लिये स्त्री को पति मे प्रेम नहा होता है किंतु अपनी आत्मा के सुख के लिये ही पति मे प्रेम स्त्री का होता है इत्यादि शास्त्र प्रमाण और पूर्वोक्त युक्तियों से यही साबित है कि मुख्य प्रेम आत्मा में है और उस आत्मा के अनुकूल जो स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थ होते हैं उनमे भी आत्मा के सुख साधन होने के कारण ही प्रेम किया जाता है, यहा तक कि जब शरीर भी आत्मा का सुख साधक नहीं हो कर दु ख साधक हो जाता है तब शरीर में भी प्रेम नहीं रहता है। उस शरीर के त्याग कर देने की इच्छा होने लगती है और कोई कोई त्याग भी कर बैठता है।

'इस स्थूल शरीर का ही प्रत्यक्ष होता है अत यही आत्मा हो सकता है' यह भी चार्वाक का कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के सिवा अनुमान आदि प्रमाण भी अवश्य मान्य है,

जिसका विशद विचार आगे किया जायगा, इन अनुमान और शब्द आदि प्रमाणों से आत्मा का ज्ञान होता ही है।

श्रुति और स्मृति में भी परलोक के सुख भोगने के लिये आत्मा के उद्देश से ही यज्ञ आदि का कथन किया गया है। यह शरीर यहा ही रह जाता है उसका परलोक गमन और वहा का सुख भाग करना असंभव है।

'चिर जीव' इस प्रकारका आशीर्वाद के वचन भी जीवात्मा के आनन्द के लिये ही कह जाते हैं।

चार्वाक के प्रमाण का खण्डन

'प्रत्यक्ष प्रमाण के सिवा दूसरा प्रमाण मान्य नहीं है' यह चार्वाक का कहना उपहासास्पद है, क्योंकि पर्वत आदि प्रदेशों में धूम देख कर शिष्ट व्यक्ति भी वहा से अग्नि लाने के लिये प्रयत्नशील देखे जाते हैं।

उक्त प्रकार से अनेकानेक बुद्धिमान् शिष्ट व्यक्तियों की प्रवृत्ति देखी जाती है और सबकी प्रवृत्ति सदैव सफल देखी जाती है इस प्रकार ज्वलन्त रूप से शिष्टाचार रहने के कारण अनुमान प्रमाण अवश्यमेव मान्य है।

धूम अग्नि का व्याप्ति ज्ञान (साहचर्य ज्ञान) प्रत्यक्षात्मक है। महानस (पाक-गृह) आदि अनेकानेक प्रदेशों में धूम के साथ नियमत अग्नि का अस्तित्व प्रत्यक्ष रूपसे देखा जाता है।

वर्तमान काल के देखने योग्य जो धूम और अग्नि हैं उनका उक्त प्रकार के साहचर्य का प्रत्यक्ष ज्ञान होने से ही व्याप्ति ज्ञान प्रत्यक्षात्मक कहा जाता है।

प्रत्यक्षयोग्य धूम-अग्निके साहचर्यका पाकगृह आदि अनेक स्थानोंमें प्रत्यक्ष होनेसे ही भूत, भविष्य कालके जितने धूम-अग्नि हैं, उनका और वर्तमानकालके दूर, व्यवहित अर्थात् जो देखनेमें नहीं आते हैं, उन समस्त धूम-अग्निका भी साहचर्य रहता ही है यह निश्चय सामान्यतः हो जाता है। जिस प्रकार एक गायके स्वरूपको देखनेसे साधारण रूपसे पृथ्वीमण्डलके समस्त गायका ज्ञान हो जाता है।

भूत, भविष्य, दूर, व्यवहित जितने कालान्तर और देशान्तरके धूम-अग्नि हैं, सर्वत्र साहचर्यका प्रत्यक्ष होनेसे ही धूम-अग्निका व्याप्तिज्ञान होता है यह नियम नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षयोग्य जो धूम-अग्नि हैं, उनके साहचर्यका प्रत्यक्ष होना व्याप्तिज्ञानमें अनिवार्य है। पाकगृह आदि प्रत्यक्ष होने योग्य प्रदेशोंमें धूम-अग्निका एकत्र रहना (साहचर्य) प्रत्यक्ष है, उसी आधार पर उन धूम-अग्निका भी एकत्र रहना निश्चित हो जाता है जो प्रत्यक्षरूपसे एकत्र नहीं भी देखे जाते हैं। धूम-अग्निके इस प्रकार निश्चयात्मक व्याप्तिज्ञान रहने पर ही पर्वत आदि प्रदेशोंमें केवल धूम देखकर लोग वहां अग्निका अनुमान कर लेते हैं।

यहां रहस्य यह है कि जिस प्रदेशमें धूमकी सत्ता रहती है उस प्रदेशमें अग्निकी सत्ता रहती ही है, ऐसा न हो तो धूमकी उत्पत्ति अग्निसे नहीं हो सकती है। इस प्रकार अनुकूल तर्क रहनेके कारण धूम-अग्निका व्याप्तिज्ञान (साहचर्यनिर्णय) सर्वसम्मत होता है। नैयायिकोंने कहा है—"धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात् तर्हि वह्निजन्यो न स्यात्" अर्थात् यदि धूम अग्निप्रदेशसे अतिरिक्त प्रदेशमें

रहे सो धूम अग्निसे उत्पन्न होनेवाला नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार पाक गृह आदि प्रदेशोंमें धूम-अग्निका जो व्याप्तिज्ञान है वह प्रत्यक्षात्मक है और भूत, भविष्य, दूर, व्यवहित जो धूम-अग्नि हैं, उनका व्याप्तिज्ञान सामान्यरूपसे हो जाता है, अतः वह ज्ञान मानस प्रत्यक्षात्मक है।

अनुमान प्रमाण चार्वाकको भी मान्य हो जाता है, क्योंकि अनुमान प्रमाण नहीं माननेसे केवल प्रत्यक्ष प्रमाणके सहारे चलनेसे घरेलू *व्यवहार भी नहीं चल सकता है।*

जब चार्वाक घर छोड़ कर अकेला कहीं विदेश चला जाता है तब उसकी स्त्री उसे प्रत्यक्षरूपसे नहीं देखती रहती है, उस समय उसकी स्त्री अपनेको विधवा समझ कर वैधव्य (विधवापन) का आचरण क्यों नहीं कर बैठती है और विदेशस्थ चार्वाक भी 'अब मेरी स्त्री जीवित नहीं है' ऐसा क्यों नहीं समझने लगता है।

किस प्रमाणके द्वारा परस्पर वियोग हो जानेपर भी पत्नी अपने पतिके अस्तित्वका और पति अपनी पत्नीके अस्तित्वका निश्चय कर सकता है, क्योंकि उस समय एक दूसरेको प्रत्यक्षरूपसे नहीं देखता रहता है।

जिस चार्वाकने अपने पितामह (दादा) को नहीं देखा वह कैसे निश्चय कर सकता है कि मेरे पिताजीके भी पिता थे और उन्हींके द्वारा मेरे पिताजीकी उत्पत्ति हुई और जिस चार्वाकने अपने पिताको भी नहीं देखा अर्थात् जिसके गर्भवासके समयमें ही पिताकी मृत्यु हो जाती है, पिताके द्वारा अपने जन्म होनेका निर्णय करना उसके

लिये असंभव है। वह अपनेको स्वयभू (अपने आप उत्पन्न होनेवाला) समझ सकता है, क्योंकि वह प्रत्यक्षको ही मानता है और उसने अपने पिताको प्रत्यक्षरूपसे कभी नहीं देखा है।

जब कोई छोटी अवस्थाका वालक किसी तालाब या गड्ढे अथवा अग्निकुण्डके अत्यन्त निकट चला जाता है तब तालाब आदिमे वालकके गिर जानेके भयसे लोग वालकको गिरनेके पहले ही पकड लेते है।

यद्यपि उस समय वालकका तालाव आदिमे पतन प्रत्यक्ष नहीं है, तथापि निकट भविष्यमें उसके पतनका अनुमान करके ही लोग उसे पकडकर वहासे हटा देते है यह व्यवहार ज्वलन्त रूपसे प्रज्वलित है।

किसी व्यक्तिकी अनेक जगहकी सच्चरित्रता देखकर 'यह मेरा रुपया दे देगा, ऐसा अनुमान करके ही लोग उस सच्चरित्र व्यक्तिके पास रुपया जमा रख देते है।

उक्त प्रकारके दिन-रातके व्यवहार अनुमानके सहारे ही चल रहे है, अत अनुमान प्रमाण सबके लिये मान्य है।

अनुमान प्रमाण सिद्ध हो जानेसे ही उपमान प्रमाण भी मान्य हो जाता है, क्योंकि उसकी प्रणाली भी प्राय अनुमान प्रमाणकी ही तरह है, अतएव कणादने अनुमानमे ही उपमानको आया हुआ समझ कर अनुमानसे अलग उपमान प्रमाणको नहीं माना है।

इसी प्रकार शब्द प्रमाण भी चार्वाकको मान्य है। यदि चार्वाक शब्द प्रमाणको न माने तो यह प्रश्न उठता है कि 'प्रत्यक्ष प्रमाणके

अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं है' इस प्रकारका जो चार्वाकका कथन है वह प्रामाणिक है। अथवा नहीं। यदि प्रामाणिक है, तो चार्वाकके लिये भी शब्दप्रमाण अङ्गीकृत हो जाता है, क्योंकि चार्वाकका भी यह कथन कि 'प्रत्यक्ष प्रमाणके सिवा दूसरा प्रमाण मान्य नहीं है' शब्दरूप ही है, अत उक्त कथनको प्रामाणिक कहनसे शब्द रूप प्रमाण भी अङ्गीकृत हो जाता है। 'प्रत्यक्षके सिवा दूसरा प्रमाण मान्य नहीं है, यह कहना और अपने उक्त कथनको जो शब्द रूप है प्रमाण मानना 'वदतो व्याघात' दोप हो जाता है।

यदि चार्वाकका उक्त कथन प्रमाणिक नहीं है तो प्रत्यक्षके साधक उसके सार वाक्य अप्रमाण हो जाते हैं, क्योंकि वे वाक्य भी शब्दरूप ही हैं। उसके सार वाक्य अप्रमाण हो जानेसे चार्वाकका एक भी वचन मान्य नहीं हो सकता है।

इस प्रकार विवेचन करनेसे निश्चित होता है कि चार्वाक, चार्वाकके आचार्य वृहस्पति और उसके दर्शन "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा" इसी नीतिका सब अनुसरण करते हैं अर्थात् उसके सिद्धान्त माननेसे मनुष्यका अध पतन होना निश्चित है।

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द इन चार प्रमाणोंके अतिरिक्त कई दर्शनमें अनुपलब्धि और अर्थापत्ति भी प्रमाण माने जाते हैं।

चार्वाकसिद्धान्तनिराकरण

चार्वाकका सबसे मुख्य सिद्धान्त देहात्मवाद या शरीरात्मवाद है। वह इसी भौतिक देहको आत्मा मानता है। उसके मतमें इस देहके सिवा कोई दूसरी आत्मा नहीं है इसी धारणाके आधारपर

धर्म, कर्म परलोक, व्रत, नियम आदि सात्त्विक आचरणकी निन्दा करता है। जो कुछ भी चार्वाकका सिद्धान्त है, वह उसकी युक्तियो-पर ही निभर है, अत इस शरीरको आत्मा माननेकी जो उसकी प्रबल युक्तियां हैं वे अकिञ्चित्कर हैं, अत एव वे मान्य नहीं हैं।

"शरीराकारमें परिणत जो भूत विशेष है, उसमे चैतन्य शक्ति रहती है ऐसा कहनेसे शरीरके आरम्भक जो हस्त, पाद आदि अवयवसंघ है, उसमें अथवा शरीरके आरम्भक सार परमाणुओंमें चैतन्यशक्ति है ऐसा ही मानना पडता है, क्योंकि शरीरके मूल कारणमे चैतन्यशक्ति नहीं रहनेसे शरीरमें चैतन्यशक्तिकी उत्पत्ति असम्भव है।

गुड, तण्डुल आदि जिन पदार्थोंसे नशीली मदिरा उत्पन्न होती है, उन पदार्थोंमें प्रत्येकमें नशीली शक्ति या मादकता रहती है।

उक्त प्रकार शरीरके आरम्भक हस्त-पाद आदि अवयवोंमें या शरीरारम्भक परमाणुओंमें चैतन्य शक्ति माननेसे प्रत्येक शरीरके जो हस्त, पाद आदि अनेक अवयव हैं अथवा असंख्य परमाणु हैं, उन सबको ही आत्मा या ज्ञाता मानना पडता है।

इस प्रकार एक २ शरीरमें ज्ञाता या आत्माका बाहुल्य हो जाता है, अर्थात् अनेकानेक आत्माओंका आधार एक शरीर हो जाता है और अनेक ज्ञाताका आधार एक शरीर माननेमें कुछ प्रमाण नहीं है और यह चार्वाकको भी मान्य नहीं हो सकता है।

ज्ञान, सुख, दुःख आदि गुणोंकी व्यवस्थासे ही आत्मा या ज्ञाता के बाहुल्यकी व्यवस्था होती है।

एक आत्माके ज्ञान, सुख, दुःख आदि उत्पन्न होनेसे समस्त

आत्माके ज्ञान, सुख, दुःख आदि उत्पन्न नहीं होते हैं। एक व्यक्तिको जो सुखका अनुभव अथवा दुःखका अनुभव होता है वह दूसरोंको नहीं होता है यह प्रत्यक्ष है।

बुद्ध्यादि गुणव्यवस्था

जिस शरीरके ज्ञाता या आत्माके जो बुद्धि (ज्ञान) सुख, दुःख आदि गुण उत्पन्न होते हैं वे उसी एक शरीरवर्त्ती एक ही ज्ञाता या आत्माके धर्म होते हैं, समस्त शरीरवर्त्ती ज्ञाता या आत्माके धर्म नहीं होते हैं यही बुद्धि आदि गुणोंकी व्यवस्था है।

उक्त बुद्धि आदि गुणोंकी व्यवस्थासे ही विभिन्न शरीरोंमें विभिन्न आत्माओंकी कल्पना की जाती है अर्थात् प्रत्येक शरीरमें अलग अलग आत्मा है ऐसा मानना पड़ता है।

उक्त बुद्धि आदि गुणव्यवस्थाके अतिरिक्त दूसरी कोई युक्ति नहीं है, जो आत्माके बाहुल्यका साधन कर सके।

उक्त नियमसे ही अनन्त शरीरमें अनन्त आत्माकी कल्पना की जाती है।

"एक शरीरमें एक ही आत्मा या ज्ञाता रहता है" ऐसा मानने पर भी जब बुद्धि आदि गुणव्यवस्थाका भंग नहीं होता है तब एक शरीरमें अनेकानेक आत्माका कल्पना करना युक्तिशून्य है।

अनेक आत्माका आधार एक शरीर है, इस विषयमें चार्वाककी कुछ युक्ति नहीं है, क्योंकि उसके मतमे भी उक्त बुद्धि आदि गुण-व्यवस्थासे ही आत्माका विभेद माना जाता है अर्थात् प्रत्येक शरीर

में विभिन्न बुद्धि, सुख, दुःख आदिके अनुभवसे ही प्रत्येक शरीरवर्ती प्रत्येक आत्माकी कल्पना की जाती है।

एक शरीरमे जब सुख-दुःखानुभवका विभेद नहीं होता है तब एक शरीरमें अनेकानेक आत्माओंकी कैसे कल्पनाकी जा सकती है।

शरीरके किसी अवयवमें सुख-दुखजनक पदार्थके सम्बन्ध होनेसे सम्पूर्ण शरीरमे उससे सुख-दुःखका अनुभव होने लगता है।

एक शरीरमे अनेक आत्माओंक कल्पनाकरनेसे एक शरीर पर अनेक आत्माओंका स्वातन्त्र्य हो जानेसे कोई भी काय शरीरके द्वारा नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक आत्माका अभिप्राय दूसरेसे विरुद्ध हो सकता है।

हस्त आत्माका कहीं जानेका विचार होगा तो पाद-आत्मा नहीं जा सकता है इस प्रकार मतभेद रहनेसे शरीरके द्वारा कार्यसम्पादन कैसे हो सकता है ?

काकतालीय न्यायके अनुसार कभी ऐकमत्य (सर्वसमति) होनेपर भी सर्वंब सब कार्योंम ऐकमत्य होना असभव है, अत एक शरीरमे अनेक आत्माकी कल्पनाकरना कथमपि मान्य नहीं हो सकता है।

देहात्मवादमें शरीरको ही चेतन माननेसे बाल्यकालकी अनुभूत वस्तुका युवा या वृद्ध होने पर स्मरण नहीं हो सकता, क्योंकि अन्यकी अनुभूत वस्तुका अन्यको स्मरण नहीं होता है यह नियम है।"इस शरीके ह्रास और वृद्धि नियमत होनेसे पूर्व शरीरका नाश और वहा शरीरान्तरकी उत्पत्ति होती है" ऐसा मानना

ही पडता है, क्योंकि बाल्यकालके शरीरसे युवावस्थाके शरीरका और युवावस्थाके शरीरसे वृद्धावस्थाके शरीरका प्रत्यक्षरूपसे महान् विभेद दीख रहा है।

प्रत्येक अवस्थामें जब शरीरके परिमाण (वजन) का विभेद हो जाता है तब समस्त शरीरको एक शरीर कहना ठीक नहीं, क्योंकि परिमाणके भेद होनेसे वस्तुका विभेद अवश्यमेव हो जाता है। वृद्ध-कालमें बाल्यकालके शरीर नहीं रहनेके कारण उस शरीरका संस्कार भी जब नहीं रह सकता, तो बाल्यकालके दृष्ट वस्तुका वृद्ध कालमें स्मरण कथमपि नही हो सकता है।

इसी प्रकार प्रत्येक दिनके शरीरके ह्रास और वृद्धि (घटाव-बढ़ाव) होनेके कारण शरीरका विभेद हो जानेसे पूव दिनके अनुभूत वस्तुका पर दिनमें स्मरण नहीं हो सकता है।

. शरीरके प्रत्येक :अवयवमें चैतन्यका स्वीकार करनेसे हस्त आदि किसी अवयवके विनाश हो जानेपर उसको अनुभूत वस्तुका स्मरण कथमपि नहीं हो सकता, क्योंकि अनुभवकर्त्ता जो हस्त आदि अवयव है, उनके विनाश हो जानेके कारण तद्गत संस्कारका भी विनाश हो जानेसे संस्कारजन्य स्मरण कैसे हो सकता है। हस्त, पाद आदि किसी अवयवके द्वारा अनुभूत वस्तुका उस अवयव (हस्त-पाद आदि) के विनाश हो जाने पर भी स्मरण होता है, यह चार्वाकको भी मान्य है।

"संसारका विनाश नहीं होता है, किन्तु वहां उत्पन्न होने वाले शरीरान्तरमें उसका संक्रमण (प्रवेश) हो जाता है और उसी

संस्कार के द्वारा शरीरान्तरमें भी पूर्व शरीरकी अनुभूत वस्तुका स्मरण होने लगता है" यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रकार संस्कारका संक्रमण माननेसे माताके संस्कारका भी गर्भस्थ सन्तानमें संक्रमण हो सकता है और उसके द्वारा गर्भस्थ सन्तान भी अपनी माताकी अनुभूत वस्तुका क्यों नहीं स्मरण कर लेती है !

"उपादान कारणका संस्कार ही अपने कार्यमें संक्रान्त (प्रविष्ट) होता है, गर्भस्थ सन्तानका उपादान कारण माता नहीं है, अतः उसका संस्कार सन्तानमें संक्रान्त नहीं होता है" ऐसा कहने पर भी उपर्युक्त दोषका निराकरण करना असंभव है, क्योंकि शरीरके हस्त, पाद आदि किसी अवयवके विनाश होनेपर अवशिष्ट अवयवों-द्वारा वहां जिस शरीरान्तरकी उत्पत्ति मानी जाती है, उस शरीरान्तरका उपादान कारण वह अवयव नहीं है जो विनष्ट हो चुका है तो फिर उस विनष्ट अवयवके संस्कारका शरीरान्तरमें संक्रमण नहीं हो सकता और संक्रमण नहीं होनेसे उस विनष्ट अवयवके द्वारा पूर्व कालमें जो अनुभूत वस्तु है, उसका स्मरण होना असंभव हो जाता है ।

जब कोई हस्त (हाथ) कभी किसी वस्तुका अनुभव करता है और उस अनुभवसे उसमें एक प्रकारका संस्कार उत्पन्न होनेके पश्चात् वह हस्त विनष्ट हो जाता है तब भी उस अनुभूत वस्तुका स्मरण होता है यह सर्वमान्य है ।

"शरीरके प्रत्येक अवयवमें चैतन्य है" इस पक्षको माननेसे

हस्त विनष्ट हो जाने पर अनुभवकर्त्ता हस्त और तद्गत संस्कार कुछ भी नहीं रहनेके कारण पूर्वानुभूत वस्तुका स्मरण होना कथमपि संभव नहीं, क्योंकि संस्कारजन्य स्मरण होता है।

"शरीरके अवयवमे नहीं, किन्तु शरीरके परमाणुमें चैतन्य है" इस द्वितीय पक्षको मानने पर भी दोषोका निराकरण नहीं किया जा सकता है।

यद्यपि परमाणु स्थायीरूपसे रहता है और तद्गत संस्कार भी स्थायीरूपसे रह सकता है, किन्तु परमाणुमे महत्त्व गुण नहीं रहनेके कारण वह अतीन्द्रिय पदार्थ माना जाता है, अत एव परमाणुके रूप आदिका प्रत्यक्ष नहीं होता है। उस अतीन्द्रिय परमाणुमे चैतन्य माननेसे अर्थात् ज्ञान, सुख, दुःख आदि परमाणुके धर्म माननेसे ज्ञान, सुख, दुःख आदिका मानस प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है अर्थात् "मैं जानता हू, मैं सुखी हू, मैं दुःखी हू" इत्यादि रूपसे जो ज्ञान, सुख, दुःख आदिका मानस प्रत्यक्ष होता है वह नहीं हो सकता है, क्योंकि ज्ञान, सुख, दुःख आदि धर्म परमाणुवृत्ति होने और परमाणुके अतीन्द्रिय (प्रत्यक्षके योग्य नहीं) होनेसे ज्ञान, सुख, दुःख आदि धर्मका प्रत्यक्ष होना संभव नहीं।

परमाणुको चेतन मानने पर भी पूर्वोक्त अनुभव-स्मरणका दोष रह जाता है, क्योंकि जो चेतनपरमाणु पूर्वकालमें किसी वस्तुका अनुभव कर चुका है, उस परमाणुका विश्लेषण (अलगाव) हो जानेसे तद्गत संस्कार भी उस परमाणुका किसी प्रकार सहायक नहीं हो सकता है, फिर भी पूर्वानुभूत वस्तुका स्मरण होना असंभव

हो जाता है। जिस हस्तारम्भक परमाणुने किसी वस्तुका अनुभव किया, उस परमाणुके विश्लिष्ट होकर कहीं अन्यत्र चले जानेसे उसकी अनुभूत वस्तुका कैसे स्मरण हो सकता है ? अतः शरीरके आरम्भक परमाणुमें चैतन्य स्वीकार करना यह पक्ष भी ठीक नहीं है।

(न्याय कुसुमांजलि स्तवक १ का० १५ द्रष्टव्य)

उक्त प्रकारकी विचार-परम्परासे निश्चित होता है कि शरीरके आरम्भक प्रत्येक अवयवमें अथवा परमाणुसमूहमें चैतन्य स्वीकार करनेसे एक शरीरमें भी ज्ञाता या आत्माका बाहुल्य हो जाता है और एक शरीरमें आत्माका बाहुल्य स्वीकार करनेसे पूर्वोक्त दोष अनिवार्य हो जाते हैं, अतः उक्त दोनों प्रकारसे भी भूतचैतन्यवादकी रक्षा कथमपि नहीं की जा सकती है, इसलिये चार्वाकके देहात्मवादका प्रलाप दुःस्वप्नमात्र है।

"प्रवृत्ति और निवृत्ति शरीरमें ही दृष्ट होती है, अतः प्रवृत्तिसे इच्छाका और निवृत्तिसे द्वेषका भी शरीरमें ही अनुमान होता है और इच्छा-द्वेषके रहनेसे ज्ञानका भी शरीरमें ही अनुमान किया जाता है" यह कहना देहात्मवादीका तर्कशून्य है, क्योंकि प्रवृत्तिसे किसी प्रकारकी क्रिया और निवृत्तिसे क्रियाका अभाव समझा जाता है।

कुल्हाड़ी आदि अचेतन पदार्थमें भी किसी प्रकारकी क्रिया कभी देखी जाती है, क्योंकि कुल्हाड़ीके द्वारा कभी वृक्षका छेदन किया जाता है और जब नहीं किया जाता है तब क्रियाका अभाव भी देखा जाता है।

इस प्रकार कुल्हाड़ीमे प्रवृत्ति-निवृत्ति रहने पर भी इच्छा, द्वेप और ज्ञान नहीं देखे जाते हैं, अतः प्रवृत्ति-निवृत्तिसे इच्छा-द्वेपका अनुमान नहीं किया जा सकता है।

यदि यह कहा जाय कि प्रवृत्तिसे प्रवृत्तिविशेपका और निवृत्तिसे प्रवृत्ति-विशेपके अभावका मतलब है।

अल्पकालस्थायी कृमि, कीट आदिके शरीरके तथा दीर्घकाल-स्थायी देवता, मनुष्य आदि शरीरके अवयवोंका विलक्षण संयोग रहनेसे प्रवृत्ति विशेपका अनुमान होता है, अर्थात् शरीरके अवयवोंका जो व्यूह या विलक्षण संयोग देखा जाता है, वह अवयव-व्यूह या विलक्षण संयोग घट आदि अचेतन पदार्थोंमें नहीं देखा जाता है, अतः शरीरके आरम्भक परमाणुसमूहमें एक प्रवृत्तिविशेष अनुमित होता है।

जब वह प्रवृत्तिविशेप शरीरके आरम्भक पार्थिव आदि परमाणुसमूहमें उत्पन्न होता है, तब वह परमाणुसमूह शरीरका उत्पादन करता है और वह जब उक्त पार्थिव आदि परमाणु-समूहमें उत्पन्न नहीं होता है तब पार्थिव आदि परमाणुसमूह शरीरका उत्पादन नहीं करता है।

इस प्रकार शरीरारम्भक परमाणुसमूहमें ही प्रवृत्ति-निवृत्तिकी सिद्धि होनेसे उसके कारण इच्छा-द्वेप भी उसीमें रहते हैं यह निर्धारित हो सकता है। इच्छा-द्वेपके रहनेसे चैतन्य भी उसीमें रहता है यह निश्चित है, क्योंकि चैतन्यके विना इच्छा-द्वेप नहीं रह सकते हैं।

उक्त प्रकार प्रवृत्तिसे प्रवृत्तिविशेपका ग्रहण करने पर भी दोषोंका निराकरण नहीं हो सकता है, क्योंकि अवयवोंके विलक्षण संयोग होनेसे ही प्रवृत्तिविशेपकी व्यवस्था की जाती है।

घटके आरम्भक मृत्तिकारूप अवयवोंके विलक्षण संयोग होनेसे उसमें भी प्रवृत्तिविशेपकी कल्पना की जा सकती है, और वालुका (रेत) के अवयवोंके उस प्रकारके विलक्षण संयोग नहीं होनेसे प्रवृत्ति-विशेपके अभावरूप निवृत्तिकी कल्पना की जा सकती है, क्योंकि चूर्ण वालुका (रेत रज) में विलक्षण संयोगके अभाव रहनेके कारण वह किसी अन्य पदार्थका आरम्भक नहीं होता है। इस प्रकार आरम्भस्वरूप प्रवृत्तिविशेपके मृत्तिकामें और उसके अभावस्वरूप निवृत्तिके वालूमें रहनेपर भी न तो मृत्तिकामें किसी प्रकारकी इच्छा और वालूमें किसी प्रकारका द्वेप देखा जाता है, अतः प्रवृत्ति-निवृत्तिके द्वारा इच्छा-द्वेपका अनुमान करना युक्तिविरुद्ध है। इस प्रकार विवेचन करनेसे प्रवृत्ति-निवृत्तिके द्वारा शरीरको आत्मा कहना देहात्मवादीका सर्वथा निर्मूल है।

चार्वाकआक्षेपनिराकरण

चार्वाकका सवसे जवर्दस्त आक्षेप यह है कि यह शरीर ही चेतन है और वही आत्मा है क्योंकि "यद्धियस्मिन्सति भवत्यसति च न भवतितत्तद्धर्मत्वेनाध्यवसीयते यथाग्निधर्मावौष्ण्यप्रकाशौ"। 'शरीरेभावात्' जिसके अस्तित्व रहने पर ही जो वस्तु मालूम पड़े और जिसके अस्तित्व नहीं रहने पर: वह मालूम न पड़े तो वह वस्तु उसीका धर्म होता है, यह निश्चित:है, जैसे उष्णता और प्रकाश ये दोनों अग्नि

के धर्म हैं, क्योंकि अग्निके अस्तित्वमें ही उक्त दोनों धर्म रहते हैं और अग्निके अभावमें उष्णता और प्रकाश कुछ भी नहीं रहता है, अत एव उक्त दोनों धर्म अग्निके माने जाते हैं। शरीरके रहने पर ही आत्माका अस्तित्व देखा जाता है।

प्राण, चेष्टा स्मृतिशक्ति, ज्ञान आदि जो आत्मवादीके मतमें आत्माके धर्म कहे जाते हैं, वे भी देहके भीतर ही उपलब्ध होते हैं। देहके बाहर कहीं भी देखनेमें नहीं आते हैं, अतः वे देहके ही धर्म हो सकते हैं, इससे यह सिद्ध हो जाता है कि यह देह ही आत्मा है, अत एव 'स्थूलोऽहम्' 'गौरोऽहम्' मैं स्थूल हूं, मैं गौर हूं' इस प्रकारका लौकिक व्यवहार दीखनेमें आता है। 'मैं' शब्दसे आत्माका बोध होता हैं, और उसीका विशेषण 'स्थूल' शब्द है।

जो जिसका विशेषण रहता है वह उससे अभिन्न रहता है। 'अहम्' और 'स्थूलः' में जब अभेद है तब यह सिद्ध हो जाता हैं कि देह ही आत्मा है, क्योंकि मोटा होना देहका ही धर्म है यह प्रत्यक्षरूपसे देखनेमें आता है।

आत्मवादीका यह कहना असंगत है कि देहके भीतर आत्मा रहता है और वह देहसे भिन्न वस्तु है, क्योंकि 'कुण्डमे दधि (दही) हैं, इस कथनमें जिस प्रकार दहीका आश्रय कुण्ड (मिट्टीका एक प्रकारका बर्तन) होता है और दही उस कुण्डका आश्रित होता है, इस तरह यदि देहमे आत्मा रहता तो देहसे भिन्न आत्मा प्रमाणित होता, किन्तु यहां तो 'स्थूलोऽहम्' इस प्रकारका कथन विद्वान् लोगोंमें भी हो रहा है और उस कथनसे देहका आत्मासे

अभेद ही प्रतीत होता है। "कुण्डे दधि" इस तरह 'स्थूलोऽहम्' ऐसी प्रतीति कहीं नहीं होती है।

और "आत्माके ही ज्ञान, चेष्टा आदि धर्म हैं किन्तु उसका आश्रय जो देह है, उस देहके साथ: आत्माका अभेदरूपसे ही लोगोंमें 'अहं पश्यामि' इस प्रकारका व्यवहार दृष्ट होता है" यह संगत नहीं है, क्योंकि आश्रितके धर्मके साथ यदि आश्रयका अभेदरूपसे व्यवहार हो तो "सितं मधुरं कुण्डम्' ऐसा भी व्यवहार होना चाहिये। श्वेतरूप और माधुर्य ये दोनों धर्म दहीके हैं और दधिके साथ अभिन्नरूपसे रहते हैं, अत एव 'सितं मधुरं दधि' ऐसा व्यवहार होता है। यदि दधिके धर्मके साथ दधिके आश्रयस्वरूप कुण्ड-का अभेदरूपसे व्यवहार होता तो 'सितं मधुरं कुण्डम्' ऐसी प्रतीति होती किन्तु उक्त प्रतीति कभी नहीं होती है, इसलिये देहसे कोई अलग आत्मा नहीं है। अप्रत्यक्ष जो आत्मा है, अनुमान आदिके द्वारा उसका निर्णय करना असंभव है। जैसा कहा गया है—

देश कालादिरूपाणां भेदाद्भिन्नासु शक्तिषु।
भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरतिदुर्लभा॥

भाव पदार्थोंकी अर्थात् अग्नि आदिकी अनुमानके द्वारा यानी धूम आदि लिङ्गके द्वारा सिद्धि अत्यन्त दुष्कर है, क्योंकि देश काल, अवस्था आदि स्वरूपके विभेद हो जानेसे वस्तुओंकी शक्ति विभिन्न हो जाती है। सारांश यह कि जिस प्रदेशमें धूम-अग्निकी व्याप्तिका निश्चय होता है, उस प्रदेशमें अग्निको धूम-उत्पादन करनेकी शक्ति थी, किन्तु जिस प्रदेशमें अग्निका अनुमान किया

जाता है उस प्रदेशमे अग्निकी वह शक्ति नहीं भी रह सकती है और वह देश, कालके भेदसे धूम-उत्पादक शक्ति नहीं रहनेसे धूमके साथ अग्निका नियमत साहचय भी नहीं कहा जा सकता है, अर्थात् व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता है। व्याप्तिज्ञान नहीं होनेसे अनुमानकी तो कथा करना ही व्यर्थ है।

शब्द प्रमाणके द्वारा भी आत्माकी सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि जहा धूम-अग्निका साहचर्य पाकगृह आदि अनेक प्रदेशोंमें प्रत्यक्षरूपसे दृष्ट है, उस प्रकारके लिङ्गके रहते भी अनुमानकी जब यह दशा होती है तब उससे दुर्बल जो शब्द प्रमाण है उसकी तो कथा ही क्या, क्योंकि 'अगुल्यग्रे हस्तियूथ' अर्थात् अगुलीके अग्रभागमे हाथियोंका सघ है, इस प्रकारके भी शब्द हो सकते हैं, जो प्रत्यक्षके सवथा विरुद्ध है।

अर्थापत्ति प्रमाणके द्वारा भी आत्माका निणय करना असभव है, क्योंकि उसकी शक्ति अत्यन्त परोक्ष वस्तुको जनाती है, अत यह भी प्रत्यक्षव्याप्तिसे रहित है।

उपमान प्रमाणके द्वारा भी आत्माकी सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि 'गो सदृशो गवय' गोकी सदृश गवय पशु होता है यह आप्तजनोंके द्वारा सुन कर वनमे उस प्रकारके पशुको देख कर लोग ऐसी धारणा करते है कि इस पशुके सदृश गाय है तब 'गो सदृशो गवय' इस वचनका स्मरण करते हैं, तब यह निश्चय होता है कि यह पशु गवय है।

इस विषयमें चार्वाकका कथन है कि उक्त प्रकारका सादृश्य,

जिससे वस्तुका निर्णय होता है, सर्वांशमें रहता है ? अथवा किसी एक देशका सादृश्य अपेक्षित है ? सर्वसादृश्य रहनेसे यानी सर्वात्मना यदि सादृश्य कहा जाय तब तो वह एक ही पदार्थ हो सकता है। उपमान और उपमेयका विभेद नहीं हो सकता है, ऐसा कहनेसे तो गोका सादृश्य गो जातिमें रह सकता है, गवय आदिमें नहीं रह सकता है, क्योंकि सर्व-अंशतः गोका सादृश्य, गो जातिसे विभिन्न गवय आदि जातिमें कैसे रह सकता है।

यदि किसी एक देशका सादृश्य अपेक्षित हो तो सबसे सबका सादृश्य हो सकता है, क्योंकि खाना, पीना आदि किसी धर्मसे अथवा हस्त, पाद आदि कुछ अवयवसे सादृश्य सबका सबसे हो सकता है, तब तो उपमेयसे बाहर भी सादृश्य रहनेसे अतिव्याप्ति नामका दोष हो जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्षके द्वारा भी देहसे भिन्न आत्माकी सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रत्यक्षरूपसे घट-पट आदि पदार्थकी तरह आत्मा दिखाई नहीं देता है। अनुमानके द्वारा भी आत्माको प्रमाणित करना दुष्कर है, क्योंकि व्याप्तिज्ञानका निर्णय करना असंभव है। शब्द प्रमाणके द्वारा भी आत्माको साबित नहीं कर सकते, क्योंकि शब्दके द्वारा उस अर्थका भी प्रतिपादन होता है जो असत्य है, असंबद्ध है। आत्माको सिद्ध करनेके लिये अर्थापत्तिप्रमाण भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि उसकी शक्ति अत्यन्त परोक्ष वस्तुओंमें है। उपमान प्रमाणके द्वारा भी आत्माका निर्णय करना असंभव है, क्योंकि वह सर्वसादृश्यमें लागू नहीं हो सकता और एकदेशसादृश्यमें भी लागू नहीं हो सकता है।

चेष्टा शरीरका धर्म है, क्योंकि इष्ट वस्तुकी प्राप्ति और अनिष्ट वस्तुकी निवृत्तिके लिये जो व्यापार किया जाता है, वही चेष्टा है और वह व्यापारविशेष तो शरीरमें ही दृष्ट होता है। प्राण भी शरीरके ही धर्म हैं, क्योंकि श्वास-प्रश्वासरूप प्राण शरीरमें ही दृष्ट होते हैं, उक्त दोनों धर्म बाह्यरूपसे दृष्ट होते हैं।

यद्यपि इच्छा, प्रयत्न आदि आन्तर धर्म हैं, तथापि शरीरके अतिरिक्त कोई आश्रय उनका उपलब्ध (ज्ञात) नहीं होता है, और शरीरके रहने पर ही वे उपलब्ध होते हैं, इसलिये शरीरका आभ्यन्तर प्रदेश उनका आश्रय हो सकता है। ऐसा नहीं माननेसे दृष्टहान-अदृष्टकल्पना अर्थात् प्रत्यक्ष वस्तुका त्याग और अप्रत्यक्ष (परोक्ष) वस्तुकी कल्पना हो जाती है।

सारांश यह कि शरीरके अतिरिक्त किसी आत्मा नामकी 'अप्रत्यक्ष वस्तुकी कल्पना करनेमें कुछ भी प्रमाण नहीं रहनेके कारण शरीरके ही आभ्यन्तर प्रदेश यानी भीतरी प्रदेशमें इच्छा, ज्ञान, प्रयत्न आदि रहते हैं, ऐसी ही कल्पना करना संगत है इसलिये यह शरीर ही इच्छादि गुणोंसे युक्त आत्मा है।

उक्त प्रकारका जो चार्वाकका आक्षेप है, वह सर्वथा युक्ति-विरुद्ध है, क्योंकि प्रत्यक्षसे भिन्न प्रमाणको नहीं माननेवाला चार्वाक किस प्रकार अनुमान आदि की अप्रामाणिकता सिद्ध कर सकता है? प्रत्यक्ष प्रमाणके आधारपर अथवा अनुमान आदि प्रमाणोंके आधारपर, प्रत्यक्षभिन्न प्रमाणोंको यानी अनुमान आदि प्रमाणोंको अमान्य ठहराता है?

प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाणमें तो वस्तुओंके स्वरूपमात्रका ज्ञान करादेनेकी शक्ति है, उसके द्वारा अनुमान आदि की अप्रामाणिकताका कैसे निश्चय हो सकता है।

जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा इन्द्रियार्थसन्निकर्षसे यानी इन्द्रिय-विषयका परस्पर संबन्ध होनेसे धूमका ज्ञान हो जाता है, उस प्रकार इन्द्रिय-विषयका परस्पर सम्बन्ध होनेसे अनुमान आदि की अप्रामाणिकताका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा असंभव है, किन्तु देश, काल, अवस्थाके विभेद होनेसे वस्तुकी सामर्थ्यका भी विभेद हो जाता है, इसलिये धूम-अग्निका जो व्याप्तिज्ञान महानस (पाकगृह) आदि प्रदेशोंमें रहता है, वह देश, काल, अवस्थाके भेद होनेसे दूसरे प्रदेशमें नहीं भी रह सकता है, इस प्रकार व्यभिचारका सन्देह करके अर्थात् धूमके साथ नियमतः अग्निका अस्तित्व नहीं भी रह सकता है, ऐसा सन्देह होनेसे ही अनुमान आदि की अप्रामाणिकताका ज्ञान किया जाता है, यह इतना बडा प्रत्यक्षका व्यापार असंभव है, क्योंकि यह लिङ्ग (साधन) है, यह साध्य है, साधनका साध्यसे यह व्यभिचार है, यह अनुमान आदिकी अप्रामाणिकता है इत्यादि परिच्छेद (अलग अलग स्थापन) करना यह प्रत्यक्षका व्यापार नहीं हो सकता है। अतः प्रत्यक्षके द्वारा अनुमान आदि की अप्रामाणिकता सिद्ध नहीं है।

जिस प्रकार प्रत्यक्षके द्वारा अनुमान आदिकी अप्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती है, उसी प्रकार अनुमान आदिके

द्वारा भी अनुमान आदिकी अप्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती है। अनुमान आदिको अप्रामाणिक सिद्ध करनेके लिये अनुमान आदिका सहारालेना 'वदतो व्याघातः' दोष हो जाता है। इसलिये इच्छा नहीं रहने पर भी चार्वाकको अनुमान आदि प्रमाण अवश्यमेव मान्य हो जाता है।

चार्वाकके मतमें यह भी दोष हो जाता है कि जिसको अनुमान आदिकी प्रामाणिकतामें सन्देह रहता है, उसका ही सन्देह निराकरणकरना बुद्धिमानोंका कार्य है। स्थूलता आदिका जिस प्रकार प्रत्यक्षरूपसे ज्ञान होता है, उस प्रकार प्रत्यक्षरूपसे किसीका सन्देह ज्ञात नहीं हो सकता है, किन्तु वचन तथा चेष्टा आदि लिङ्गोंके द्वारा ही सन्देहका अनुमान किया जा सकता है। जब अनुमान प्रमाण ही चार्वाकको मान्य नहीं है, तब किसीके सन्देह बिना जाने ही किस प्रकार उसके पास अनुमान आदिकी अप्रामाणिकता सिद्ध करनेके लिये चार्वाक अपने शास्त्रों और युक्तियोंका उपयोग कर सकता है। इस प्रकार चार्वाककी लोगोंमें कथाप्रवृत्ति भी असंभव है, क्योंकि किसीके मनोभाव न जान कर कोई भी चार्वाकमतानुयायी आलाप-प्रलाप और समाधान नहीं कर सकता है, क्योंकि मनोभावका प्रत्यक्ष नहीं होता है, वह तो अनुमेय होता है।

पशुकी भी अपने अनुकूल वस्तुमें प्रवृत्ति और प्रतिकूल वस्तुसे निवृत्ति देखी जाती है, क्योंकि कोमल और हरी घास जहां होती है, उस प्रदेशमें उसकी प्रवृत्ति देखी जाती है और कण्टकाकीर्ण भूमिका

परित्याग कर देता है। नास्तिक तो पशुसे भी बढ कर पशु है, जो अपने इष्ट अनिष्टके साधनको भी नहीं जानता है, क्योंकि इष्ट-अनिष्टके साधनका जो निणय होता है, वह अनुमानके द्वारा होता है। 'अयमोदन क्षुन्निवत्तक ओदनत्वान् प्राग मुक्तौदनवत्' यह भात भूखको शान्त करता है, भात होनेके कारण, पहलेके खाये भातकी तरह, इस प्रकारके अनुमानके द्वारा भातमे इष्ट साधनताका ज्ञान होता है, तब लोगोंको भोजनमे प्रवृत्ति होती है। उसी प्रकार प्रतिकूल वस्तुमें अनिष्ट साधनताका ज्ञान अनुमानके द्वारा होता है, तब उससे निवृत्ति होती है।

चार्वाक दूसरको समझानेके लिये शब्दका उच्चारण भी नहीं कर सकता है, क्योंकि शब्दका जो अर्थ है वह प्रत्यक्ष नहीं है, इसलिये चार्वाकका जन्मान्तर न हो, किन्तु इसी जन्ममे मूकत्व (गूगापन) और प्रवृत्ति निवृत्तिका परित्यागरूप महानरक हो जाता है। कहीं वह बोल-चाल तो इसलिये नहीं कर सकता है कि बोल-चालमे,कुछ न कुछ शब्द ही कहे जाते हैं और शब्दके अर्थका तो प्रत्यक्ष नहीं होता है, तब शब्दके अर्थ उसके मतमे मान्य नहीं हो सकते हैं और अर्थ मान्य नहीं होनेसे शब्दका प्रयोग करना ही व्यर्थ है। चार्वाकके लिये सदैव मौन धारण करना ही अपने सिद्धान्तका मानना है।

अनुकूल कार्यमे प्रवृत्ति और प्रतिकूलसे निवृत्ति भी चार्वाककी नहीं हो सकती है, क्योंकि अनुकूलता और प्रतिकूलताका ज्ञान अनुमानके द्वारा होता है और अनुमान तो चार्वाकको मान्य नहीं

है, इस प्रकार गूंगा और निश्चेष्ट होकर चार्वाकको बैठ रहना पडेगा। इससे बढ़कर और नरक क्या होगा।

इस प्रकार चार्वाकको अपनी प्रतिज्ञाका व्याघात, कथा प्रवृत्तिका व्याघात और लोकयात्राका विरोध हो जाता है, अत एव शब्द प्रमाण और अनुमान प्रमाण चार्वाकको भी अवश्यमेव मान्य हो जाता है।

तात्पर्य यह कि कहीं धूम उत्पादनकी शक्तिका अभाव भी अग्निमे हो जा सकता है, अत धूम देख कर अग्निका अनुमान करना ठीक नहीं, यह कहना भी चार्वाकका युक्तिरहित है, क्योंकि प्रतप्त लोह आदिमे अग्निके रहने पर भी धूमका अस्तित्व नहीं रहता है, किन्तु जहा धूम रहता है, वहा तो अग्नि अवश्यमेव रहती है, क्योंकि अग्निसे भिन्न पदार्थसे आज तक धूमकी उत्पत्ति दृष्ट नहीं है, अत यह तर्कसिद्ध है कि जहा धूम होगा, वहाँ अग्नि अवश्य है, यदि अग्नि न हो तो धूमकी प्रतीति भी असम्भव है, अत धूमसे अग्निका अनुमान होता है।

अर्थापत्ति प्रमाण भी मान्य है। यद्यपि अर्थापत्तिमें व्याप्तिज्ञान नहीं होता है, क्योंकि उसका विषय अत्यन्त परोक्ष रहता है, तथापि अन्यथा उसके बिना अनुपपद्यमान (नहीं होनेवाला) स्फोटादि कार्यरूप जो अर्थ है, उसीसे शक्ति आदि विषयकी अर्थापत्ति हो जाता है। साराश यह कि जिसके बिना जिस कार्यका सम्पादन नहीं हो सकता है, उस कार्यसे ही उसकी कल्पना करनी पड़ती है, अत अर्थापत्ति प्रमाण मान्य है। उपमान प्रमाण चार्वाकको भी मान्य हो जाता है, क्योंकि उपमानकी सामग्रीमें सर्वात्मना सादृश्यज्ञान अभिलाषित नहीं है

और न तो किञ्चिन्मात्र सादृश्यज्ञान है अर्थात् उपमान प्रमाणमें सर्वांशके सादृश्यकी जरूरत नहीं है और किसी एकदेशका सादृश्य भी अभिलषित नहीं है, किन्तु अधिकांशका सादृश्य अभिलषित है, वह सादृश्य गो और गवयमें रहता है, इसलिये चार्वाकका अतिव्याप्ति दोष कथमपि नहीं हो सकता है।

इस प्रकार चार्वाकको अनुमान प्रमाण भी मान्य है, शब्द प्रमाण भी मान्य है और अर्थापत्ति तथा उपमान सब प्रमाण मान्य हैं, किन्तु देहसे भिन्न आत्मा है, यह प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा ही ज्ञान होता है। इसमें तो प्रमाणान्तरकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जो सबके लिये प्रत्यक्ष (अहम्) प्रतीति होती है, वही शरीरसे अतिरिक्त आत्माका ज्ञान कराती है, क्योंकि योगव्याघ्र-दशामें यानी योगके द्वारा जब कोई पुरुष व्याघ्र बन जाता है, उस समय उस पुरुषको · ! पुरुष हूं, ऐसा ही निश्चय रहता है। उस समय योगके प्रभावसे व्याघ्र शरीर बनने पर भी मैं व्याघ्र हूं, ऐसा निश्चय नहीं होता है।

जिस समय किसी व्यक्तिके शरीरमें कोई भूत या पिशाच प्रविष्ट हो जाता है, उस समय जो कुछ भी उस व्यक्तिको तकलीफ दी जाती है, वह उसे मालूम नहीं पड़ती है। उस समयकी तकलीफका अनुभव भूत-पिशाचको होता है।

यद्यपि उस समय भी उस व्यक्तिका शरीर है और उसीके शरीरमें तकलीफ दी जाती है, किन्तु दूसरी प्रबल आत्माका प्रवेश होनेसे उस समय उस व्यक्तिके शरीरका अभिमान उसकी

आत्माको नहीं रहता है। जो प्रबल भूत-आत्मा प्रविष्ट होता है, उसको ही उस शरीरमें अभिमान हो जाता है, अतः उस समयके कष्टका अनुभव भी उसी भूत-आत्माको होता है।

इस प्रकारकी प्रत्यक्ष प्रतीतिसे ही यह प्रमाणित हो जाता है, कि इस देहसे अतिरिक्त आत्मा है।

स्वप्नके समय कभी २ ऐसा ज्ञान होने लग जाता है कि वही मैं मनुष्य देवता बन गया, इस प्रकार दूसरे शरीर धारण करनेका अभिमान होने पर भी उसी मनुष्य शरीरवर्त्ती आत्माकी प्रत्यभिज्ञा (दूसरे शरीरमें भी अभिमान) होती रहती है, इससे ज्ञात होता है कि शरीरसे भिन्न आत्मा है।

जिसका धर्म ज्ञान है, वह आत्मा है। देहका धर्म ज्ञान नहीं है, क्योंकि देहके रहने पर भी मृत अवस्थामें (मरने पर) ज्ञान नहीं रहता है, अतः देह आत्मा नहीं है।

यद्यपि संयोग आदि कितने ऐसे भी धर्म देखे जाते हैं, जो अपने धर्मी (आश्रय) के साथ सदैव नहीं भी रहते देखे जाते हैं, कभी रहते हैं, कभी नहीं भी रहते हैं। उन्हे अयावद्देहभावी या अनित्य कह सकते हैं, तथापि चैतन्यको देहके गुण माननेसे विशेष गुण ही मानना पड़ता है। संख्या, परिमाण संयोग आदिकी तरह सामान्य गुण नहीं कहा जा सकता है।

भूत पदार्थ (द्रव्य) के जो विशेष गुण होते हैं, वे तब तक रहते ही हैं, जब तक उनके आश्रयस्वरूप भूत पदार्थ रहते हैं। जैसे किसी घट-पट आदि भूत पदार्थके अस्तित्व काल पर्यन्त

उनके रूप आदि विशेष गुण रहते हैं। ऐसा कहीं नहीं देखा जाता है कि भूत पदार्थ है और वह रूप आदिसे रहित है, अत भूत पदार्थके विशेष गुण जो रूप आदि हैं, उनसे वैधर्म्य यानी विभिन्न स्वभावके होनेके कारण ज्ञान या चैतन्य शरीरका गुण नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार इच्छा, प्रयत्न आदि भी शरीरके विशेष गुण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि मृतावस्थामे शरीरके रहते हुए भी वे नहीं रहते हैं। इसलिये जिस आश्रयके सहारे इतने धर्म दिखाई देते हैं, वह देहसे अतिरिक्त आत्मा है।

सामान्य गुण

जो गुण पृथिवी आदि भूत पदार्थ और आत्मा आदि अभूत पदार्थ दोनोंमे समानरूपसे रहता है, वह सामान्य गुण कहा जाता है। जैसे—सख्या, परिमाण, सयोग आदि सामान्य गुण हैं।

विशेष गुण

जो गुण भूत पदार्थ और अभूत पदार्थ प्रत्येकमे विभिन्नरूपसे भिन्न भिन्न रहता है वह विशेष गुण कहा जाता है। जैसे—पृथिवीके गन्ध, रूप, रस आदि विशेष गुण हैं, जलके रस, रूप स्पर्श आदि विशेष गुण हैं और तेजके रूप आदि, आकाशके शब्द विशेष गुण है और आत्माके इच्छा, प्रयत्न आदि विशेष गुण हैं।

देहका कारण अदृष्ट (धर्म-अधर्मरूप) होता है। उस अदृष्टको भी यदि देहगुण ही माना जाय तो अदृष्ट विशेष गुण ही हो सकता है। भूत पदार्थका विशेष गुण होनेके कारण जब तक आश्रय है, तब तक उसका अस्तित्व आवश्यक हो जाता है, इस प्रकार

मृतावस्थामें भी उस देहके आरम्भक अदृष्टके रहनेसे प्राण आदिका अभाव नहीं होना चाहिये।

'देहविशेषगुणाः स्वपरप्रत्यक्षा विशेषगुणत्वात् यथा रूपादयः' देहके जो विशेष गुण होते हैं, वे अपने और दूसरोंसे प्रत्यक्ष किये जाते हैं, विशेष गुण होनेके कारण, जैसे रूप आदि विशेष गुणका प्रत्यक्ष अपनेसे भी हो सकता है और दूसरोंसे भी होता है, और इच्छा आदिका प्रत्यक्ष तो केवल अपनेसे ही होता है, क्योंकि दूसरोंकी इच्छाका दूसरोंको प्रत्यक्ष होना असंभव है, अतः इच्छा आदि देहके विशेष गुण नहीं हो सकते है, इससे भी यह प्रमाणित हो जाता है कि इच्छा आदिका आश्रय देहसे कोई भिन्न है।

"यह सारा जगत् चार भूतोंका ही परिणाम है, भूतोंसे भिन्न कुछ भी अर्थान्तर नहीं है" चार्वाकका इस प्रकारका कथन युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि भूत-भौतिकका यानी चार भूतोंकी और उसके परिणाम-स्वरूप सारे जगतकी जो उपलब्धि है, वही चैतन्य है, ऐसा कहनेसे तो भूत-भौतिकका चैतन्य धर्म नहीं हो सकता है, क्योंकि जब सारा ही भूत-भौतिक जगत् विषय कहा जाता है, तब विषयके धर्मस्वरूप चैतन्यका भूत-भौतिक यह सारा जगत् कैसे विषय हो सकता है? क्योंकि अपनी आत्मामें व्यापार नहीं किया जाता है यह नियम है। 'अग्निरुष्णः सन् स्वात्मानं न दहति', अग्नि उष्ण होनेसे भी अपनी आत्माको नहीं जलाती है। 'नहि नटः शिक्षितःसन् स्वस्कन्ध-मधिरोक्ष्यति', नट शिक्षित होनेसे भी अपने कन्धे पर नहीं चढेगा, इत्यादि विचारसे धर्मके द्वारा धर्मीका प्रकाश होना असंभव है।

जिस प्रकार रूप आदिके द्वारा अपने रूपका या दूसरेके रूपका प्रकाश (ज्ञान) नहीं होता है, क्योंकि जो विषय (प्रकाश्य) होता है, वह विषयी (प्रकाशक) नहीं हो सकता है। एक पदार्थ एक ही क्रियाका कर्ता और कर्म नहीं हो सकता है। वाह्य और आन्तर जितने भूत और भौतिक पदार्थ हैं, वे सब चैतन्यसे ही प्रकाश्य होते हैं । जिस प्रकार भूत-भौतिक समस्त जगत्‌का प्रकाशक चैतन्यका अस्तित्व माना जाता है, उसी प्रकार भूत-भौतिक समस्त जगत्‌से चैतन्यका व्यतिरेक (विभेद) है, यह भी मानना पड़ता है

शरीरके अस्तित्व रहने पर ही किसीकी उपलब्धि (ज्ञान) होती है और शरीरके अस्तित्व नहीं रहने पर किसीकी भी उपलब्धि नहीं हो सकती है, इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि उपलब्धि (ज्ञान) शरीरका धर्म है, क्योंकि प्रदीप आदि उपकरणके रहने पर ही घट आदिकी उपलब्धि होती है और प्रदीप आदि सामग्रीके नहीं रहने पर उपलब्धि नहीं होती है, इससे उपलब्धि प्रदीप आदिका धर्म है, ऐसा नहीं कहा जाता है। उपलब्धिके लिये जिस प्रकार प्रदीप आदि उपकरण हैं, उसी प्रकार शरीर भी उपलब्धिका उपकरण मात्र है । उपकरण मात्र होनेसे शरीर उसका (उपलब्धिका) धर्मी और वह (उपलब्धि) शरीरका धर्म नहीं हो सकती है।

देहके व्यापारसे उपलब्धि होती है इसलिये देह धर्मी है, यह चार्वाकका कहना कथमपि संगत नहीं है, क्योंकि इस देहके निश्चेष्ट

होने पर तथा स्वप्न समयमे देहके व्यापार नहीं रहने पर भी अनेक प्रकारकी उपलब्धि देखी जाती है, इससे भी यही प्रमाणित होता है, कि देहसे भिन्न आत्मा है।

"इस शरीरका स्वभाव ही ऐसा है, जिससे अलग अलग शरीरमें अलग अलग सुख और दुःख होते रहते हैं" यह कहना भी चार्वाकका युक्तिरहित है, क्योंकि कारणकी समानता रहने पर स्वभाव भी समान ही रहता है। जब कारणमे कुछ तारतम्य (वैषम्य) होता है तभी स्वभावमे तारतम्य (न्यूनाधिक्य) होता है। जैसे तेलके रहनेसे सार दीपोका प्रकाशकरना स्वभाव रहता ही है। बीजोंकी समानता रहने पर अकुर होता ही है। जब बीजोंमे वैषम्य होता है, तब अङ्कुर उत्पन्न करना यह स्वभाव उसका नहीं रहता है, इसलिये सुख-दुःख आदिकी विचित्रताका कारण स्वभाव नहीं कहा जा सकता है।

जिस माता-पिताके रज-वीर्यके समेलनसे एक बार सन्तान उत्पन्न होती है, उसी माता-पिताके समिलित रज-वीर्यसे दूसरी बार सन्तान उत्पन्न नहीं भी होती है, यदि समिलित रज-वीर्यका सन्तान उत्पन्न करनेका स्वभाव ही होता तो प्रत्यक्षमे कुछ भी प्रतिबन्धक नहीं दीखने पर दूसरी बार भी वह स्वभाव क्यों नहीं सफल होता है? क्योंकि जब तक वस्तु रहती है, तब तक उसका स्वभाव रहता ही है। अत सुख-दुःखादि विचित्रताके होनेसे देहसे भिन्न आत्मा है।

चार्वाकके पुरुषार्थका खण्डन

"स्त्रीके आलिङ्गन करने, मिष्टान्न भोजन करने और भी

कर्म या अदृष्टको सुख-दुःखके हेतु माननेसे ही कारणस्वरूप कर्म या अदृष्टकी तीव्रता अथवा मन्दताप्रयुक्त सुख-दुःखकी तीव्रता अथवा मन्दता दृष्ट होती है। कर्म या अदृष्टके उत्कर्प, अपकर्प, नानारूपता, एकरूपताप्रयुक्त ही सुख-दुःखके पूर्वोक्त अनेक भेद सिद्ध होते हैं। सुख-दुःखसंबन्धको कर्मजन्य या अदृष्टजन्य नहीं माननेसे पूर्वोक्तरूपसे सुख-दुःखके विभेद नहीं हो सकते हैं।

साराश यह कि दृष्ट यानी प्रत्यक्षसिद्ध जो सुख-दुःखके विभेद हैं, वे युक्तिरहित हो जाते है, अतः प्रत्यक्षविरोध दोप कहा जाता है।

अनुमानविरोध—मनुष्यको सुख-दुःखकी विचित्रताका जो अनुभव होता है, उसका कारण आत्माका प्रयत्न विशेष है।

जो सुखार्थी मनुष्य सुखकारक वस्तुके लिये प्रयत्न करता है, उसको सुख मिलता है और जो व्यक्ति उसके लिये प्रयत्नशील नहीं देखा जाता, उसे सुख नहीं मिलता है, वैसे ही जो दुःख-परिहारार्थी व्यक्ति दुःखकारक वस्तुका त्याग करनेके लिये प्रयत्नशील है, उसका ही दुःखपरिहार (दुःखकी निवृत्ति) होता है और जो तदर्थ प्रयत्न नहीं करता है, उसका दुःख नहीं हटता है।

यह भी अवश्य मान्य हो जाता है कि अनेक जगह आत्माके प्रयत्न विशेषके विना ही एकाएक सुखकी सामग्री उपस्थित हो जानेसे सुख उत्पन्न हो जाता है और अचानक दुःख निवृत्तिका कारण उपस्थित हो जानेसे दुःखकी निवृत्ति हो जाती है, इसका दृष्टान्त प्रत्येक विचारवान् व्यक्तिके जीवनकालमें उपस्थित होता रहता है।

उस प्रकारके नियम देखनेसे भी उक्त स्थलमें यही निश्चय *किया जाता है कि आत्माके सुख-दुःखका कारण कोई गुणान्तर* ही है, यानी प्रयत्नके सिवा आत्मामें अन्य गुण रहनेके कारण ही विचित्र सुख-दुःखका अनुभव होता है, क्योंकि सुख-दुःखकी व्यवस्था या नियम जब आत्माके प्रयत्नकी व्यवस्थापर निर्भर है यह अन्य जगह निश्चित हो चुका है तब उक्त दृष्टान्तमें विना प्रयत्नके ही, जो आत्माके सुख-दुःखकी व्यवस्था उपलब्ध होती है, वह आत्माके गुणान्तरकी व्यवस्थाप्रयुक्त यानी आत्माके प्रयत्नसे भिन्न अन्य गुणकी व्यवस्थापर ही निर्भर है, यह अनुमान प्रमाणद्वारा सिद्ध होता है।

सारांश यह कि आत्माके गुणविशेषजन्य ही सुख-दुःख और दुःख-निवृत्ति ये सब उपलब्ध होते हैं यह सर्वसंम्मत है।

यद्यपि सर्वत्र अदृष्ट ही ; सुख आदिका व्यवस्थापक है, किन्तु प्रत्यक्ष नहीं रहनेके कारण जो अदृष्टको नहीं मानते हैं, केवल आत्माके प्रयत्न गुणको ही सुख आदिका व्यवस्थापक मानते हैं, उन्हें भी अनेक जगह आत्माके प्रयत्नके विना ही सुख आदिकी

उपलब्धि दीखनेसे यह माननेके लिये बाध्य होना पड़ता है कि आत्माके प्रयत्नके सिवा गुणान्तरप्रयुक्त यानी किसी अन्य गुणके प्रयुक्त सुख आदिकी व्यवस्था होती है।

गुणान्तर या अन्य गुण अदृष्ट ही है। उसका प्रत्यक्ष नहीं होनेसे उसका नाम 'अदृष्ट' है। उसके फलभोगका निर्धारित समय नहीं रहनेसे वह अव्यवस्थित रहता है।

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा प्रभृति आत्मगुणका मानस प्रत्यक्ष होता है और उनका तृतीय क्षणमे विनाश भी हो जाता है, किन्तु यह अदृष्टरूप आत्मगुण अतीन्द्रिय है, यानी उसका मानस प्रत्यक्ष भी नहीं होता है और वह अपने फलभोगपर्यन्त स्थायी रहता है।

किस समय किस अदृष्टका फलभोग होगा, इसका कुछ भी निश्चय नहीं रहता है। कर्म फलके प्रदाता ईश्वरके विना उसके फलभोगके समयको कोई नहीं जानता है, ईश्वरके अनुग्रहसे ही कोई जान सकता है।

नैयायिकशिरोमणि 'उद्योतकर' ने <u>धर्म-अधर्म</u> नामका कर्म उत्पन्न हो कर उसी समय फलप्रदान क्यों नहीं करता है" इस प्रकारके पूर्व पक्ष करके समाधान किया है कि कर्मफलके भोगका कालनियम नहीं है। किसी जगह 'धर्म-अधर्म' कर्म उत्पन्न हो कर शीघ्र ही फल प्रदान करते हैं और किसी जगह अन्य कर्मके फल प्रतिबन्धक हो जानेसे बहुत देरीसे फल मिलता है।

किसी जगह उस कर्मके सहकारी धर्म वा अधर्मरूप अन्य

कारणके नहीं रहनेसे उस समय उस कर्मका फल नहीं मिलता है अथवा उक्त कर्मके सहकारी अन्य कर्मके ही प्रतिबन्धक रहनेसे उक्त कर्मका फल नहीं मिलता है।

'उद्योतकर' ने इस प्रकार अनेक सार तत्त्वकी गवेषणा करके कहा है कि "दुर्विज्ञेयाच कर्मगति, सा न शक्या मनुष्यधर्मणा-व्यवधारयितुम्" अर्थात् कर्मकी गति कठिनतासे जानी जाती है, मनुष्य उसका निर्धारण नहीं कर सकता है।

सारांश यह है कि अदृष्टसे सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं। कोई सुखी और कोई दुःखी है, इस प्रकारकी विभिन्न व्यवस्था भी अदृष्टकी व्यवस्थापर ही निर्भर है यह पूर्वोक्त अनुमान प्रमाणसे सिद्ध हो चुका है, अत जीवके सुख-दुःख संबन्धको जो अदृष्ट-जन्य नहीं मानते हैं, उनका मत अनुमान प्रमाणसे भी विरुद्ध होता है।

आगमविरोध—विहित कर्मोके अनुष्ठान करने और निषिद्ध कर्मोंके त्याग करनेक जो ऋषिगणके उपदेश हैं, यानी शास्त्र है, उन शास्त्रोंका फल प्रवृत्ति और निवृत्ति है। ब्राह्मण आदि चार वर्णोंके तथा ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमोंके विभागके अनुसार विहित कर्मोंके अनुष्ठानमें प्रवृत्ति और निषिद्ध कर्मोंका परित्यागरूप निवृत्ति ही सारे शास्त्रोंका प्रयोजन है।

चार्वाकके मतमें पुण्य-पाप कर्म नहीं हैं, जीवको सुख-दुःखका संबन्ध जब अकर्म-निमित्त अर्थात् पूर्वकृत कर्मजन्य नहीं है, तब समस्त शास्त्रोंका पूर्वोक्त प्रयोजन विरुद्ध हो जाता है, क्योंकि पुण्य-

पाप अथवा धर्म-अधर्म नामके अदृष्ट पदार्थ नहीं माननेसे पूर्वोक्त प्रवृत्ति और निवृत्तिकी व्यवस्था या नियम किसी प्रकार संगत नहीं हो सकता, अकर्त्तव्य कर्मोंमें ही प्रवृत्ति और कर्त्तव्य कर्मोंसे ही निवृत्ति हो सकती है।

सरांश यह कि पूर्वोक्त रूपसे आगम (शास्त्र) के विरोध होनेसे उक्त चार्वाकमत मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि उक्त प्रकारकी प्रवृत्ति और निवृत्तिकी व्यवस्थापालनके लिये चार्वाकको भी शास्त्रोंकी प्रामाणिकता मान्य होती ही है।

धर्म-अधर्मको नहीं माननेसे जगत्‌के सुख-दुःखकी व्यवस्था, नानां प्रकारके भेद, जो प्रत्यक्ष मालूम पड़ते हैं, असंगत हो जाते हैं। शरीर आदिके वैचित्र्यका भी समर्थन नहीं किया जा सकता है।

चार्वाक मतमें जीवगणके अकृत कर्मके ही फल-भोग प्राप्त होनेसे आस्तिक गणकी शास्त्रविहित कर्मोंमें प्रवृत्ति, शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंसे निवृत्ति तथा ऋषिगणके शास्त्रनिर्माण सब व्यर्थ हो जाते हैं और सबके सब व्यर्थ हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

इस प्रकारकी गवेषणा करनेसे निश्चित होता है कि आत्माकी विचित्र शरीरसृष्टि और सुख-दुःखभोग सब अदृष्टजन्य हैं। पूर्व जन्मके कर्मजन्य धर्म-अधर्मरूप अदृष्टके अनुरोधसे ही आत्माको अभिनव शरीर परिग्रह करना पड़ता है और अदृष्टानुसार ही सुख-दुःखका भोग तथा उसकी व्यवस्था होती है।

आत्मा नित्य है और अनादि कालसे ही अदृष्टके अनुरोधसे उसका शरीरपरिग्रह होता चला आया है।

सहस्र वार अदृष्टवादका अकाट्य प्रमाण ज्वलन्तरूपसे जीवनमें उपस्थित होने पर जो नास्तिक उसे देख कर भी नहीं देखते हैं, सत्यको छिपा कर अनेक प्रकारके कुतर्क किया करते हैं और इस अदृष्टवादको नहीं मानते हैं, वे आत्माको नित्य नहीं मानते हैं और नित्य नहीं माननेसे आत्माके पूर्व जन्मकी भी कल्पना नहीं की जा सकती है और पूर्व जन्म नहीं माननेसे नवजात शिशु (बालक) के दुग्धपान-में जो पहली प्रवृत्ति देखी जाती है, वह असभव हो जाती है, क्योंकि पूवजन्मके दुग्धपानमें इष्ट साधनत्वका अनुभव नहीं रहनेसे जन्म लेते ही बालकको दुग्धपान करनेका स्मरण और तदनुसार उसकी दुग्धपानमे प्रवृत्ति कैसे हो सकती है।

हरिणबालक जन्म लेते ही अपनी माके दूध पीनेमे विना किसी-की सहायतासे ही स्वय प्रवृत्त देखा जाता है इत्यादि विचित्रता देखनेसे यह मानना ही पडता है कि आत्मा नित्य है और अनादि कालसे ही आत्माके नानाप्रकार शरीर परिग्रहस्वरूप जन्म होते चले आते हैं। उस आत्माके पूवजन्मके दुग्धपानमे इष्टसाधनताका अनुभव रहनेसे ही उत्तर जन्ममे उसका स्मरण हो कर दुग्धपानमें आत्माकी प्रवृत्ति होती है।

आत्माको नित्य नहीं माननेसे किसी प्रकारकी भी उक्त प्रवृत्ति सगत नहीं हो सकती है। भगवान् शकराचार्यके शिष्य परम ज्ञानी सुरेश्वराचार्यने अपने ग्रन्थमें कहा है—

पूर्वजन्मानुभूतार्थस्मरणान्मृगशावकः।
जननीस्तन्यपानाय स्वयमेव प्रवर्त्तते ॥

तस्मान्निश्चीयते स्थायीत्यात्मा देहान्तरेष्वपि।
स्मृतिं विना न घटते स्तन्यपानं शिशार्यतः॥
(मानसोल्लास ७। ६। ७।)

हरिणका बच्चा पूर्वजन्मके अनुभूत दुग्धपानका स्मरण करके ही माके दूध पीनेमें स्वयं (विना किसीके उपदेश या इसारेसे) प्रवृत्त हो जाता है, इस लिये देहके परिवर्त्तन होने पर भी आत्मा स्थायी रहता है, यह निश्चित होता है, क्योंकि विना स्मरणके बच्चेका दुग्धपान असंभव है।

इस प्रकार विचार करनेसे निश्चित होता है कि परलोक, पारलौकिक सुख और अदृष्ट सब सत्य हैं और परम शान्तिरूप मोक्ष प्राप्त करना हमरा पुरुषार्थ है। लौकिक सुख कथमपि पुरुषार्थ नहीं हो सकता है।

'स्वर्गोऽस्ति वेदबोधितत्वात् कारीर्यादिफलवत्' अर्थात् जिस प्रकार कारीरी यज्ञके द्वारा वृष्टिरूप (वर्षा) फलके प्रत्यक्ष हो जानेसे कारीरी यज्ञ सफल कहा जाता है, उसी प्रकार ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ भी सफल हैं अर्थात् उनका भी स्वर्ग फल, जो पारलौकिक सुखरूप है, निश्चित है, क्योंकि वे सब भी कारीरी यज्ञकी तरह वेदसेही प्रतिपादित होते हैं। उक्त अनुमानके द्वारा स्वर्ग आदि पारलौकिक सुख अवश्यमेव मान्य होते हैं।

'किसी वस्तुके जल जानेसे कुछ भी उत्पन्न नहीं होता है, अतः हवनके द्वारा घृत आदि यज्ञसामग्रीके जल जानेसे स्वर्ग फल कैसे उत्पन्न हो

सकता है।' यह जो चार्वाकका आक्षेप है वह भी असंगत है, क्योंकि वेतस वृक्षके बीजके जल आनेसे, उस जले हुए वेतस बीजसे केलेका वृक्ष उत्पन्न होता है और उससे केला फल उत्पन्न हो जाता है, यह प्रत्यक्षसिद्ध है।

चार्वाकके वर्णाश्रमका खण्डन

ब्राह्मण आदि उत्तम-अधम जातिकी और ब्रह्मचर्य आदि आश्रमकी जो व्यवस्था शास्त्रोंमें की गयी है, वह अवश्यमेव मान्य है, क्योंकि कुछ समय पहले यहा यह प्रणाली थी कि कोई यदि छिपा कर ब्राह्मणका वध कर डालता और कहता कि मैंने ब्राह्मणहत्या नहीं की है, तो लोहको आगमें अच्छी तरह तपा कर जब लोह आगके समान लाल हो जाता, तब उस सन्दिग्ध अभियुक्तके हाथमे उस लोहको रख दिया जाता और अभियुक्तसे प्रतिज्ञा करायी जाती कि मैंने "ब्रह्म-हत्या नहीं की है" यदि अभियुक्त मिथ्या कहता, तब तो उसका हाथ ही जल जाता और यदि उसका वह कथन सत्य रहता तो उसका हाथ नहीं जलता यह जाच यहा कुछ समय पहले होती ही थी, इस समय वर्णाश्रमका प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाता था। जैसा कहा है—

वर्णासंकीर्णतायां वा जात्यलोपेऽन्यथापि वा ।
ब्रह्महादेः परीक्षासु भङ्गमङ्ग प्रमाणय ॥

नैषध सप्तदश सर्ग श्लोक ८६

अथ—अरे चार्वाक। वर्णसकर नहीं होनेके कारण जाति विनष्ट नहीं हुई है, अथवा अन्य प्रकारसे भी जातिका विनाश नहीं

हुआ है इसका निर्णय ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिकी हत्या करनेवाले पुरुषकी परीक्षाके समय प्रत्यक्षरूपसे हो जाता है, अर्थात् अभियुक्तका जैसा पाप प्रबल रहता है, उसी प्रकार उसके अङ्गका भङ्ग तभी हो जाता है। ब्रह्म-हत्या करनेवालेको जैसा कष्ट होता है, उससे कम क्षत्रियकी हत्या करनेवालेको होता है, इस प्रकार जातिके अनुसार कष्ट होता है।

वर्ण-आश्रमके धर्म पालन करनेसे पारलौकिक सुख तो प्राप्त होता ही है, किन्तु जगत्‌की मर्यादाका भी सुचारुरूपसे पालन होता है। लौकिक-पारलौकिक दोनों दृष्टिसे वर्णाश्रम, धर्मका पालन करना अनिवार्य है। भगवानने गीतामें कहा है कि—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः'

गी० अ० ४ श्लोक १३

सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणोंके विभागसे तथा कर्मोंके विभागसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णोंकी ईश्वरने सृष्टि की, अर्थात् अलग-अलग गुण और अलग-अलग कर्म दे कर इनकी सृष्टि की गयी है।

जैसे—ब्राह्मणका केवल सत्त्वगुण प्रधान रहता है और शम, दम, तप आदि ब्राह्मणके कर्म हैं। क्षत्रियका रजोगुण प्रधान रहता है और उस रजोगुणमे सत्त्वगुण, भी गौणरूपसे समिलित रहता है। उनके वीरता, तेज प्रभृति कर्म हैं। वैश्यका भी रजोगुण प्रधान रहता है, किन्तु उस रजोगुणमें गौणरूपसे तमोगुण भी संमिलित रहता है। वैश्यके कृषि, गोरक्षा आदि कर्म हैं। शूद्रका तमोगुण

प्रधान रहता है और उस तमोगुणमें रजोगुण भी गौणरूपसे संमिलित रहता है। शूद्रका केवल सेवा करना ही कर्म कहा गया है।

इस प्रकार चार वर्णोंकी अलग-अलग व्यवस्था दूसरे लोगोंमें नहीं है, इसलिये 'मानुषे लोके' यानी मर्त्य लोकमें ही यह वर्णव्यवस्थाका नियम है।

श्रुतियोंमें कहा है—"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽअजायत" अर्थात् ब्राह्मण इस पुरुषका मुख हुआ, क्षत्रिय दोनों बांह हुए, वैश्य दोनों जंघे हुए और पादसे शूद्र उत्पन्न हुआ। इस चार वर्णोंके द्वारा कितने और भी अन्तराल वर्ण उत्पन्न हुए हैं, उनकी भी अलग-अलग कर्मकी व्यवस्था है। जैसे—वर्णानां सान्तरालानां इत्यादि कहा गया है।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य आदि आश्रमोंकी भी व्यवस्था है। जैसा कहा गया है—"आश्रमादाश्रमं गच्छेदेष धर्मः सनातनः" अर्थात् नियमानुसार एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें प्रविष्ट होना चाहिये यह सनातन धर्म है।

ब्रह्मचर्य आश्रममें रहनेसे विद्याध्ययन, शरीरको हृष्ट-पुष्ट, कार्यक्षम बनाना और शिक्षा आदि गुण प्राप्त किये जाते हैं, उसके बाद गार्हस्थ्य आश्रममें आ कर परलोक और सृष्टिमर्यादाकी रक्षाके लिये पुत्रका उत्पादन किया जाता है। पुत्रके कार्यक्षम होने पर वानप्रस्थ आश्रममें पुत्रको घर-बार सौंप कर अपनी धर्म-भार्याके साथ वनमें या एकान्त, मनोरम स्थानमें जा कर तपस्याके द्वारा दिन-रातके

संघर्षसे अत्यन्त चञ्चल चित्तको शान्त, निश्चल किया जाता है। सन्यास आश्रममें आनेसे तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त किये जाते हैं, वही मनुष्यका सच्चा पुरुषार्थ है।

चार्वाकके मोक्षका खण्डन

"इस स्थूल शरीरका विनाश होना ही मोक्ष है, जिसे सब लोग प्रत्यक्ष रूपसे देखते हैं, इसके सिवा और कुछ भी मोक्ष नहीं है" यह चार्वाकका कहना युक्तियों और शास्त्रोंके सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि लोगोंमें और शास्त्रोंमें चार प्रकारके पुरुषार्थ देखे जाते हैं। जैसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इन चारोंमें मोक्ष परम पुरुषार्थ है, क्योंकि धर्म, अर्थ, काम इन तीनों के द्वारा आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति नहीं देखी जाती है, यानी उनसे समस्त दुःखोंका सर्वदाके लिये विनाश नहीं हो सकता है। उक्त तीनों अनित्य हैं और जो अनित्य होते हैं, वे सदैव सुखप्रद नहीं हो सकते हैं, कभी-कभी उनके निमित्त दुःख उपस्थित हो जाना अवश्यम्भावी है।

प्रथमतः धर्म, अर्थ, काम इन तीनोंको प्राप्त करनेमें दुःख होता है। उनके भोग करनेके समय उनके विनष्ट हो जानेका भय बना रहता है, वह भी दुःख ही है। परिणाममें उनके विनष्ट हो जानेसे महान् दुःख उपस्थित हो जाता है।

जैसे—धर्म प्राप्त करनेके लिये यज्ञ आदि अनेक प्रकारके कर्म करने पड़ते हैं और उन यज्ञ आदि कर्म सम्पादनके लिये धनकी आवश्यकता होती है, किसी तरह धन प्राप्त होने तथा उससे यज्ञ-

आदि धार्मिक अनुष्ठान सम्पादन होने पर स्वर्ग तो प्राप्त होता है, किन्तु उस स्वर्गमें भी अपनेसे उच्च सुखी देवगणको देख कर द्वेषरूप दुःख होता है और उनके सुखको प्राप्त करनेकी इच्छा होने लगती है और उस प्रकारके सुख नहीं मिलनेसे दुःख होने लगता है।

समय पा कर जब वह पुण्य, जो स्वर्गसुखका साधन था, क्षीण हो जाता है, तब वह स्वर्ग सुख भी स्वयं विनष्ट हो जाता है। जिस प्रकार तेल रहने तक प्रदीप जलता रहता है और जब बिल्कुल तेल विनष्ट हो जाता है, तब प्रदीप स्वयं बुझ जाता है, उसी प्रकार पुण्य नष्ट होनेसे फिर वही जीव अनेकानेक योनियोंमें जन्म धारण करते रहते हैं और दुःख भोगते रहते हैं, अतः धर्म भी परम पुरुषार्थ नहीं कहा जा सकता है।

यद्यपि पामर पुरुषोंके लिये निष्कपटभावसे, शुभ कामनासे धर्म प्राप्त करना अनिवार्य है, क्योंकि वे शास्त्र-निषिद्ध कर्मोंमें दिन-रात आसक्त रहते हैं, उन कर्मोंका परित्याग करके उनके लिये यज्ञ आदि धर्म कार्य करना बहुत ही श्रेयस्कर है।

धन प्राप्त करनेमें ही पहले कष्ट होता है, यदि किसी तरह धन प्राप्त भी हो जाता है, तो चोर, डाकू, अग्नि आदिसे उसके विनष्ट हो जानेका सदैव भय बना रहता है और किसी प्रकार धनके खर्च हो जाने पर दुःख होता है। यदि एका-एक सब विनष्ट हो जाय तब तो महान् दुःख होता है। जैसा कहा गया है—

अर्थानामर्जने क्लेशास्तथैव परिपालने।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः॥

अतः अर्थ प्राप्त करना मानव जीवनका परम पुरुषार्थ नहीं कहा जा सकता है।

काम भी परम पुरुषार्थ नहीं है, क्योंकि अञ्जन, मज्जन, भोजन, वस्त्राभूषण, स्त्रीसंभोग आदिकी कामनाका अन्त कभी नहीं हो सकता है और उन पदार्थोंके प्राप्त होनेसे भी वास्तविक तृप्ति नहीं देखी जाती है।

जब शरीरमें किसी प्रकारका रोग रहता है तब तो भोजन आदिमें रुचि ही नहीं होती है और भोजन करने पर भी परिणाममें दुःख ही होता है। जो नीरोग है, यदि वह दरिद्र हो तो उसे सुन्दर भोजन मिलता ही नहीं, और धनवानोंके सुन्दर भोजनको देख कर उससे वह द्वेष करने लग जाता है। इसी प्रकार जो धनवान् भी हैं, वे अपनेसे अधिकाधिक धनवानोंको देख कर उनसे द्वेष करने लग जाते हैं। संसारमें एकसे एक ऊंचा धनवान् विद्यमान है, अपनेसे अधिक सुखी व्यक्तिके सुखको देख कर लोग उसी सुख की कामना करने लग जाते हैं, यह एक प्राकृतिक नियम है और उस सुखके प्राप्त नहीं होनेसे सन्ताप (खेद) होने लग जाता है, जो दुःखमय है। यदि किसी प्रकार वैसा सुख प्राप्त भी हो जाता है, तो फिर अपनेसे अधिक सुखी दूसरे व्यक्ति संसारमें दृष्ट-गोचर होने लगते हैं। संसारमें तारतम्य (न्यूनाधिक्य) सर्वत्र लगा ही रहता है।

स्त्री, पुत्र, धन आदि विषयोंके भोग करनेसे भोग करनेकी कामना निवृत्ति नहीं होती है, किन्तु और भी भोगनेकी कामना ज्यादा बढ़ती जाती है, यही विषय भोगका स्वभाव है। जैसा कहा गया है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
पयसा कृष्णवर्त्मेव वर्द्धते एव केवलम् ।

कामनाके उपभोग करनेसे, कामना शान्त कभी नहीं होती है, जिस प्रकार अग्निमें घृत डालनेसे अग्नि शान्त नहीं होती है, किन्तु और भी प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार कामना भी भोगनेसे बढ़ती जाती है। जो जो कामनाएँ (भोगकी अभिलाषाएँ) उत्पन्न होती हैं, वे सब प्राप्त भी नहीं हो सकती हैं और प्राप्त नहीं होनेसे दुःख होने लगता है।

इस प्रकार विवेचन करनेसे धर्म, अर्थ, काम ये तीनों पुरुषार्थ हो सकते हैं, किन्तु परम पुरुषार्थ नहीं हो सकते हैं। परम पुरुषार्थ तो मोक्ष ही है, क्योंकि वह अटल परमानन्दकी प्राप्ति-रूप है, उससे बढ़ कर कुछ सुख नहीं है और उसका कभी विनाश भी नहीं होता है, वैसे ही सुखको लोग चाहते हैं और दूसरा वैसा सुख कहीं नहीं है, अतः परम आनन्दस्वरूप मोक्षरूप ही परम पुरुषार्थ है। वही मनुष्योंके जीवनकी कमनीय वस्तु है, उस परमानन्दकी प्राप्तिमें प्रतिबन्धक एक अविद्या नामकी विचित्र, दुरूह शक्ति होती है, अतः उस अविद्याका विनाश करना और परमानन्द प्राप्त करना परम पुरुषार्थ है। उससे भिन्न कुछ भी परम पुरुषार्थ नहीं है, जिसके लिये कुछ प्रयत्न किया जाय।

'मरणसे अतिरिक्त दूसरा मोक्ष नहीं है' चार्वाकका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस स्थूल शरीरसे जीवात्मा भिन्न वस्तु है। यह अनेकानेक युक्तियोंके द्वारा सिद्ध कर दिया गया है, और

आत्मा चेतन स्वरूप है और शरीर जड़ है । जो जड़ होता है, वह अनात्मा ही सिद्ध होता है । जैसे घट-पट आदि पदार्थ जड़ होनेसे दूसरोंके द्वारा ही प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार इस शरीरका भी जीवात्मासे ही प्रकाशित होनेके कारण यह शरीर भी जड़ है।

सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि अवस्थामें इस शरीरकी जड़ता प्रत्यक्षरूपसे मालूम पड़ती है। उस समय कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है। शरीर जड़ हो कर ही रहता है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह स्थूल शरीर जड़ है और उससे भिन्न कोई चेतनस्वरूप जीवात्मा है। सुषुप्ति (घोर निद्रा), मूर्च्छा आदि अवस्थामें स्थूल अहंकारके नहीं रहने पर भी स्थूल अहंकारके साथ चेतनका अस्तित्व रहता ही है। वह चेतन स्वतः प्रकाशरूप है। स्थूल अहंकारका रूपान्तर यानी सूक्ष्म अहंकार होना ही सुषुप्ति या मूर्च्छावस्था है। उस अवस्थामें चेतनसे ही उस सूक्ष्म अहंकारका अर्थात् अज्ञानका भान होता है, नहीं तो सुषुप्तिसे उठने पर "एतावन्तं कालमहंकिमपि नाज्ञासिपम्" 'इतने काल तक मैंने कुछ भी नहीं जाना' इस प्रकार अज्ञानका स्मरण नहीं हो सकता, क्योंकि जिसका अनुभव पहले नहीं रहता है, उसका स्मरण कभी नहीं हो सकता है, अतः यह प्रमाणित हो जाता है कि अज्ञानका भी सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि अवस्थामे अनुभव (भान) रहता है, तब उठने पर उसी अनुभूत अज्ञानका स्मरण होता है।

चार्वाकके ईश्वरका खण्डन

'निग्रह-अनुग्रह (दण्ड-रक्षा) से सम्पन्न ईश्वर, राजाके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है' इस प्रकारका चार्वाकका कथन युक्ति-युक्त

नहीं है क्योंकि अनुमान तथा शब्द प्रमाण जब चार्वाकको भी अवश्यमेव मान्य हो गये हैं, तब उक्त दोनो प्रमाणोके द्वारा ईश्वरका अस्तित्व भी अवश्यमेव मान्य हो जाता है। जैसे—'क्षित्यादिक सकर्तृक कार्यत्वात घटवत' यानी पृथिवी आदि पदार्थो का कोई अवश्य कर्त्ता है, कार्य होनेके कारण, यानी उसकी उत्पत्ति और विनाश होनेके कारण, घटकी तरह,। साराश यह कि जिस वस्तुकी उत्पत्ति और विनाश देखा जाता है, वह कार्य है और कार्यका कोई अवश्यमेव कर्त्ता रहता है। जिस प्रकार घटा आदि कार्योंके कुलाल आदि कर्त्ता हैं, उसी प्रकार पृथिवी आदि कार्य का भी कोई न कोई अवश्यमेव कर्त्ता है, क्योकि पृथिवी आदिकी भी उत्पत्ति और विनाश देखा जाता है। कहीं मिट्टी विलुप्त हो जाती है, वहा गड्ढा हो जाता है और कहीं गड्ढा ही मिट्टीसे भर जाता है, इस प्रकार कहीं विनाश और कहीं नवीन मिट्टी आ जानेसे उत्पत्ति देखी जाती है, इस लिये पृथिवी आदि पदाथ भी काय कहे जाते हैं और कार्य होनेसे ही उनका कोई कर्त्ता अवश्यमेव मान्य हो जाता है। जो उनका कर्त्ता है, वही ईश्वर है।

ईश्वरके विषयमें शब्द प्रमाण भी है, जैसे—'स ईक्षत, तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत' उस ईश्वरने सृष्टि करनेकी कामना की। उस जगत् की सृष्टि करके उसीमें प्रविष्ट हुआ आदि श्रुतिप्रमाण हैं। 'ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' आदि स्मृतिप्रमाणोंसे भी ईश्वरका अस्तित्व निश्चित होता है।

चार्वाकका किसी मनुष्यको राजा होनेसे ईश्वर कहना बड़ा ही अनर्गल प्रलाप है, क्योंकि सामान्य मनुष्यकी तरह राजाको भी अनेक प्रकारकी आधि तथा व्याधिजन्य दुःख होते रहते हैं। उनकी भी मृत्यु जब साधारण मनुष्यकी तरह ही आये दिन होती रहती है और भी वज्रपतन आदि दैविक उपद्रव, व्याघ्रादिजन्य भौतिक भय जब समान ही होते हैं, यानी राजा और रंकको आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों उपद्रव प्राय: जब समान ही देखे जाते हैं और सुषुप्तिमे दोनोमें कुछ भी फर्क इस जगत्‌मे ही नहीं देखा जाता है, तब राजाको ईश्वर कहना प्रलाप-मात्र है। जो आज राजा रहता है, कल वही रक हो जाता है, ऐसा भी देखा जाता है इस लिये राजा कभी ईश्वर नहीं हो सकता है।

* तृतीय रत्न समाप्त *

चतुर्थ रत्न

इन्द्रियात्मवाद

१—जिसमें अहं बुद्धि होती है वही आत्मा है, इस सिद्धान्त को प्रायः सब शास्त्रकारोंने माना है और अहं बुद्धि इन्द्रियोंमें देखी जाती है, जैसे—मूकोऽहम्, काणोऽहम्, बधिरोऽहम्, अर्थात् मैं गूंगा हूं, मैं काण हूं, मैं बहिरा हूं इत्यादि व्यवहार सब लोगोंमें, यानी पामरसे लेकर धुरंधरसे धुरंधर पण्डित तक इस प्रकारके व्यवहार दिन-रात करते देखे जाते हैं, अतः इन्द्रिय आत्मा है यही निश्चित होता है, क्योंकि मूकत्व, (गूंगापन) काणत्व आदि धर्म तो वाक्, नेत्र आदि इन्द्रियोंमें ही दृष्ट होते हैं।

२—जिसके रहनेसे जीवनका व्यवहार होता है और जिसके नहीं रहने पर जीवनका व्यवहार नहीं होता है, वही आत्मा है।

इन्द्रियोंके रहते ही जीवन व्यवहार देखा जाता है और इन्द्रियोंके नहीं रहने पर जीवन-व्यवहार नहीं देखा जाता है, अतः इन्द्रिय आत्मा है।

३—इन्द्रियोंकी चेतनता श्रुतिकी गाथासे भी प्रमाणित है, क्योंकि श्रुतिमें यह कथा आती है कि प्राण तथा चक्षु आदि इन्द्रिय अपने-अपनेको इस शरीरमें सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करनेके लिये प्रजा-

पतिके पास गये। इस प्रकारके ज्ञान-क्रियाके व्यवहार इन्द्रियोंके दृष्ट होनेसे इन्द्रियोंमें चैतन्यका अस्तित्त्व प्रमाणित हो जाता है और उससे इन्द्रिय आत्मा है, यह निश्चित होता है।

४—'चक्षु आदि इन्द्रियोंके रहने पर रूप आदि विषयोंका प्रत्यक्ष होता है, अन्यथा प्रत्यक्ष नहीं होता है, इस प्रकारकी इन्द्रियोंकी विषयव्यवस्था रहनेके कारण यानी चक्षुके नहीं रहने पर रूपका प्रत्यक्ष होता नहीं, और चक्षुके रहने पर रूपका प्रत्यक्ष होता है 'यद्य यस्मिन्नसति न भवति सति भवति तस्य तदिति विज्ञायते' जिसके नहीं रहने पर जो नहीं होता है और रहनें पर होता है, वह उसका कार्य है, यानी उससे वह उत्पन्न होता है यह निश्चित होनेसे चक्षु आदि इन्द्रियगण अपने-अपने रूप आदि विषयोके प्रत्यक्षके कर्त्ता हैं ऐसा प्रमाणित होनेसे वही चक्षु आदि इन्द्रिय चेतन हैं, अत वही आत्मा हैं। इन्द्रियसे भिन्न पदार्थको चेतन माननेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

इन्द्रियात्मवादका खण्डन

"जिसमें अह बुद्धि होती है वही आत्मा है और अह बुद्धि इन्द्रियमें होती है, अत इन्द्रिय आत्मा है" यह कहना युक्तिविरुद्ध है, क्योंकि इन्द्रिय तो करण (साधन) है, वह कर्त्ता नहीं है, अत आत्मा नहीं हो सकता। जिस प्रकार लकड़ीके छेदन करनेमें कुठार (कुल्हाडी) कर्त्ता नहीं कहा जाता है, किन्तु छेदन [illegible] करण कहा जाता है, और लक [illegible] करनेवाला

भिन्न होता है, वही छेदनका कर्त्ता कहा जाता है, क्योंकि "स्वतन्त्र.कर्त्ता" जो स्वतन्त्ररूपसे क्रियाका सम्पादन कर सकता है वही कर्त्ता कहा आता है। कुल्हाडी (परसा) स्वतन्त्रतासे यानी विना बढई (लकड़हारा) के सहारे छेदन नहीं कर सकती है, अतः वह उसका करण (साधन) कही जाती है। यद्यपि कुल्हाड़ीके विना भी छेदन नहीं हो सकता है, किन्तु छेदन करना अथवा नहीं करना, थोडा करना या ज्यादा करना यह सब लकडहारे पर ही निर्भर रहता है, कुल्हाडी पर निर्भर नहीं रहता है, अतः छेदनका कर्त्ता बढई कहा जाता है, उसी प्रकार "अहं श्रोत्राभ्या शब्दं शृणोमि, अहं चक्षुषा घटं पश्यामि" में श्रोत्रोंसे (कर्णोंसे) शब्द सुनता हू, नेत्रसे घट देखता हू इत्यादि व्यवहारोंसे श्रोत्र आदि करण (साधन) सिद्ध होते हैं, क्योंकि सुनने और देखने आदि क्रियाके सम्पादनमें आत्मा स्वतन्त्र है और श्रोत्र आदि परतन्त्र हैं। अतः श्रोत्र आदि इन्द्रिय कभी कर्त्ता नहीं है. और कर्त्ता नहीं होनेसे इन्द्रिय आत्मा नहीं है, यही निश्चित होता है।

'मूकोऽहम्' में गूंगा हू इत्यादि व्यवहारासे इन्द्रिय आत्मा है, चार्वाकका यह कहना भी युक्ति-रहित है, क्योंकि मूकत्व आदि धर्म जो आत्मामे प्रतीत होते हैं, वे 'लोहितः स्फटिक.' की तरह भ्रान्त है। जिस प्रकार 'स्फटिक (एक प्रकारका स्वच्छ प्रस्तर) के समीपमे जपापुष्प (लालपुष्प) के रहने और उसके प्रतिविम्ब पडनेसे वह स्फटिक भी लाल दीखता है और 'रक्त.स्फटिकः' इस प्रकारकी प्रतीति होने लगती है। यह प्रतीति औपाधिक (भ्रांत) है, क्योंकि स्फटिक में रक्तिमा (लाली) नहीं होती है, उसी प्रकार इन्द्रियोंके सामीप्य

रहनेसे आत्मामे भी इन्द्रिय-धर्म प्रतीत होते हैं, अत वे भ्रात हैं, क्योंकि मूकत्व आदि आत्माका अपना धर्म नहीं है, इन्द्रियरूप उपाधि–जन्य है, अत इन्द्रिय आत्मा नहीं, 'मम इन्द्रियाणि-मेरी इन्द्रिया' इस प्रकार इन्द्रियोंम ममत्त्व बुद्धि दृष्ट होती है। जिसका ममत्त्व (मेरापन) जिसमें रहता है वह उससे भिन्न ही रहता है। जैसे 'मम वस्त्रम्' मेरा कपडा इत्यादि व्यवहारोंमें भी आत्माका ममत्व वस्त्र आदिमे रहनेसे वस्त्र आदि आत्मासे भिन्न ही होता है, वैसे आत्माका ही इन्द्रियोंमे ममत्व ज्ञात होता है, अत इन्द्रिय कभी आत्मा नहीं हो सकता है।

जिसके रहते जीवन व्यवहार होता है वही आत्मा है और इन्द्रियके रहते ही जीवन व्यवहार देखा जाता है। स्वप्न आदि अवस्थाओंमे इन्द्रियोके अभाव (उपरम) हो जानेसे शरीर-चलन यानी शरीरका जाना-आना, जो चैतन्य-कार्य है, वह नहीं देखा जाता है और इन्द्रियोंके उपरम नहीं होन पर यानी इन्द्रियोंक अस्तित्वमें शरीरका चलना दखा जाता है। इस प्रकारके अन्वय-व्यतिरेक रहनेसे अर्थात् इन्द्रियोके रहनेसे चेतनोचित कायका होना और इन्द्रियोके नहीं रहनेसे चेतनोचित कार्यका न होना, इस प्रकारके कार्य-कारणभावक रहनेसे इन्द्रिया ही आत्मा हैं। उनसे भिन्न आत्मा नहीं है यह भी चार्वाकका कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि लोगोंमें अधे और वहरे भी चेतन पुरुष देखे जाते हैं और उनका भी जीवन-व्यवहार होता है। सुपुप्त अवस्थामें (घोर निद्रामें) एक भी इन्द्रिय नहीं रहती है तब भी जीवन-व्यहार रहता ही है

क्योंकि उस समय भी श्वास-प्रश्वासरूप क्रियाएँ होती ही रहती हैं अतः इन्द्रिय कथमपि आत्मा नहीं हो सकती है।

"ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः" (छांदो० ५ अध्या० १ खण्ड० ७ मंत्र) प्राण और वाग् आदि इन्द्रियोंका प्रजापतिके पास जाना और उनसे प्रश्न करना इस प्रकारकी श्रुतिकी गाथा है, वह इन्द्रियोंके अचेतन होने पर असंभव है, यह एकदेशी चार्वाकका आक्षेप भी असंगत है, क्योंकि इन्द्रिय और प्राणका वह संवाद नहीं है, किन्तु उक्त श्रुतिका उद्देश इन्द्रियोंके देवता और प्राणोंके देवताके संवादसे है। इन्द्रियों और प्राणोंके अधिष्ठाता देवता होते हैं, वे चेतन हैं, अतः उक्त गाथा संगत है।

इन्द्रियोंका उपादान कारण, जो पंचभूतोंके सत्त्व और रजोगुण हैं वे भी जड हैं, अतः उनसे उत्पन्न होने वाली इन्द्रिय भी जड़ है। जिसकी उत्पत्ति होती है वह अनात्मा ही होता है, आत्मा नहीं हो सकता है, अतः इन्द्रिय आत्मा नहीं है, क्योंकि किसी इन्द्रिय के विनाश हो जाने पर शरीरमें आत्माका विनाश नहीं देखा जाता है और कोई विनष्ट इन्द्रिय चिकित्सासे पुनः उत्पन्न हो जाय तो क्या उस समय आत्माकी उत्पत्ति मानी जा सकती है।

इन्द्रिय आत्मा है, चर्वाकके इस कथनमें यह प्रश्न भी उपस्थित होता है, कि क्या एक-एक इन्द्रिय आत्मा है। अथवा सब मिल कर एक आत्मा है।?

एक-एक इंद्रिय अलग-अलग आत्मा है, यह कहने पर एक शरीरमें अनेक इन्द्रिय हैं। स्वतन्त्ररूपसे सब आत्मा हो जानेसे

एक कालमें ही नेत्रको रूप देखनेकी, श्रोत्रको शब्द सुननेकी, जिह्वाको स्वाद लेनेकी प्रवृत्ति हो सकती है। रूप पश्चिम दिशामें है, तो शब्द पूर्व-दिशामें और ग्राह्य पदार्थ उत्तर दिशामें है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न दिशामें भिन्न-भिन्न रूप आदि विषयोंके रहनेसे किस प्रकार कोई भी कार्य हो सकता है, क्योंकि एक कालमें ही एक इन्द्रियको पूर्व दिशामें जानेकी इच्छा और दूसरेको पश्चिम दिशामें जानेकी इच्छा होनेसे शरीरका ही उन्मथन (विनाश) हो जायगा। जिस प्रकार एक साधारण वृक्षमें समान बलशाली अनेक हाथीके बन्धे रहनेसे वह वृक्ष विनष्ट हो जाता है, क्योंकि कोई हाथी पूर्वकी तरफ जोर देता है, तो कोई पश्चिमकी तरफ, इसी प्रकार इन्द्रियोंको अलग-अलग स्वतन्त्ररूपसे आत्मा माननेसे शरीरका ही उच्छेद हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि समानरूपसे शरीरके ऊपर सब इन्द्रियोंकी स्वतन्त्रता नहीं है, किन्तु किसी एककी है, तब तो जिसके अधीन शरीर रहेगा वही आत्मा होगा। एक-एक इन्द्रिय आत्मा नहीं कही जा सकती, क्योंकि एक शरीरमें 'स्वामि-भृत्य न्याय' उपयुक्त नहीं है

चक्षुका भोग्य जो रूप विषय है, उसमें जिह्वाका भोक्तृत्व नहीं देखा जाता है और आत्मा होनेसे उस विषयमें भी उसका भोक्तृत्व रहना अनिवार्य है, इसी प्रकार एक इन्द्रियके विषयमें दूसरे इन्द्रियका भोक्तृत्व नहीं रहनेसे इन्द्रिय कथमपि आत्मा नहीं है यही निश्चित होता है।

समस्त इन्द्रियाँ इकट्ठा हो कर एक कार्यका सम्पादन करती हैं यह कहना भी असंगत है, क्योंकि एक-एक इन्द्रियका अलग-अलग कार्य

सम्पादन करना नियमित है। जैसे श्रोत्र इन्द्रियका शब्द-प्रत्यक्षके साथ अन्वय-व्यतिरेक रहनेसे श्रोत्र इन्द्रियके द्वारा ही शब्दका प्रत्यक्ष हो सकता है, अन्य इन्द्रियके द्वारा शब्दका कथमपि प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, इसी प्रकार रस-प्रत्यक्ष जिह्वा इन्द्रियके द्वारा ही होता है, अन्यसे नहीं हो सकता है। इस तरह अन्वय-व्यतिरेकके माहात्म्यसे प्रत्येक इन्द्रियके विशेषरूपसे भिन्न-भिन्न विषय दृष्ट होते हैं, अतः "सब इन्द्रियां मिल कर एक कार्यका सम्पादन करती हैं" यह कहना अनुचित है। अत एव "जो मैं रूपको देखता था वही मैं अभी शब्दको सुनता हूं" इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञा लोगोंमें देखी जाती है। यद्यपि रूपका देखना नेत्रका धर्म है, शब्दका सुनना श्रोत्रका धर्म है, किन्तु इन्द्रियोंसे अतिरिक्त एक आत्माके रहने और समस्त इन्द्रियोंके कार्यकालमें उसके अस्तित्व रहनेसे उक्त प्रकारकी प्रत्यभिज्ञा (एक प्रकारका ज्ञान) होती है।

समुदायपक्षमें-यानी इन्द्रियोंका संघ ही आत्मा है ऐसा माननेसे अन्ध और मूक होनेसे मृत्यु हो जानी चाहिये, क्योंकि संघमें से कुछ विनष्ट हो गया है अर्थात् इन्द्रियोंके समुदायसे जब नेत्र अथवा श्रोत्र (कर्णेन्द्रिय) का विघात हो जाता है तब उसरूपका यानी नेत्र, श्रोत्र के अस्तित्व कालका जो संघ था उस संघरूप-आत्माका तो विनाश ही हो जाता है, और आत्माके विनाश हो जानेसे अन्ध और मूक व्यक्तिका मरण हो जाना चाहिये। किंतु अन्ध अथवा मूक हो जानेसे ही किसीकी मृत्यु नहीं देखी जाती है, अतः इन्द्रिय-संघ भी आत्मा नहीं है।

स्वप्न समयमें इन्द्रियसंघका अभाव रहता है, अतः उस समय आत्माका अस्तित्व नहीं रहेगा, तब स्वप्नकालमें ज्ञान नहीं होना चाहिये, किन्तु स्वप्नकालमें ज्ञान होता ही है, अतः इन्द्रिय-संघ आत्मा नहीं है। जिस प्रकार मृत्युके समय इन्द्रियोंका विलय हो जाता है, उसी प्रकार स्वप्नकालमें भी इन्द्रियोंका विलय हो जाता है, अतः मरणकी तरह स्वप्नसे भी लोगोंको डरना चाहिये। किंतु मरणकी तरह स्वप्न अवस्थासे लोग डरते नहीं देखे जाते हैं, अतः इन्द्रिय-संघ आत्मा नहीं है यही निश्चित होता है।

एक-एक इन्द्रियको अलग-अलग आत्मा माननेसे यह भी दोष हो जाता है कि कभी अम्लरसयुक्त फलको नेत्रात्मा देखता है, घ्राणात्मा उसकी सुगन्ध लेता है और जिह्वाके द्वारा उसका स्वाद ग्रहण किया जाता है, फिर समय पा कर अम्लफलको दूरसे देखने पर ही जिह्वामें जल भर आता है, यह नहीं होना चाहिये, क्योंकि अम्लफल तो दूरमें है, जिह्वासे उसका संयोग नहीं होता है। केवल नेत्रने ही देखा है, नेत्र इन्द्रियरूप-आत्मा जिह्वा इन्द्रियरूप-आत्मासे भिन्न है, अतः नेत्रके उक्त फलके साथ संयोग होनेसे ही, जिह्वाके साथ संयोग नहीं होने पर भी जिह्वामें पानी भर आना असंभव है, किन्तु पानी भर आता है यह अनुभव सिद्ध है, अतः मानना पडता है कि एक-एक इन्द्रिय आत्मा नहीं है, किन्तु प्रत्येक इन्द्रियके साथ रहनेवाला आत्मा एक है, उसीने अपने साधनभूत नेत्र इन्द्रियसे पहले अम्लफल देखा था, घ्राणेन्द्रियके द्वारा उस आत्माने ही उसकी सुगंध ली, और जिह्वाके द्वारा उसी आत्माने उसके स्वादका अनुभव किया

था, पश्चात् कभी दूसरे अम्लफलको दूरसे नेत्र-द्वारा देख कर ही वह अपने पूर्वके अनुभूत स्वादका स्मरण कर लेता है और उसकी स्मृति होते ही जिह्वामें पानी भर जाता है, अन्यथा अन्यके अनुभूत वस्तुकी अन्यको स्मृति कैसे हो सकती है? देवदत्तके द्वारा देखी गयी वस्तुकी यज्ञदत्तको स्मृति नहीं होती है। स्वादका अनुभव तो नेत्रको नहीं हुआ है, नेत्रने तो देखा है। नेत्रके द्वारा अम्ल-फल देख करके ही जीभमें कैसे पानी भर आता है? इस प्रकार विवेचना करनेसे यह सिद्ध होता है कि एक-एक इन्द्रिय भी आत्मा नहीं है।

प्राणात्म वाद

'अन्योऽन्तरात्मा प्राणमयः' तैत्ति० उप० २ वल्ली २ अनु)

इस शरीरसे अतिरिक्त और इस शरीरके भीतर रहने वाला प्राण ही आत्मा है, क्योंकि प्राणकी स्थितिके हेतु अन्न आदि पदार्थ हैं, उनके नहीं मिलनेसे जब प्राण कृश हो जाता है, तब इन्द्रियोंकी भी अपने-अपने रूप आदि विषयोंमें प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है और प्राणके पुष्ट रहने पर इन्द्रियोंकी भी प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः प्राण ही आत्मा है यह निश्चित होता है, अत एव 'अहं बुभुक्षुः' 'अहं पिपासावान्' मैं भूखा हूं, मैं प्यासा हूं, इत्यादि प्रतीतिके अनुरोधसे भी प्राण ही आत्मा है, यही प्रतीत होता है। क्योंकि भूख-प्यास प्राणके धर्म हैं यह प्रसिद्ध है, क्योंकि अन्न-पानके अभावमें प्राणका विच्छेद हो जाता है। प्राण ही सब इन्द्रियोंका आश्रय भी है, इस लिये प्राण ही आत्मा है।

जाग्रत् अवस्थामें भी प्राणका अस्तित्व रहता है और स्वप्नमें इन्द्रियोंके अस्तित्व नहीं रहने पर भी प्राणका अस्तित्व रहता ही है और सुषुप्तिमें भी श्वास-प्रश्वासरूपसे प्राणकी सत्ता रहती ही है इस लिये प्राण ही आत्मा है।

"जिसके रहनेसे जीवन व्यवहार होता है वही आत्मा है" प्राणके रहनेसे ही जीवन-व्यवहार दीखता है, अतः प्राण ही आत्मा है।

"जिसमे मुख्य प्रीति है वही आत्मा है" समस्त पदार्थोंसे अधिक प्रेम प्राणमें ही देखा जाता है, क्योंकि—

तदेतत्प्रेयः पुत्रात् प्रेयोवित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्म

(बृह० उप० १ अध्या० ४ ब्रा० ८ मन्त्र)

श्रुतियोंमें प्राणको श्रेष्ठ माना गया गया है क्योंकि इन्द्रिय और प्राण प्रजापतिके पास गये, उनसे पूछा कि कौन श्रेष्ठ है ? ऐसा पूछने पर प्रजापतिने उत्तर दिया कि जिसके नहीं रहनेसे शरीर कायम न रह सके, वही आत्मा है, सब इन्द्रियोंके एक-एक करके शरीरसे निकलने पर भी शरीर कायम ही रहा, किंतु जब प्राण शरीरसे निकला तब निश्चेष्ट हो कर पृथिवी पर शरीर गिर गया इस लिये प्राण ही श्रेष्ठ है यह श्रुतियोंमे प्रसिद्ध है, अतः सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण प्राण ही आत्मा है।

प्राणात्मवादका खण्डन

'अन्योऽन्तरात्मा मनोमयः' 'अन्योऽन्तरात्मा विज्ञानमयः'

प्राणसे भिन्न प्राणसे भी सूक्ष्म मनरूप आत्मा है। मनसे भिन्न मनसे भी सूक्ष्म विज्ञानरूप आत्मा है इत्यादि श्रुतियोंसे प्राण आदिसे भिन्न आत्मा है यह भी मालूम पड़ता है।

"जिसमें अहं बुद्धि होती है वहीं आत्मा है सही, किन्तु अहं बुद्धि प्राणमें होती है यह असंगत है, क्योंकि "सब कुछ लेने पर भी मेरा प्राण मत लो" ऐसे लौकिक व्यवहारोंसे ही यह सिद्ध हो जाता है कि प्राणसे आत्मा भिन्न है। "मेरा वस्त्र" इस कथनमें जिस प्रकार वस्त्रसे आत्मा भिन्न है, उसी प्रकार, 'मेरा प्राण' इस कथनमें भी आत्मासे भिन्न प्राण प्रतीत होता है, क्योंकि प्राणमें भी ममत्व बुद्धि (मेरापन) प्रतीत होती है, किन्तु मैं प्राण हूं, इस प्रकारकी अहं बुद्धि प्राणमें नहीं होती है।

'अहं बुभुक्षुः' इत्यादि प्रतीति भ्रान्त है। जिस प्रकार स्फटिक मणिके निकटमें जपापुष्पके रहनेसे उस पुष्पकी लाली स्फटिकमें ज्ञात होने लगती है। लोगोंकी दृष्टिमें 'रक्त-स्फटिक' लाल रंगका स्फटिक है, ऐसा मालूम पड़ने लगता है। स्फटिक शुक्ल रंगका होता है और जपा पुष्प लाल रंगका होता है, उसी प्रकार आत्माके निकट प्राणोंके रहनेसे प्राण-धर्म जो भूख-प्यास हैं, वे आत्मामें प्रतीत होने लगते हैं, वे आत्मामें भ्रम-जन्य हैं, अतः प्राण आत्मा नहीं है।

प्राणके रहनेसे जीवन-व्यवहार होता है, अत. प्राण आत्मा है, यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि समाधि-अवस्थामें प्राणके निरोध रहने पर भी जीवन-व्यवहार दृष्ट होता है, अत. प्राण आत्मा नहीं है। यद्यपि सर्वथा प्राणोंका अभाव समाधि-अवस्थामें भी नहीं होता है, क्योंकि उस अवस्थामें भी सूक्ष्मरूपसे प्राणका अस्तित्व शरीरमें रहता है। शरीरसे जीवात्माके निकलने पर ही जीवन-व्यवहारका अभाव होता है, किन्तु सृष्टिका यह एक

ऐसा नियम है कि जीवात्मा जब इस शरीरसे निकलता है तब प्राणके साथ ही निकलता है, जिस प्रकार कोई पुरुष घोड़े पर बैठ कर बाहर निकलता है, उसी प्रकार यह जीवात्मा प्राण पर स्थित हो कर निकलता है। दृष्टान्तमे जैसे पुरुषके साथ घोड़ाको भी निकलना ही पड़ता है वैसे शरीरसे जीवात्माके साथ प्राणको भी निकलना ही पड़ता है। इतनेसे ही यानी पुरुषके साथ घोड़ेकी तरह जीवात्माके साथ प्राणके निकलनेसे ही प्राण जीवात्मा नहीं हो सकता है।

प्राण आत्मा नहीं है, क्योंकि आत्मा चैतन्यरूप और प्राण जडरूप है, क्योंकि प्राणोंकी उत्पत्ति पंच महाभूतोंके रजोगुणसे होती है। पंच महाभूत तथा उनके गुण सब जड़ हैं, अतः उनके कार्य होनेसे प्राण भी जड ही हो सकता है। प्राण जड़ है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति होती है, जैसे घटकी उत्पत्ति होनेसे घट भी जड होता है। उक्त प्रकारके अनुमानसे भी प्राणकी जडता ही सिद्ध होती है।

कोई व्यक्ति जब घोर निद्रामे सुषुप्त रहता है तब भी प्राण जागता ही रहता है, यानी श्वास-प्रश्वासरूप प्राणका अस्तित्व जाग्रत् अवस्थाकी तरह ही रहता है। उस समयके किये गये मान-अपमानसे उस व्यक्तिको कुछ भी राग-द्वेष नहीं होता है यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है। यदि प्राण ही आत्मा होता, तो प्राणरूप आत्माके उस समय जाग्रत् रहने पर अवश्यमेव मान-अपमानसे राग-द्वेष होता, किन्तु उस समय राग-द्वेष नहीं होता है, अतः प्राण आत्मा नहीं है।

उस समय "पुरुष (जीवात्मा) सुषुप्त है" इस प्रकारका व्यवहार लोगोंमें भी दृष्ट होता है, और सुषुप्तिमे प्राण तो जाग्रत्से भी अधिक

वेगसे चलता रहता है, अतः वह तो जागृत ही रहता है और आत्माके जागृत रहनेसे सांसारिक व्यवहार होना चाहिये किन्तु सुषुप्तिमें सांसारिक व्यवहार नहीं होता है इसलिये प्राण आत्मा नहीं है। 'जिसमें मुख्य प्रीति हो, यानी परम प्रेमास्पद जो है, वही आत्मा है। सबसे अधिक प्रिय होनेके कारण परम प्रेमास्पद प्राण ही है यह कहना भी संगत नहीं है, क्योंकि आत्माके संबन्धी जो पदार्थ हैं, उनमें प्रेम होता है, किन्तु उन पदार्थोंमें भी जो-जो आत्माके जैसे सन्निहित (समीपवर्ती) रहते हैं, वैसे ही न्यूनाधिकरूपसे उनमें प्रेम लोगोंका होता है। इस प्रकार बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा आभ्यन्तर (समीपवर्ती) पदार्थोंमें अधिक प्रेम होना स्वभाविक है। अपने पुत्रके मित्रमें भी प्रेम होता है, क्योंकि वह भी परम्परासे आत्माका संबन्धी है, किन्तु उसकी अपेक्षा पुत्रमें अधिक प्रीति होती है और पुत्रसे भी अधिक प्रेम अपने स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरमें होता है। उन दोनों शरीरोंमें भी स्थूल शरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म शरीरमें अधिक प्रेम रहता है, क्योंकि स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्म शरीर आत्माके अधिक समीपवर्ती है। आत्माका आभास सूक्ष्म प्राणादिमय शरीरमें है और किसीमें नहीं है। सूक्ष्म शरीर द्वारा आत्माका स्थूल शरीर आदिमें सम्बन्ध है, अतः वे प्रेमास्पद हैं, किन्तु प्राण तो परम प्रेमास्पद होनेसे आत्मा ही है। आत्माके संबन्ध रहनेसे सांसारिक अन्य पदार्थोंमें प्रेम होता है, अतः आत्मामें ही मुख्य प्रीति है, अन्य पदार्थोंमें नहीं।

जिस प्रकार पुत्रके मित्रमें पुत्रके संबन्धसे प्रीति अतः पुत्रमें मुख्य है,

प्रीति है और पुत्रके मित्रमें मुख्य प्रीति नहीं है, उसी तरह आत्माके सबन्ध होनेके कारण अन्यमें जो प्रीति है, वह मुख्य नहीं है, किन्तु आत्मामें मुख्य प्रीति है।

श्रुतिके इन्द्रिय-प्राण-सवादमे जो प्राणकी श्रेष्ठता कही गयी है, वह प्राणके देवताके उद्देशसे कही गयी है, यानी प्राणके देवता तो चेतन हैं, उन्हे श्रेष्ठ कहनेमें श्रुतिका तात्पर्य है।

प्राण अन्न-जलके अधीन रहता है, यानी अन्न खाने, जल पीनेसे ही प्राणका अस्तित्व रहता है। लगातार उपवास करनेसे प्राणका विच्छेद हो जाता है यह प्रत्यक्ष है, और आत्मा किसीके अधीन नहीं है अतः प्राण आत्मा नहीं है।

> 'प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं
> बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा।
> स ईयतेऽमृतो यत्र कामं
> हिरण्मयः पुरुषःएक हंसः॥

(बृहदारण्यकान्तर्गत ज्योतिर्ब्राह्मण श्रुति १२)

प्राणके द्वारा अवर-(निकृष्ट) ।कुलाय :(पृथिवीमे लीन होने वाला) यानी यह जो स्थूल शरीर है, उसकी रक्षा करता हुआ स्वयं अमृतरूप असङ्ग आत्मा एक है इत्यादिरूपसे श्रुति भगवती स्वयं आत्माको प्राणोंसे भिन्न कथन करती है। विवेकी पुरुष उसका अनुभव भी करते हैं, क्योंकि प्राण

सदैव चलता रहता है, अतः क्रियावान् है और आत्मा अचल है, सब का साक्षी है। 'निष्कलं निष्क्रियं' इत्यादि श्रुतिने भी आत्माको निष्क्रिय कहा है।

'प्राणो नात्मा भवितुमर्हति, करणत्वात्, कुठारवत्' प्राण आत्मा होनेके योग्य नहीं, क्योंकि वह करण (सहायक) है, कुठारकी तरह, यानी जिस प्रकार कुल्हाड़ी बढ़ईके सहायक होनेसे बढ़ई नहीं हो सकती है, इसी प्रकार प्राण भी आत्माके सहायक होनेसे आत्मा नहीं कहला सकता है। असंप्रज्ञात समाधिमें निःशेषरूपसे प्राणोंका लय हो जाता है, तथापि स्वप्रकाशरूप आत्माका भान होता ही है, अतः प्राण कथमपि आत्मा नहीं है।

भगवान् शंकराचार्यने अपने 'विवेकचूड़ामणि' नामके ग्रन्थमें कहा है कि—

> नैवात्मापि प्राणमयो वायुविकारो-
> गन्ता वायुवदन्तर्बहिरेपः।
> यस्मात्किञ्चित्क्वापि न वेत्तीष्टमनिष्टं।
> स्वं वान्यं वा किञ्चन नित्यं परतन्त्रः ॥(१६६)

प्राणमय कोश वायुका विकार है। वायुके सदृश अन्तर्बाह्य गमन-आगमन करता है और कभी कोई इष्ट-अनिष्ट और अपना-पराया कुछ नहीं जानता है। वह सदा परतन्त्र है, इस लिये वह कभी, आत्मा नहीं हो सकता है, इस प्रकार विवेचन करनेसे प्रत्यक्ष, अनुमान

और शब्द इन सब प्रमाणोंसे यही निश्चित होता है कि प्राण आत्मा नहीं है।

मन आत्मवाद

आत्माके साधक जो हेतु कहे गये हैं, वे सब मनमे लागू होते हैं, अतः मन ही आत्मा हो सकता है, क्योंकि रूप आदि सारे विषयोंके ज्ञान होनेमे मन करण कहा जाता है, यानी चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियोंकी सहायकता रहने पर भी मनके द्वारा ही समस्त विषयोंका ज्ञान होता है। अतः मन 'सब-विषय' कहा जाता है। चक्षु आदि इन्द्रियोंकी तरह विषयका नियम (पाबन्दी) मनमे नहीं देखा जाता है, यानी जिस प्रकार चक्षु इन्द्रियसे केवल रूपवान् पदार्थका ज्ञान होता है, श्रोत्र इन्द्रियसे केवल शब्द सुना जाता है, जिह्वासे रसका ही ग्रहण किया जाता है, उस प्रकार मनसे किसी एक या दो विषयोंका ही ज्ञान नहीं होता है, किन्तु समस्त विषयोंका ज्ञान मनके द्वारा होता है, अतः मन सब विषयोंका ज्ञाता सिद्ध होता है। जैसा कहा गया है—

"मनो हि हेतुः सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्त्तने"
"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः"

(भगवद्गीता)

गौतम-सिद्धान्तमें मन नित्य है, अतः अनुभव कालसे लेकर स्मरण काल तक उसकी सत्ता माननेमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं रहनेके कारण मनको आत्मा माननेसे स्मरण या प्रत्यभिज्ञामें भी किसी प्रकारकी बाधा नहीं हो सकती है, इस लिये देहात्मवाद अथवा

इन्द्रियात्मवाद या प्राणात्मवादमें जितने विरोध, आपत्ति, आक्षेप किये गये थे, मनको आत्मा माननेसे वे सब निवृत्त हो जाते हैं।

जिस हेतु-समुदायके बलसे आत्मा देह और चक्षु आदि इन्द्रियोंसे विभिन्न पदार्थ सिद्ध होता है, मनको आत्मा माननेमें वे सब हेतु मनमें लागू पड़ जाते हैं, अत एव मनसे अतिरिक्त आत्माका स्वीकार करना आवश्यक नहीं है और युक्ति-युक्त भी नहीं है।

'अन्योऽन्तरात्मा मनोमयः' (तैत्ति० उप २ वल्ली, ३ अनुवाक्) प्राणमय कोशसे भी सूक्ष्म जो मनोमय कोश है, वही आत्मा है, यानी स्थूल शरीरसे अन्तर (सूक्ष्म) इन्द्रिय है, इन्द्रियोंसे सूक्ष्म प्राण है और प्राणसे भी सूक्ष्म मन है। इस प्रकार श्रुतिमें सबसे सूक्ष्म कहे जानेके कारण मन ही आत्मा है।

मनके सुप्त होने पर चक्षु आदि इन्द्रियोंके अभाव हो जानेसे और 'अहं संकल्पवान्' 'अहं विकल्पवान्' इत्यादि अनुभवसे मन ही आत्मा है यही सिद्ध होता है, क्योंकि संकल्प-विकल्प मनका धर्म है यह प्रसिद्ध है। जब समस्त इन्द्रियोंका व्यापार निवृत्त हो जाता है। श्वास-प्रश्वासके सिवा प्राणोंका भी अन्य सारा व्यापार शान्त रहता है, तब केवल मनसे ही यानी बिना किसी इन्द्रियोंकी सहायतासे ही स्वप्न अवस्थामें ज्ञान होता रहता है, उसी तरह स्मृतिज्ञान भी केवल मनके द्वारा होता है, इस प्रकारके विवेचनसे मन ही ज्ञाता अथवा मन्ता है और जो ज्ञाता है वही आत्मा है यह सब-संमत है। मन्ता या ज्ञाता होनेके कारण ही इसको 'मन' कहा जाता है।

सुषुप्ति अवस्थासे उठने पर जाग्रत् अवस्थामे सुषुप्ति और सुषुप्तिके सुख दोनोका स्मरण केवल मनके द्वारा ही होता है, अत मन ही आत्मा है ।

जिधर मन सलग्न रहता है, उसका ही ज्ञान होता है और जिस विषयमे मन सलग्न नहीं रहता है, उसका ज्ञान नहीं होता है। दूसरी तरफ मन रहनेसे "तुमसे कहे वाक्योका मुझको स्पष्ट ज्ञान नहीं हुआ" इस प्रकारका लोगोमे व्यवहार भी देखा जाता है, अत किसी पदार्थका निश्चयात्मक ज्ञान होना तथा इच्छा आदि सब मनके अधीन हैं, यह अनुभवसिद्ध है, अत मन ही आत्मा है।

मन-आत्मवादका खण्डन

ज्ञातासे अतिरिक्त उसके ज्ञानके साधन होते हैं ऐसा तो मन-आत्मा वादीको भी मानना ही पडता है और ऐसा मान कर मनको आत्मा अथवा ज्ञाता कहनेसे केवल नामका भेद मात्र कहा जाता है। पदार्थमें कुछ भी विभेद नहीं होता है ।

कहनेका तात्पर्य यह कि ज्ञाता अथवा आत्माको जितने ज्ञान होते हैं, सबका कोई न कोई साधन अथवा करण है यह सवसम्मत है। जैसे—आत्माको रूपका जो ज्ञान होता है, उसका साधन (करण) चक्षु है। रस-ज्ञानका साधन रसना (जिह्वा) है स्पर्श-ज्ञानका साधन त्वक् इन्द्रिय है। शब्द-ज्ञानका श्रोत्र है। प्रत्येक ज्ञानका कोई न कोई साधन अवश्यमेव होता है। रूप आदिके ज्ञानका साधनस्वरूप चक्षु आदि इन्द्रिय-समुदाय जिस प्रकार माना

जाता है, उसी प्रकार सुख-दुःख आदिके ज्ञानका और स्मरण रूप ज्ञानका भी कोई न कोई साधन अथवा करण अवश्यमेव मान्य है।

किसी साधनके विना ही यदि सुखादि-ज्ञान अथवा स्मरण होना आपत्ति-जनक न हो, तो रूप आदिका ज्ञान भी चक्षु आदि साधनके विना ही सपन्न होना चाहिये।

साधनके विना ज्ञानकी उत्पत्ति माननेसे समस्त इन्द्रियोंका विच्छेद हो जाता है, अथवा चक्षु आदि इन्द्रियवर्ग ही निरर्थक हो जाता है। वस्तुतः साधनके विना रूप आदिका ज्ञान नहीं हो सकता, इसी लिये चक्षु आदि इन्द्रिय-सघ माना जाता है। यदि रूप आदि विषयोंके ज्ञानमें इन्द्रिय-सघ उपयोगी नहीं होता तो वह कभी नहीं माना जाता, अत एव आत्माको जो सुखादिका ज्ञान होता है और स्मरण होता है, उसका साधनस्वरूप कोई एक अन्तःकरण अथवा अन्तरिन्द्रिय अवश्य स्वीकार्य है, उसी स्वीकृत अन्तःकरण अथवा अन्तरिन्द्रियको 'मन' कहते हैं।

न्याय दर्शनके भाष्यकारने मनको 'मति-साधन' कहा है। मति-शब्दका तात्पर्य स्मृति और अनुमानादि ज्ञानसे है तथा सुख दुःखादि-ज्ञानसे है। यद्यपि स्मृतिज्ञान संस्कार-जन्य है, अत उसका कारण सस्कार ही है और अनुमान-ज्ञान भी लिङ्ग-जन्य है, तथापि जन्य ज्ञान होनेके कारण रूप आदिके ज्ञानकी तरह वह भी किसी न किसी इन्द्रिय-जन्य ही हो सकता है, क्योंकि समस्त जन्य ज्ञान इन्द्रिय-जन्य होता है, जैसे—रूप आदिका ज्ञान इन्द्रिय-जन्य है, क्योंकि वह भी जन्य ज्ञान है।

इस प्रकार विवेचन करनेसे सुख-दुःखादिका ज्ञान, स्मृति तथा अनुमान-ज्ञानके कारणस्वरूप चक्षु आदि इन्द्रियोंसे अतिरिक्त 'मन' नामका एक अन्तरिन्द्रिय अवश्य मान्य है।

चक्षु आदि इन्द्रियोंके नहीं रहने पर भी सुख-दुखादि ज्ञान, स्मृति और अनुमान-ज्ञान उत्पन्न होते हैं, अत स्मृतिज्ञान, अनुमान-ज्ञान और सुख-दुःखादि-ज्ञान चक्षु आदि इन्द्रिय-जन्य नहीं कहे जा सकते हैं। वास्तवमे तो सुख-दुःखादिका जो प्रत्यक्षज्ञान होता है, उसीका साक्षात् साधन अथवा करण 'मन' है।

जिस प्रकार भी माना जाय, सुख-दुखादि-ज्ञान, स्मृति और अनुमान-ज्ञानरूप "मति" मात्रका साधनस्वरूप कोई अन्तरिन्द्रिय आवश्यक है। उक्त प्रकारकी मतिके साधन होनेसे उसका नाम मन है।

उस मनके द्वारा मति (मनन) कर्त्ता ज्ञाता उससे अतिरिक्त है, अत उसका नाम मन्ता है।

जिस प्रकार रूप आदिके ज्ञान-कालमें ज्ञाता और रूप आदिके ज्ञानके साधनस्वरूप चक्षु आदि इन्द्रिय विभिन्न माने जाते हैं, उसी प्रकार इस मतिके कर्त्तास्वरूप मन्ता और उसका करण (मति-साधन) अन्तरिन्द्रिय विभिन्न रूपसे ही माने जा सकते हैं और उक्त प्रकार आत्मा और मति-साधन इन दोनो पदार्थोंके माननेसे केवल उनके नाममात्रका ही विवाद है। पदार्थमे किसी प्रकारका विवाद नहीं रह जाता है, क्योंकि ज्ञाता अथवा मन्तास्वरूपसे किसी पदार्थको स्वीकार करके उसको 'आत्मा' नामसे नहीं कह कर 'मन' नामसे प्रतिपादन

किया जाता है और इसी तरह ज्ञातासे अतिरिक्त मति-साधन होता है यह मान करके भी उसको 'मन' नामसे नहीं कह कर किसी दूसरे नामसे प्रतिपादन किया जाता है।

साराश यह कि मन्ता और मतिका साधन इन दो वस्तुओंको स्वीकार करके यदि उनका किसी प्रकारका दूसरा ही नाम रख दिया जाता है, तो उससे मूल सिद्धान्तकी किसी प्रकारकी क्षति नहीं हो सकती है। पदार्थमें विवाद नहीं रहनेसे सिर्फ सज्ञाका विभेद होनेसे भी कोई विवाद नहीं कहा जा सकता है।

कहनेका तात्पर्य यह कि मन जब मति-साधन है और अन्तरिन्द्रिय स्वरूप है तब वह ज्ञाता अथवा मन्ता नहीं हो सकता है। ज्ञाता अथवा मन्ता उससे अतिरिक्त पदार्थ है यही प्रमाणित होता है, अतः मन ज्ञाता या आत्मा नहीं है।

प्रश्न—रूप आदि बाह्य विषय हैं और ज्ञाताको बाह्य विषयाके ज्ञानके ही साधनकी जरूरत है, किन्तु मतिके साधनस्वरूप अन्तरिन्द्रियकी आवश्यकता नहीं है, अर्थात् सुख-दुःखादिप्रत्यक्षका कोई साधन (करण) नहीं है। सुख-दुःख आदिके आन्तर प्रत्यक्ष होनेसे करणके बिना ही ज्ञाता अथवा मन्ता सुख-दुःख आदिका प्रत्यक्ष करता है, अतः सुख-दुःखादिके प्रत्यक्षका करणस्वरूप 'मन' नामका जो अतिरिक्त पदार्थ स्वीकृत होता है, उसीको सुख-दुःखादिके कर्त्ता माननेसे वही ज्ञाता अथवा मन्ता हो सकता है, और इससे भिन्न और कोई आत्मा नहीं है, ऐसा होनेसे मन्ता और मति-साधन इन दो पदार्थोंके स्वीकार करनेकी कोई आवश्यकता

नहीं होती है, तब यह जो कहा गया है कि "पदार्थमें कुछ विवाद नहीं है, केवल संज्ञाका भेद है" यह बात नहीं है, क्योंकि मनसे अतिरिक्त कोई ज्ञाता अथवा आत्मा है यह साबित नहीं होता है।

समाधान—"रूपादि बाह्य विषयोंके ज्ञानके ही साधन मान्य है, किन्तु सुख-दुःखादि-प्रत्यक्षका कोई साधन अथवा करण मान्य नहीं है" इस कथनमें अनुमान अथवा अन्य प्रमाण कुछ नहीं है और कुछ भी प्रमाण नहीं रहनेके कारण पूर्वोक्त नियम यानी ज्ञाताको बाह्य विषयोंके ज्ञानके लिये ही साधनकी आवश्यकता है, किन्तु सुख-दुःखादि-ज्ञानके लिये साधनकी आवश्यकता नहीं है, यह नियम स्वीकृत नहीं हो सकता है, किन्तु इसके विपरीत सुख-दुःखादि-प्रत्यक्षका करण (साधन) है, यानी करणके द्वारा ही सुख-दुःखादिका प्रत्यक्षात्मक ज्ञान ज्ञाताको होता है। यह अनुमान प्रमाणसे सिद्ध है । जैसे—सुख-दुःखादि-साक्षात्कारः सकरणकः जन्य साक्षात्कारत्वात्, रूपादिवत्।

चक्षुके द्वारा गन्धके प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं होनेके कारण गन्ध-ज्ञान होनेके लिये जिस प्रकार चक्षुसे अतिरिक्त घ्राण नामका करण मान्य होता है, और उसी तरह रसना (जिह्वा) प्रभृति भिन्न-भिन्न करण माने जाते हैं, उसी प्रकार रूप आदि बाह्य विषयोंसे भिन्न जो सुख-दुःख आदि आन्तर पदार्थ है, उन पदार्थोंके प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होनेके लिये भी कोई अतिरिक्त करण मानना ही पड़ता है, क्योंकि चक्षुरादि बहिरिन्द्रिय-द्वारा सुखादिका प्रत्यक्ष नहीं होनेसे सुखादिका करण अन्तरिन्द्रिय ही हो सकता है।

एक समयमें चाक्षुष, घ्राणज आदि अनेक ज्ञान नहीं होनेके कारण 'मन' नामका अति सूक्ष्म अन्तरिन्द्रिय माना जाता है। अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे एक समयमें एकसे अधिक इन्द्रियके साथ मनका संयोग नहीं होनेके कारण एकसे अधिक ज्ञान नहीं होता है।

साराश यह कि सुख-दुःखादि-प्रत्यक्षकी करणस्वरूपता मनकी सिद्ध हो जानेके कारण मन ज्ञाता अथवा आत्मा कथमपि नहीं हो सकता है।

परमाणुकी तरह अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे भी मन ज्ञाता या आत्मा नहीं हो सकता है, क्योंकि इस प्रकारके अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थको ज्ञानके आधार माननेसे उसमें ज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, ज्ञानका जो आश्रय या आधार होता है, उसमें महत्त्व या महत् परिमाण नहीं माननेसे ज्ञानका प्रत्यक्ष होना संभव नहीं है, क्योंकि जितने जन्य प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होते हैं, सबमें महत् परिमाण कारण होता है, यानी. महत् परिमाण रहनेसे ही जन्य ज्ञानका प्रत्यक्ष होता है यह नियम है, नहीं तो परमाणु अथवा परमाणु-वर्ती रूप आदिका भी प्रत्यक्ष होता। उस अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थमें महत् परिमाण नहीं रहनेके कारण ही उसका अथवा उसके रूपका प्रत्यक्ष नहीं होता है।

मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, मैं जानता हूं, इस प्रकार जब सुख-दुःख, ज्ञान आदिका प्रत्यक्ष होता है, तब उनका आश्रय अथवा आधार जो द्रव्य होगा उसमें महत्परिणामकी सत्ता माननी ही पड़ती है। मनमें महत् परिमाणकी सत्ता स्वीकार करके और उसे ज्ञाता (आत्मा) मान कर उससे अतिरिक्त किसी अन्तरिन्द्रियके नहीं माननेसे

ज्ञानका क्रम यानी एक समयमे एक ही ज्ञान होना यह क्रम नहीं रह सकता है।

क्रम-भग होनेसे एक समयमे ही अनेक इन्द्रिय-जन्य अनेक ज्ञान हो सकते हैं, किन्तु एक समयमे नाना इन्द्रिय-जन्य नाना ज्ञान नहीं होते है यह अनुभवसिद्ध है, अत एव सुख-दु ख आदिके प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होनेमे करणस्वरूप स्वीकृत मन ज्ञाता अथवा आत्मा नहीं हो सकता है, किन्तु ज्ञाता या आत्मा मनसे अतिरिक्त पदाथ है यही सिद्ध होता है।

जितने आत्माके विशेप गुण होत हैं, वे इन्द्रिय-जन्य ही होते हैं, यह अनुमान-सिद्ध है। जेसे—गन्धादिका जो प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है वह आत्म-विशेप गुण है और वह इन्द्रिय-जन्य ही होता है। स्मृति प्रभृति आत्म-विशेप गुण जब बहिरिन्द्रिय-जन्य नहीं होते हैं, तब उनका एक कोई करण अन्तरिन्द्रिय अवश्य है, उसीका नाम 'मन' है, अत स्मृति प्रभृति मनके अनुमापक (अनुमति-साधक) सिद्ध
।

साराश यह कि गन्ध-ज्ञान, रस-ज्ञान, प्रभृति नाना जातीय प्रत्यक्ष एक समयमे नहीं होता है यह अनुभवसिद्ध है । गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द इन्हीं पाच विपयोको बाह्य जगत् कहते हैं। उनका जो प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है वही बाह्य प्रत्यक्ष कहा जाता है। घ्राण (नासिका) आदि जो पाच इन्द्रिय हैं, वे बाह्य प्रत्यक्षके मुख्य कारण हैं, किन्तु घ्राण आदिके अतिरिक्त भी एक सहकारी कारण बाह्य प्रत्यक्षका आवश्यक है। उसी सहकारी कारणके साथ जब घ्राणादि

इन्द्रियोंका संयोग होता है, तभी गन्धादि विषयोंका प्रत्यक्ष होता है और जब उस सहकारी कारणका संयोग इन्द्रियके साथ नहीं रहता है, तब इन्द्रिय और विषयका सन्निकर्ष (संबन्ध) होने पर भी यानी प्रत्यक्षकी अन्य सामग्री रहने पर भी विषयोंका प्रत्यक्ष नहीं होता है। एक ही समयमें घ्राणादि अनेक इन्द्रियोंका गन्धादि अनेक विषयोंके साथ सन्निकर्ष होने पर भी एक ही समयमें गन्धादि नाना (अनेक) विषयोंका जो नाना प्रत्यक्ष नहीं होते हैं उसका एकमात्र यही कारण है कि उस सहकारी कारणका संयोग नाना इन्द्रियोंके साथ नहीं रहता है, क्योंकि वह सहकारी कारण परमाणुकी तरह अत्यन्त सूक्ष्म है। उसी सहकारी कारणका नाम 'मन' है। परमाणुकी तरह वह अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण एक ही समयमें किसी एक इन्द्रियके सिवा दूसरी इन्द्रियोंसे संयुक्त नहीं हो सकता है। कुछ क्षणके विलम्ब होने पर ही द्रुत वेगसे एक इन्द्रियसे अन्य इन्द्रियोंमें जा सकता है, अत एव, एक समयमें नाना प्रत्यक्ष नहीं होते हैं। भिन्न-भिन्न क्षणमें भिन्न-भिन्न प्रत्यक्ष होता है।

इस प्रकार विवेचनसे मन अणुपरिमाण है, अतः वह अव्यापी सिद्ध होता है और आत्मा विश्वव्यापी है।

'अहं-बुद्धि' मनमें होती है यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि 'प्रसन्नं मे मनः' मेरा मन प्रसन्न है, इस प्रकारके व्यवहार रहनेसे मनमें ममत्व बुद्धि ज्ञात होती है और जिसमें ममत्व बुद्धि रहती है वह आत्मासे भिन्न ही पदार्थ निश्चित होता है। 'मैं मन हूँ' इस प्रकारका व्यवहार दृष्ट नहीं होता है।

'अहं संकल्प-विकल्पवान्' में संकल्प-विकल्पवान् हू, इस प्रकार व्यवहार दृष्ट होनेसे यह कहना कि संकल्प-विकल्प तो मनका धर्म प्रसिद्ध है और उक्त प्रतीतिसे संकल्प-विकल्प आत्मामे प्रतीत होता है, अतः मन ही आत्मा हो सकता है यह ठीक नहीं, क्योंकि उक्त प्रतीति भ्रान्त है, जिस प्रकार 'लोहितः स्फटिकः' यह प्रतीति भ्रान्त है। संकल्प-विकल्प आदि मनके धर्म है, किन्तु आत्माके समीप मनकी अवस्थिति रहनेसे मनके धर्म आत्मामें भासित होने लगते है, इसी भ्रम-पूर्ण ज्ञान होनेके आधार पर लोगोंमे 'अहं संकल्प-विकल्पवान' यह प्रतीति होती है।

"मनके अधीन ही शरीर, इन्द्रिय, प्राण आदि है, मन किसीके अधीन नहीं है, अतः मन स्वतन्त्र है और स्वतन्त्र ही आत्मा होता है, मनके सावधान रहनेसे ज्ञान आदि स्पष्ट रूपसे भासित होते हैं" यह कहना भी युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि मनकी उत्पत्ति पंच महाभूतोंके सम्मिलित सत्त्वगुणसे होती है।

'भूतेभ्य इति नाना प्रकृतीनामेषा सता विषयनियमो नैकप्रकृतीना, सति च विषय-नियमे स्वविषयग्रहणलक्षणत्वं भवतीति,

(वात्स्यायन भाष्य)

सांख्य मतमें एक अहङ्कारसे ही समस्त इन्द्रियोंकी उत्पत्ति मानी गयी है, किन्तु वैसा माननेसे इन्द्रियोंकी जो विषय-व्यवस्था है, उसका विच्छेद हो जाता है। जैसे गन्ध घ्राणेन्द्रियका ही विषय है, अन्य इन्द्रियोंका विषय नहीं है, क्योंकि गन्धके अधिकरणस्वरूप पृथिवीसे ही उसकी उत्पत्ति मानी गयी है। रूप चक्षुरिन्द्रियका ही विषय है,

अन्य इन्द्रियका विषय नहीं है, क्योंकि रूपके अधिकरण स्वरूप तेजसे ही उसकी उत्पत्ति है। इसी तरह सुख-दुःख आदि मनके ही विषय हैं, अन्यके नहीं, क्योंकि सुख-दुःख आदि आन्तर धर्मके अधिकरण स्वरूप आन्तर वस्तुसे ही उसकी उत्पत्ति होती है।

उक्त प्रकार समस्त इन्द्रियोंका जो विषय-नियम है अर्थात् अपना-अपना जो नियमित विषय है उसका व्याघात हो जाता है और इन्द्रिय-संघकी पृथिवी, जल, तेज प्रभृति विजातीय भिन्न-भिन्न उपादानसे उत्पत्ति मानने पर उक्त विषय-नियमका उच्छेद नहीं होता है।

साराश यह है कि इन्द्रियकी विषय-व्यवस्थाके अनुरोधसे ही 'भूतेभ्यः' इस प्रकारके शब्द द्वारा समस्त इन्द्रियोंको भौतिक कहा गया है।

इस प्रकार सुख-दुःखके कारण स्वरूप मनके अन्तरिन्द्रिय होनेके कारण भौतिकता सिद्ध हो जाती है और भौतिक होनेसे वह जड हो जाता है, क्योंकि उसका कारण पंच भूत ही जब जड हैं तब उनका कार्य तो जड होगा ही। आत्मा उसके विरोधी चेतनस्वरूप है। जड पदार्थ अपना या दूसरोंका प्रकाश नहीं कर सकता है किन्तु चेतनके प्रकाशसे ही प्रकाशित होता है। जडस्वरूप मन चेतनात्मासे प्रकाशित हो कर भी इन्द्रियोंको, प्राण आदिको तथा स्थूल शरीरको विशेष रूपसे चैतन्य-पूर्ण किये रहता है।

चैतनात्माके प्रकाशके विना मन कभी इन्द्रिय, प्राण आदिका प्रकाश नहीं कर सकता है, क्योंकि मन स्वतः जड है। जड पदार्थ

उत्पत्ति-विनाशवान् होता है, और जो उत्पत्ति-विनाशवान होता है वह अनात्मा ही होता है अतः मन अनात्मा है, आत्मा नहीं है ।

सुषुप्ति अवस्थामें मनका लय हो जाता है तब भी ज्ञान रहता है, क्योंकि सुषुप्तिसे उठने पर "मैं सुखसे सोया कुछ भी नहीं जाना", इस प्रकारकी स्मृति होती है । सुषुप्तिमें यदि सुखका तथा अज्ञानका अनुभव नहीं होता तो जागने पर उसका स्मरण कैसे होता ? जो अनुभूत नहीं रहता है उसका कभी स्मरण नहीं होता है यह नियम है ।

उक्त प्रकारके विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि सुषुप्तिमें मनके लय होने पर भी चेतनात्मासे ही सुखका तथा अज्ञानका प्रकाश होता रहता है और उस प्रकारके प्रकाशरूप अनुभवके रहने पर ही पश्चात् जाग्रत् अवस्थामें उसका स्मरण होता है, अतः मन चेतनात्मा नहीं हो सकता है ।

"अन्योऽन्तरात्मा मनोमयः" इस प्रकारकी मनको आत्मा सिद्ध करनेवाली जो श्रुति है, उसका तात्पर्य मनको आत्मा कथनमें नहीं है, किन्तु, 'अरुन्धती-दर्शन' न्यायसे आत्माके समीप रहनेवाले मनको बतला कर पुनः उसका निषेध करके वास्तव आत्माका बोध कराया जाता है । जिस प्रकार अरुन्धती नामके अति सूक्ष्म तारेको दिखलानेके लिये उसके समीप बड़े तारेको दिखला कर अरुन्धतीका तारा बतलाया जाता है । उसी प्रकार आत्मारूप अतिसूक्ष्म पदार्थको बतलाने के लिये उसके समीपवर्ती मनको बतला कर पश्चात् उसका भी निषेध कर दिया गया है और आगे कहा गया है कि "अन्योऽन्तरात्मा

विज्ञानमयः" इस प्रकार उसके विपरीत भी अनेक श्रुतिया उपलब्ध होती हैं। उक्त प्रकारकी अनेक श्रुतियोके उपलब्ध होनेसे यही निश्चित होता है कि तादात्म्याध्याससे ही आत्माको मनोमय कहा गया है, अतः आध्यासिक होनेके कारण वह मान्य नहीं हो सकता है।

विपय-वासना-रहित और विपय-वासनासे युक्त होनेके कारण मन शुद्ध और अशुद्ध रूपसे दो प्रकारका होता है और आत्मा नित्य, शुद्धस्वरूप एक ही प्रकारका होता है।

"मन एव मनुष्याणा कारणं वन्धमोक्षयोः" इससे यही सावित होता है कि आत्माको वन्ध-मोक्ष प्राप्त कराने वाला मन है। जिस प्रकार आत्माको विपय-ज्ञान कराने वाली चक्षुरादि इन्द्रिया हैं, उसी प्रकार मन भी आत्माको सुख-दु:खादिका ज्ञान कराने वाला साधन है, अतः मन आत्मा नहीं हो सकता है।

असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्य च क्रिया

(मनुसंहिता अध्याय ११ श्लो० ६६)

असच्छास्त्राधिगमनमाकरेष्वधिकारिता

(याज्ञवल्क संहिता अ० ३ श्लो० २४१)

असच्छास्त्राणि चार्वाकग्रन्थाः यत्र न प्रमाणं वेदः, न कर्मफल-संबंधमापद्यते। (मेधातिथि)

श्रुतिस्मृतिविरुद्धशास्त्रशिक्षणम् (कुल्लूक भट्ट)

चार्वाकके मतमें देहादि-संघात (देहादि-समुदाय) से अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है। देहादि-संघ ही आत्मा है इसको सिद्ध

करनेके लिये कुत्सित युक्ति और अनुभवका सहारा लिया गया है। उसमें किसीका मत है कि यह स्थूल देह ही आत्मा है। उससे कुछ अधिक बुद्धिमानका कहना है—कि स्थूल देह तो आत्मा नहीं है, किन्तु चक्षु आदि इन्द्रिय आत्मा है। उससे कुछ अधिक बुद्धिमानका कथन है कि इन्द्रिय भी आत्मा नहीं है, किन्तु प्राण आत्मा है। उससे भी कुछ अधिक बुद्धिमानकी धारणा है कि प्राण भी आत्मा नहीं है, किन्तु मन आत्मा है। ये सबके-सब चार्वाक ही है, क्योंकि देहादि-सघके अन्तगत ही इन्द्रिय, प्राण, मन आदि भी हैं और देहादि-संघ आत्मा है यह चार्वाक ही मानता है। चार्वाक और चार्वाकके एक देशी (चार्वाकके एक प्रकारके भेद) के ही उक्त समस्त मत हैं, अतः देहात्मवाद-खण्डन, इन्द्रियात्मवाद-खण्डन, प्राणात्मवाद-खण्डन और मनआत्मवाद-खण्डन ये सब खण्डन चार्वाक मतके ही खण्डन हैं।

* मन आत्मवादका खण्डन समाप्त *

॥ चतुर्थ रत्न समाप्त ॥

पञ्चम रत्न

—०:०:०—

❀ बौद्ध मत प्रारम्भ ❀

—:०:—

बौद्धोंके लिङ्ग (चिन्ह)

चामर धारण करना, मौण्ड्य—बालोंको कटा लेना, कमण्डलु धारण करना, कृत्ति यानी मृगचर्म धारण करना ये सब बौद्धोंके लिङ्ग हैं।

बौद्धके वेष

किसी गैरिक धातुओंसे रंगे हुए घ गुल्फ यानी एँड़ी तक वस्त्र। धारण करना उनके वेष है।

बौद्धोंके आचार

ब्रह्मचर्य, आदि अपनी क्रियामें खूब दृढ़ रहना उनका आचार है। भिक्षामें, पात्रमें आये हुए सब अन्न शुद्ध ही हैं यह समझ कर बौद्ध लोग मास भी खाते हैं।

बौद्धोंके चार तत्त्व

दुःख-समुदय-मार्ग-निरोध ये चार तत्त्व हैं। दुःखतत्त्वका कारणभूत समुदय तत्त्व है।

दुःख

दुःखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पंच प्रकीर्तिताः ।
विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च ॥

एक स्थानसे दूसरे स्थानमें अथवा एक पदार्थसे दूसरे पदार्थमें आने वाले जो पांच स्कन्ध है, वे सचेतन या अचेतन परमाणु-समुदाय विशेष है, वे ही दुःख रूप है। उनके नाम हैं—रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार।

समुदय

समुदेति यतो लोके रागादीनां गणोऽखिलः
आत्मात्मीयभावाख्यः समुदयः स उदाहृतः ।

जिससे लोगोंमें समस्त राग-द्वेष आदि दोष उत्पन्न होते हैं। वह समुदय है।

यहां आत्मा और आत्मीय शब्द उपलक्षण है अर्थात् यह दूसरा है और यह दूसरेका है, इस प्रकारका जो भाव है जिससे राग-द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं।

दुःख और समुदय तत्त्व तो संसारके निमित्त (कारण) हैं। उनके विपक्षीभूत यानी संसारके विनाशके हेतु 'मार्ग' और 'निरोध' हैं।

मार्ग

क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्येवं वासना यका ।
स मार्ग इह विज्ञेयः—

परम निकृष्ट जो काल है वह 'क्षण' कहा जाता है। समस्त पदार्थ क्षणिक हैं और आत्मा नामका कोई पदार्थ नहीं है, ऐसी जो वासना है यानी क्षणपरम्परा प्राप्त जो मानसी प्रतीति है वह मार्गतत्त्व है अर्थात् सारे पदार्थ क्षणिक है और आत्मा नहीं है इस प्रकारका जो चित्तविशेष है वही मार्गतत्त्व है, वह निरोधका कारण है।

निरोध

'निरोधो मोक्ष उच्यते'

मोक्षको निरोध तत्त्व कहते हैं। चित्तको निःक्लेशावस्था-रूप निरोध है वही मुक्ति है। पूर्वोक्त दुःख आदि चार तत्त्वोंको आर्य-सत्य भी कहते हैं। ये चार पदार्थ केवल सौत्रान्तिकके मतमें हैं। सामान्यतः सब बौद्धोंके मतमें तो बारह पदार्थ माने गये हैं। जैसे—

बौद्धोंके मूल सिद्धान्त

बुद्धके इन मूल चार सिद्धान्तों—तीन अस्वीकारात्मक और एक स्वीकारात्मक—को पहले यानी बौद्ध सिद्धान्तके प्रारम्भ होनेके समय जान लेना आवश्यक है। वे चार सिद्धान्त हैं—

(१) ईश्वरको नहीं मानना, अन्यथा 'मनुष्य स्वयं अपना मालिक है'—इस सिद्धान्तका विरोध होगा।

(२) आत्माको नित्य नहीं मानना, अन्यथा, नित्य, एक रस मानने पर उसकी परिशुद्धि और मुक्ति असम्भव हो जाती है।

(३) किसी ग्रन्थको स्वतः प्रमाण नहीं मानना, अन्यथा बुद्धि और अनुभवकी प्रामाणिकता जाती रहेगी।

(४) जीवन-प्रवाहको इसी शरीर तक परिमित न मानना, अन्यथा जीवन और उसकी विचित्रता कार्य-कारण नियमसे उत्पन्न न हो कर केवल आकस्मिक घटना हो जायगी।

(१) ईश्वरको न मानना

ईश्वरवादी कहते हैं—"हर एक कार्य का कारण होता है, अतः संसारका भी कोई कारण होना चाहिये और वह कारण ईश्वर है" अब यहां पर बौद्धोंका यह कथन होता है कि ईश्वर किस प्रकारका कारण है। क्या उपादान कारण, जैसे घड़ेका कारण मिट्टी, कुण्डलका सुवर्ण।

यदि ईश्वर जगत्का उपादान कारण है, तो जगत् ईश्वरका रूपान्तर है। फिर संसारमें जो कुछ भी सुख-दुःख, बुराई-भलाई,

यदि उपादान कारणसे बनाता है, तो कुम्हारकी भांति जगत्‌से अलग रह कर बनाता है, या उसमे व्याप्त होकर ? अलग रहने पर सर्व-व्यापक नहीं रहगा और सृष्टि करनेके लिये दूसरे सहायकों—और साधनो पर निर्भर होना पड़ेगा।

परमाणुओंके मिश्रणसे क्रमश स्थूलतर चीजोके बनानेके लिये वह कौनसा हथियार सुनारकी सडासीकी तरह प्रयोग करगा। और फिर सर्व शक्तिमान् कसे रहेगा ?

यदि उसे उपादान कारणम सव-व्यापक मान लिया जाय, तो भी उपादान कारणके विना उत्पादन करनेमें अक्षम होने पर सर्व-शक्तिमान् नहीं, ऐसी अवस्थामें अपवित्रता, क्रूरता आदि बुराइयोंका स्रोत होनेका भी वह दोषी होगा। इस प्रकार न वह उपादान कारण हो सकता है, न निमित्त कारण।

जगत्‌का कोई आदि कारण होना ही चाहिये यह कोई जरूरी नहीं। यदि "उसका कारण कौन, उसका कारण कौन ?"—पूछने पर जगतकी किसी सूक्ष्मतम वस्तु या उसकी विशेष शक्ति पर नहीं रुकने दिया जाय, तो ईश्वर तक ही क्यो रुका जाय ? क्यो न ईश्वरका भी कोई दूसरा कारण माना जाय ? इस प्रकार ईश्वरको आदि कारण मानना युक्ति-युक्त नहीं। कर्त्ता-धर्त्ता ईश्वरके होने पर मनुष्य उसके हाथके कठपुतली है, फिर वह किसी अच्छे-बुरे कामके लिये जवाबदेह नहीं हो सकता। फिर दुनियामे उसका सताया जाना क्या ईश्वरकी दयालुताका द्योतक है।

ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है, यह मानना भी ठीक नहीं, यदि सृष्टि

अनादि है, तो उसको किसी कर्त्ताकी जरूरत नहीं, क्योंकि कर्त्ता होनेके लिये उसे कार्यसे पहले उपस्थित रहना चाहिये।

यदि सृष्टि सादि है, तो अचिन्त्य अनन्त वर्षोंसे लेकर सृष्टि उत्पन्न होनेके समय तक उस क्रिया-रहित ईश्वरके होनेका प्रमाण क्या? क्रिया ही तो उसके अस्तित्वमें प्रमाण हो सकती है?

ईश्वरके मानने पर, जैसा कि पहले कहा गया, मनुष्यको उसके अधीन मानना पड़ेगा, तब मनुष्य आप ही अपना स्वामी है, जैसा चाहे अपनेको बना सकता है—यह नहीं माना जा सकता, फिर मनुष्यकी शुद्धि और मुक्तिके लिये गुंजाइश कहा!

ईश्वरके न मानने पर, मनुष्य जो कुछ वर्त्तमानमें है, वह अपने ही कियेसे और जो भविष्यमें होगा, वह भी अपनी ही करनी से। मनुष्यके काम करनेकी स्वतन्त्रता होनेसे ही धर्मके बताये रास्तेकी और धर्मकी साधकता हो सकती है। ईश्वरवादियों द्वारा अनेकानेक वर्षोंसे धर्मके लिये अशान्ति और रक्तकी धाराएँ बहाई जा रही हैं, फिर भी ईश्वर क्या नहीं निपटारा करता? वस्तुतः ईश्वर मनुष्यकी मानसिक सृष्टि मात्र है।

(२) आत्माको नित्य न मानना

यहां प्रथम यह जानना आवश्यक है कि—बौद्ध अनात्मताको कैसे मानते हैं। बुद्धके समय, ब्राह्मण परिव्राजक तथा दूसरे मतोंके आचार्य मानते थे कि शरीरके भीतर और शरीरसे भिन्न एक नित्य चेतन शक्ति है, जिसके आनेसे शरीरमें ज्ञानपूर्वक चेष्टा देखनेमें

आती है। जब वह शरीर छोड़ कर कर्मानुसार शरीरान्तरमे चली जाती है, तो शरीर शीतल, चेष्टारहित हो जाता है इसी नित्य चेतन शक्तिको वे आत्मा कहते थे।

इनके अतिरिक्त बुद्धके समयमे दूसरे भी आचार्य थे, जिनका कहना था—शरीरसे पृथक् आत्मा कोई चीज नहीं, शरीरमे भिन्न-भिन्न परिमाणमे मिश्रित रसोंके कारण चैतन्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है और रसोंके परिमाणमे कमी-वेशी होनेसे वह चली जाती है। इस प्रकार आत्मा शरीर-भिन्न कोई वस्तु नहीं है। बुद्धने एक ओर आत्माका नित्य, कूटस्थ मानना, दूसरी ओर शरीरके साथ ही आत्माका विनाश हो जाना—इन दोनों बातोंको छोड मध्यका रास्ता लिया।

बुद्धका मत है—आत्मा कोई नित्य कूटस्थ वस्तु नहीं है, किन्तु विशेष कारणोंसे पंच स्कन्धों (भूत, मन) के ही संयोगसे उत्पन्न एक शक्ति है, जो अन्य बाह्य भूतोंकी भांति क्षण-क्षण उत्पन्न और विलीन हो रही है।

चित्तके क्षण-क्षण उत्पन्न होने और विलीन होने पर भी चित्तका प्रवाह जब तक इस शरीरमे जारी रहता है, तब तक शरीर सजीव कहा जाता है। हमारे अध्यात्मपरिवर्त्तन और शरीरके परिवर्त्तनमे बहुत समानता है। हम लोगोंका शरीर क्षण-क्षण बदल रहा है। चालीस वर्षका यह शरीर वही नहीं है, जो पांच वर्ष और बीस वर्षकी अवस्थामे था और न साठवें वर्ष वही रह जायगा। एक-एक अणु, जिससे शरीर बना है, प्रतिक्षण

अपना स्थान नवोत्पन्नके लिये खाली कर रहा है, ऐसा होने पर भी हर एक विगत शरीर-निर्मापक परमाणुका उत्तराधिकारी बहुत सी बातोंमें सदृश होता है।

इस प्रकार हमारा पहले वर्षवाला शरीर दशवें वर्षमें नहीं रहता, और बीसवें वर्षमें दश वर्षवाला भी खतम हुआ रहता है, तो भी सदृश परिवर्त्तनके कारण स्थूल दृष्टिसे लोग शरीरको एक कहते हैं। इसी प्रकार आत्मा भी क्षण-क्षण बदल रहा है, किन्तु सदृश परिवर्त्तनके कारण उसे एक कहा जाता है। मनुष्यका विचार, मानसिक प्रवृत्ति आये दिन बदलती ही रहती है।

प्रश्न—मनका परिवर्त्तन हो सकता है, किन्तु आत्माका परिवर्त्तन नहीं होता है?

समाधान—मनसे परे आत्मा कोई चीज नहीं। चित्त, विज्ञान, आत्मा—एक ही वस्तु है। जिस प्रकार चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और त्वक् इन्द्रियोंको हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, वैसे मनको नहीं, हमे मनकी सत्ता क्यों स्वीकार करनी पडती है। आखें इमली देखती है और जिह्वासे पानी टपकने लगता है।

नाक दुर्गन्ध सूंघती है, और हाथ नाक पर पहुच जाता है। आख और जिह्वा एक नहीं है, न वे एक दूसरेसे मिली हुई हे। इस लिये इन दोनोंको मिलानेके लिये एक तीसरी इन्द्रिय चाहिये और वह 'मन' है।

पाचों ही इन्द्रिया अपने-अपने शक्तिको जहां पहुचाती हैं और जहासे शरीरके भिन्न भिन्न अगोंको गतिका अनुशासन मिलता है,

वह 'मन' है। वही ग्रहण, चिन्तन और निर्णय करता है। वह ग्रहण आदि कैसे करता है। फौजके कमाण्डरकी तरह अलग बैठ कर नहीं, बल्कि जैसे पाच नालोमे लाल, पीले, हरे, नीले, काले रगका चूण पडा हुआ हो, और नालोका मुंह बारी-बारीसे खुल रहा हो और नीचे एक ऐसी काचकी नलीसे पानी वह रहा हो, जिसमें पाचो नालोंके मुंह मिले हुए हो।

जिस समय जो रंग पानी पर चढेगा, पानी उसी रगका हो जायगा। इसी तरह जब आग्र काले सापकी ओर लगती है, तो काले सर्पका दशन होता है। फिर वह ज्ञान तुरन्त मनम पहुचता है। उस क्षणका मन, जो अपने कारणभूत पुराने मनाके अनुभवोंका बीज अपनेमे रखता है, इस नवीन ज्ञानरूपी चूर्णके गिरनेसे तदाकार हो भयके रंगमे रग जाता है।

यदि सप कई क्षणो-तक दिखाई द तो क्षण-क्षण उत्पन्न होनेवाले मन पर भयका सचार अधिक होता जायगा। जो बात भयप्रद विपयोके बारमे है, वही प्रीतिप्रद तथा दूसर विपयोके बारेमें भी समझनी चाहिये। अस्तु, उक्त कारणसे चक्षु आदि इन्द्रियोके अतिरिक्त उनके सयोजक एक भीतरी इन्द्रियको माननेकी जरूरत पडती है, जिसे 'मन' कहते हैं। इससे परे आत्माकी क्या आवश्यकता?

"मन तो क्षणिक है तब पूर्वके अनुभूत पदार्थका स्मरण कैसे हो सकता है, अतः एक स्थायी आत्मा मानना पडगा" यह कहना ठीक नहीं, क्योकि मन क्षणिक है, किन्तु वह परवर्त्ती मनका कारण भी है। आनुवशिक नियमके अनुसार जैसे—माता-पिताकी बहुतसी

बातें पुत्र-पौत्रमें आती हैं, उसी प्रकार पूर्व मन अपने अनुभवोंका बीज या संस्कार पिछले यानी परवर्त्ती मनके लिये छोड जाता है, और वही संस्कार स्मृतिका कारण होता है यानी उस-उस संस्कारके द्वारा ही उत्तरोत्तरके मनसे भी पूर्व-पूर्व मनके द्वारा अनुभूत पदार्थो का स्मरण होता रहता है।

क्षणिक मन पर ही संस्कार पड सकता है। जो कूटस्थ नित्य आत्मा होगा उस पर संस्काररूप विकार कैसे लग सकता है? क्योंकि नित्य पदार्थ तो अनन्त काल तक एक रस रहनेवाला होगा। यदि वह आत्मा अनुभव-जन्य संस्कारका आधार होगा तो उसका रूप परिवर्त्तन हो जायगा। आत्मा कोई जड पदार्थ नहीं है, जो उसके केवल बाह्य अवयव पर ही संस्कारका लांछन लगगा। वह तो चेतनमय है, अत उसमे सर्वत्र प्रविष्ट हो जायगा तब तो वह राग, द्वेष, मोह—नाना प्रकारोंमे से किसी एक रूप वाला हो जायगा। तब वही आत्मा नहीं हो सकता है जो संस्कारके लगनेसे पहले था। तब वह एकरस भी नहीं हो सकता, फिर आत्मा नित्य है कैसे ?

यदि मान भी ले कि संस्कार आत्मामें अवस्थित रहता है तो अभौतिक संस्कार भी नित्य आत्मामें लग कर यानी तन्मय हो कर अविचल हो जायगा। तब फिर शुद्धि और मुक्तिकी आशा कैसे की जा सकती है।

प्रश्न-यदि कहें—कोई नित्य आत्मा नहीं है, तो मनके क्षणिक होनेसे शरीरके नष्ट हो जाने पर अच्छे-बुरे कर्मोंका विपाक कैसे होगा ?

समाधान—बौद्ध मतमें कर्मका विपाक किसी ईश्वर आदि पर निर्भर नहीं है। अच्छे-बुरे जैसे भी कायिक-वाचिक आदि कर्म करते हैं, सभी कर्मोंका उद्गम मन है, अतः द्वेष-युक्त काम करनेके लिये मनको द्वेष-युक्त बनना पड़ता है, राग-युक्त काम करनेके लिये मनको राग-युक्त बनना पड़ता है। मनका उस प्रकारका भाव तब तक जारी रहता जब तक कोई विरोधी भावसे वह नष्ट नहीं हो जाता है।

दूसरे क्षण उत्पन्न होनेवाले मनको बहुत सी बातें अपने जनक पहले क्षणके मनसे प्राप्त होती हैं और यह सिलसिला लड़कपनसे वृद्धपन तक रहता है और यह क्रम जन्मसे पहले भी था तथा मृत्युके बाद भी रहेगा।

मृत्युके समय चित्त-प्रवाह अपनी संस्कार-राशिके साथ इस जीवनकी चरमावस्था पर अवस्थित रहता है। वह संस्कार-राशि-रूपी चुम्बक, समान धर्मवाले समीपतम शरीरमें खींच कर फिर उसको वही पुरानी कारवाई शुरू कर देता है। यही क्रम तब तक जारी रहता है, जब तक तृष्णाके क्षयसे वह सन्तति (प्रवाह) विशृंखलित हो, निर्वाणको नहीं प्राप्त हो जाती। इस प्रकार कर्म, कर्मफल और जन्मान्तर होता है।

जो लोग पुनर्जन्म भी मानते हैं, और साथ-साथ आत्माको नित्य भी, उनकी ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। जब वह नित्य है, तो कूटस्थ भी है, अर्थात् सदा एकरस रहेगा, फिर ऐसी एकरस वस्तुको भी यदि परिशुद्ध मानते हैं तो वह जन्मने-मरनेके फेरमें कैसे पड सकती है? यदि अशुद्ध है तो स्वभावत अशुद्ध होनेसे

उसकी मुक्ति कैसे हो सकती है ? नित्य कूटस्थ होने पर संस्कारकी छाप उस पर नहीं पड़ सकती है। यदि संस्कारके आश्रयके लिये मनको मानते हैं तो आत्माको माननेकी जरूरत ही क्या रह जाती है !

प्रश्न—यदि मन तथा आत्मा एक है और वह क्षणिक है—और क्षण-क्षण आत्मा या मन बदलता रहता है, तो "जो मैं पहले था वही मैं अब हूं" इस प्रकार एकताका भान क्यों होता है !

समाधान—समुदायमें एकत्वकी बुद्धि होती है यह सार्वभौमिक नियम है। संसारकी प्रत्येक वस्तु अनेकानेक अणुओंसे बनी हुई है। यदि हमारी दृष्टि उतनी सूक्ष्म होती तो हम उन्हें ऐसे ही अलग-अलग देखते, जैसे पास जाने पर वनके वृक्ष। इस प्रकार जगतके सभी दृश्य पदार्थोंके मूलमें अनेकता होने पर भी एकताका व्यवहार किया जाता है, अनगिनित अवयवोंके बने हुए इस शरीरको एक शरीर कहते हैं। अनेक वृक्षोंके बने जंगलको एक जंगल कहते हैं। जहां शरीर और वनमें एक कालमें और एक देशमें अंशी और अंश मौजूद रहते हैं वहां मन प्रतिक्षण एकके बाद एक उत्पन्न होता रहा है। इसका अच्छा उदाहरण है—चलती बिजलीका पंखा, पंखेका पंख जल्दी-जल्दी इतने सूक्ष्म कालमें एक स्थानसे दूसरे स्थान पर पहुंचता है कि हम उसे ग्रहण नहीं कर सकते हैं, उसी प्रकार मन भी इतना शीघ्र अपनी जगह पर दूसरे मनको उपस्थित कर रहा है कि बीचके अन्तरको हम ग्रहण नहीं कर पाते। और हमें चक्रकी एकताका भान होने लगता है।

नदीकी धाराको भी तो लोग एक कहते हैं, किन्तु क्या वह जल हजारों बिन्दुओंसे और बिन्दु भी अगणित परमाणुओंसे नहीं बना हुआ है। वस्तुतः संसारमें सभी जगह समुदाय ही को एक कहा जा रहा है। तब क्षणिक मनकी सन्तति (प्रवाह) को साधारण दृष्टिसे हम एक कहने लगें तो आश्चर्य क्या है।

प्रश्न—जब आत्मा क्षणिक है, दूसरे क्षण वह रहता ही नहीं, तो उसकी पूर्णता और परिशुद्धि कैसे हो सकती है ?

समाधान—मनको क्षणिक मानते हुए भी मनकी सन्ततिको क्षणिक नहीं मानते।

जितनी ही चित्त-सन्तति, राग, द्वेष, मोहके मलोंसे मुक्त होती है, उतना ही उस पुरुषके कायिक, वाचिक, मानसिक कर्म परिशुद्ध होते जाते हैं, जिसके फलस्वरूप वह व्यक्ति अपने-परायेका उपकार करनेमें समर्थ होता है। जब उसमें राग-द्वेषका गंध नहीं रह जाता, उस समय तृष्णा नहीं रह जाती, तब उस पुरुषके लिये निर्वाणका मार्ग उन्मुक्त हो जाता है और वह दुःखके फन्देसे छूट जाता है।

इस प्रकार मनके क्षणिक होने पर भी मनकी सन्तति क्षणिक नहीं है, इस लिये उसकी पूर्णता और परिशुद्धि करनी पड़ती है।

यदि आत्माको कूटस्थ नित्य आत्मा न मान कर उसके स्थान पर क्षण-क्षण उत्पन्न होने वाले चित्तोंकी सन्ततिको माना जाय तो शब्द पर हमारा कोई आग्रह नहीं है क्योंकि आत्मशब्द नित्य चेतन वस्तुके लिये व्यवहृत होता था, इस लिये बुद्धने उसके विरोध करनेके लिये अनात्मशब्दका प्रयोग किया।

(३) किसी ग्रन्थको स्वतः प्रमाण न मानना

ग्रन्थके स्वत प्रमाण होनेके लिये उसके कर्ताको सर्वज्ञ मानना पड़ेगा। सर्वज्ञ भी सभी देश, सभी काल, सभी वस्तुके सवन्धमे। फिर यदि कोई सवज्ञ हमारे जन्मसे हजारों वर्ष पहले हमारे द्वारा किये गये अच्छे-बुरे सभी कर्मोंको जानता था, तब तो हम आज वैसा करने पर मजबूर हैं, अन्यथा उसकी सवज्ञता मिथ्या हो जायगी। फिर मनुष्य ऐसे सर्वज्ञका खिलौना मात्र रह जाता है। उसका सर्वथा अधीन बन जाता है और फिर ऐसे परतन्त्र व्यक्तिको अच्छे—बुरे कार्य करनेका कहा तक अधिकार है। तब ऐसे धर्म और उसके ग्रन्थ तथा उसमे कही गयी शिक्षाओंका प्रयोजन क्या ?

परिशुद्ध और मुक्त बननेके लिये कर्म करनेमे मनुष्यका स्वतन्त्र होना जरूरी है। कर्म करनेकी स्वतन्त्रताके लिये बुद्धिका स्वतन्त्र होना जरूरी है। बुद्धि-स्वातन्त्र्यके लिय किसी ग्रन्थकी परतन्त्रता-का न होना आवश्यक है। वस्तुत किसी ग्रन्थकी प्रमाणिकता उसके बुद्धि-पूर्वक होने पर निर्भर है। न कि बुद्धिकी प्रामाणिकता ग्रन्थ पर हो सकती है।

(४) जीवन प्रवाहको इस शरीरके पूर्व और पश्चात् भी मानना

प्रश्न—जब जीवन इतने लम्बे समय तक कार्य-कारणसम्बन्ध पर अवलम्बित मालूम होता है और वहा कोई स्थिति आकस्मिक नहीं मिलती है, तो जीवनके आरम्भमे उसमे कार्य-कारण नियमको

अस्वीकार कर क्या हम उसे आकस्मिक नहीं मान रहे हैं ? आकस्मिकता कोई सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि उसमें कार्य-कारण नियमोंसे ही इन्कार कर देना होता है जिसके विना कोई वात सिद्ध नहीं की जा सक्ती।

यदि कहें—माता-पिताका शरीर जैसे अपने अनुरूप पुत्रके शरीरको जन्म देता है, वैसे ही उसका मन तदनुरूप पुत्रके मनको जन्म देता है, तो कुछ हद तक ठीक होने पर भी यह वात सर्वांशमें ठीक नहीं जँचती, यदि ऐसा होता तो मन्दबुद्धि माता-पिताओंको प्रतिभाशाली पुत्र न होता ऐसे ही प्रतिभाशाली माता-पिताओंको मन्दबुद्धि पुत्र न होता। पण्डितकी सन्तान मूर्ख वहुधा देखी जाती है यह अड़चन हट जाती। यदि जीवन-प्रवाहको इस शरीरके पहलेसे मान लें, तब तो यह कहा जा सकता है, कि हर एक पूर्व जीवन परवर्त्ती जीवनका निर्माण करता है।

जिस प्रकार खानसे निकला लोहा, पिघला कर वना कच्चा लोहा और अनेकों बार ठंडा और गरम करके वना लोहा, तीनों ही लोह हैं, तो भी उनमें संस्कारकी मात्रा जैसी कम-ज्यादा है, उसीके अनुसार हम उन्हें कम अधिक संस्कृत पाते हैं। प्रतिभाशाली बालककी बुद्धि पहलेके विचार-अभ्याससे सुसंस्कृत है। मानसिक अभ्यासका यद्यपि स्मृतिके रूपमें सर्वथा अस्तित्व रहना अत्यावश्यक नहीं है,—परन्तु तदनुसार न्यूनाधिक संस्कृत होना तो बहुत जरूरी है।

मन्दबुद्धिता, भद्रता नृशंसता आदि कितने ही अपैतृक गुण

मनुष्यमें अक्सर दिखाई पड़ते हैं, उनका कारण इसके पूर्व जीवन-प्रवाहमें ढूंढ़ना पड़ता है।

इस प्रकार विचार करनेसे यह निश्चय होता है कि इस शरीरका जीवन-प्रवाह एक सुदीर्घ जीवन-प्रवाहका छोटासा बीचका अंश है, जिसका पूर्वकालीन प्रवाह चिरकालसे आ रहा है, और परकालीन भी चिरकाल तक रहेगा। जीवन-प्रवाह इस शरीरके पूर्वसे आ रहा है और पीछे भी रहेगा, तो भी अनादि और अनन्त नहीं है इसका आरम्भ तृष्णा या स्वार्थ-परतासे है, और तृष्णाके क्षयके साथ इसका क्षय हो जाता है।

बुद्धकी शिक्षा और दर्शन उक्त चार सिद्धान्तों पर अवलम्बित है। *पहले तीनों सिद्धान्त 'बौद्ध-धर्म' को संसारके अन्य धर्मोंसे पृथक्* करते हैं। ये तीनों सिद्धान्त जड़वादमें और बुद्ध-धर्ममें समान हैं, किन्तु चौथी बात अर्थात् जीवन-प्रवाहको इसी शरीर तक परिमित न मानना यह बौद्ध-धर्मको जड़वादसे पृथक् करता है, और साथ ही मनुष्यके लिये भविष्यको आशामय बनानेका यह एक सुन्दर उपाय है, जिसके बिना किसी आदर्शवादका किसी कार्यरूपमें परिणत होना दुष्कर है। चारों सिद्धान्तोंमें पहले तीन बड़ी परतन्त्रताओंसे मनुष्यको मुक्त कराते हैं, चौथा आशामय भविष्यका सन्देश देता है और शील-सदाचारके लिये नींव बनता है।

❀ बौद्धोंके मूल चार सिद्धान्तोंका खण्डन ❀

(१) ईश्वर मानना ही युक्ति-युक्त है

बौद्धोंने ईश्वर न माननेका जो तर्क-प्रदर्शन किया है वह सर्वथा

उपहासास्पद है क्योंकि किसीका कारण मानना या न मानना यह उस पदार्थके स्वरूप ज्ञानके पश्चात् ही निर्धारण किया जा सकता है, विना उसके स्वरूप-ज्ञानके यह उसका कारण है, या नहीं है यह कैसे कहा जा सकता है।

जिस व्यक्तिने कभी अग्निको नहीं देखा है, अग्नि ज्ञानसे सर्वथा अपरिचित है, वह व्यक्ति धूम देख कर भी अग्निका अनुमान नहीं कर सकता है। अग्निका धूमके साथ यह व्याप्ति (साहचर्य) है, अग्निका यह स्वरूप है, अग्नि-धूमका यह संवन्ध है इत्यादि ज्ञान रहनेसे ही पवत आदि प्रदेशोंमें केवल धूम देख कर अग्निका अनुमान किया जाता है यह सर्व-संमत है। काय देख कर इसका कुछ कारण है इतना ही अनुमान किया जा सकता है।

इसी प्रकार जब तक पहले यह ज्ञान नहीं हो जायगा कि ईश्वर का स्वरूप क्या है! जगत्के साथ ईश्वरका क्या संवन्ध है! जगत्के साथ ईश्वरकी व्याप्ति (साहचर्य) है अथवा नहीं इत्यादि, तव तक जगत्का कारण ईश्वर है अथवा नहीं इस प्रकारकी प्रजल्पना कैसे कोई कर सकता है ?

वौद्धोंने तो ईश्वरका स्वरूप ही नहीं जाना है, जगतके साथ ईश्वरका क्या सम्बन्ध है, न इसे जाना है और न तो उसको जाननेका कभी प्रयत्न ही किया है, तब सिर्फ इस जगत्को देख कर ईश्वरके विषयमे उनका अनेक प्रकारका कुतर्क करना सर्वथा निन्दनीय है।

ईश्वरका स्वरूप—माया-विशिष्ट चैतन्य है यानी माया और

चैतन्य तथा मायामें प्रतिविम्बित उसी चैतन्यका आभास इन तीनोंके समुदायकी 'ईश्वर' सञ्ज्ञा है। इन तीनोंका विभिन्न स्वरूप है—

रज-सत्त्व-तम गुणस्वरूप माया है, चैतन्य तो निर्विकार, असंग और एकरस है, और चैतन्यके आभासका गुण काय-कर्तृत्वशक्ति आदि है।

इन तीनोंमें माया तो समस्त ब्रह्माण्डका उपादान कारण है, अतः समस्त ब्रह्माण्ड भी पूर्वोक्त गुणत्रयात्मक ही प्रतीत होता है। वही गुणत्रयात्मक माया जगत्‌रूपसे परिणत होती है, अतः मायाके विकारी माननेमें कुछ भी आपत्ति ईश्वरवादीको नहीं है, इस लिये उपादानके विकारी माननेमें बौद्धका आक्षेप युक्ति-रहित है।

माया ही इस जगत्‌का उपादान कारण है जैसे घटको मिट्टी और कुण्डलका सुवर्ण।

ईश्वरके स्वरूपका एक अंश जो चैतन्यका आभाश है वह इस जगत्‌का निमित्त कारण है, जैसे घटका कुम्हार और कुण्डलका सुनार। वह आभाश चैतन्यस्वरूप और सर्वशक्तिमान् है।

"विना उपादान कारणकी सहायतासे यदि निमित्त कारण ही कार्यका उत्पादन करता है तो अभावसे भावकी उत्पत्तिका दोषारोपण और कार्य-कारणका नियम-भंग हो जाता है" यह बौद्धोंका प्रलाप करना विवेकशून्य है, क्योंकि उपादानको लेकर यानी उपादानकी सहायतासे निमित्त कारण कार्यका उत्पादन करता है, यही ईश्वर-वादीका सिद्धान्त है।

निमित्त कारणके बारेमें बौद्धोंके द्वारा जो यह आक्षेप किया जाता है कि "निमित्त कारण कार्यमें व्याप्त होकर स्थित रहता है, अथवा कार्यसे अलग अवस्थित रहता है।" इसका समाधान ईश्वर वादीका यह है कि निमित्त कारण जगत्में व्याप्त हो कर इस प्रकार जगत्से अलग रहता है जैसे ऊर्णनाभि (मकड़ी) तन्तुओंमें, यानी मकड़ी अपने शरीरसे तन्तु (जाल) को उत्पन्न करके और स्वयं तन्तुओंमें व्याप्त रह कर भी उससे अलग रहती है।

कहनेका तात्पर्य यह कि वह आभास अंश ही इस जगत्का निमित्त कारण है और मकड़ीकी तरह अपने कार्यमें व्याप्त और कार्यसे अलग भी रहता है। इस प्रकारके प्रवल तर्क रहनेसे ईश्वरके विषयमें बौद्धोंका जो आक्षेप था वह ईश्वरके विषयमें उसकी जानकारी न रहनेका द्योतक था।

ईश्वरका जो चैतन्य अंश है वह केवल अधिष्ठान स्वरूप है, जैसे कल्पित सर्पका रज्जु, यानी जिस प्रकार रज्जुमें मिथ्या सर्प भासित होने पर भी किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता है उसी प्रकार यह सारा जगत्, जो मिथ्या स्वरूप है, ईश्वर-चैतन्यमें भासित होने पर भी कुछ भी विकार उत्पन्न नहीं करता है, यानी ईश्वर चैतन्य सदैव निर्विकार ही रहता है। इस प्रकार अधिष्ठान रूपसे जगत्का ईश्वर-चैतन्यको निमित्त कारण माननेसे बौद्धोंके द्वारा ईश्वरके विषयमें विकारी होनेका आक्षेप किया जाना सर्वथा तर्कशून्य और अविवेकिताका द्योतक है।

इस जगत्रूप कार्यको देख कर उसके कारणकी कल्पना

बौद्धोंको भी करनी ही पड़ेगी, क्योंकि विना कारणके एक भी कार्य नहीं उत्पन्न होता है यह बौद्ध भी मानता है।

इस विशाल दुरूह जगत्का कारण विलक्षण अनन्त शक्तिशाली ईश्वरके सिवा दूसरा कौन हो सकता है, और इस प्रकार शक्तिशाली जो कारण हो सकता है, वही हमारा ईश्वर है, इस प्रबल तर्कके आधार पर बौद्धोंको इच्छा नहीं रहने पर भी ईश्वरका अस्तित्व मानना ही पडता है। उपादान कारणके सहारे जगत्के बनाने पर भी ईश्वरमे सर्वशक्तिमत्ता अक्षुण्ण रूपसे रहती है, क्योंकि जगत् बनानेमें जिस उपादान कारणकी ईश्वरको स्वीकृति करनी पडती है, वह 'माया' नामका ईश्वरका ही एक अंश-विशेष है। अपनी शक्तिके उपयोग करनेसे किसीके सर्वशक्तिमान् होनेमे कोई अडचन नहीं रह जाती है। अपवित्रता, क्रूरता आदि बुराइयोंका भी ईश्वरमें स्थान नहीं है, क्योंकि मायाका स्वरूप विशुद्ध सत्त्वगुण प्रधान है, सत्त्वगुणकी बहुत अधिक मात्रामे रहने और तमोगुण तथा रजोगुणके अति अल्प मात्रामे रहनेसे ईश्वरमें किसी प्रकारकी बुराइयोंका लेश मात्र भी स्थान नहीं है। ईश्वर विशुद्ध है, दयालु है, क्योंकि सत्त्व-गुणका वही स्वभाव है।

जिस प्रकार कोई निष्पक्ष सच्चा हाकिम किसी अपराधीको उसके किये कर्मके अनुसार दण्ड देता है और किसीको अपराधी न पाकर उसे दण्ड देनेसे मुक्त कर देता है इसमे हाकिमकी दया अथवा क्रूरता नहीं कही जाती है। दण्ड भोगना या उससे मुक्त होना अपने ही किये कर्मका परिपाक है। हां, इतना अवश्य है कि हाकिम उसमें निमित्त-

मात्र होता है, उसी प्रकार ईश्वर जीवको उसके पाप कर्मके अनुसार दुःख प्रदान करता है और उसके पुण्य कर्मके अनुसार सुख प्रदान करता है। अतः ईश्वरमे इससे दया-क्रूरता कुछ भी नहीं कही जा सकती।

वास्तवमे तो जीवके अपने किये पुण्य-पापके ही परिपाक सुख-दुःखभोग हैं। ईश्वर केवल उसके भोगानेका निमित्तमात्र है, इतने मात्रसे उसमे क्रूरता आदि दोषोका आरोपण नहीं किया जा सकता है। यह सारा ही विश्व-निर्माण जीवके ही कर्मका परिपाक स्वरूप है, यानी जीवके किये कर्मके भोगनेका साधन स्वरूप है। ईश्वर उस साधनके द्वारा जीवके कर्म फलका प्रदाता होता है। जैसे समान रूपसे सब खेतोमे मेघके वर्षा करने पर भी जिस खेतमे जैसा परिश्रम किया रहता है उसमें वैसा फल होता है, उसमे मेघका कुछ भी दोष नहीं, मेघ तो सबके लिये समान ही है, इसी तरह ईश्वर सबके लिये समान ही हैं। जैसा जिसका प्राक्तन कर्म किया रहता है, वैसा उसको सुख-दुःख फल भोग मिलता है, परन्तु फलभोग जड पदार्थ है, स्वयं उसकी किसीके पास जाने-आनेकी सामर्थ्य नहीं है। वह चेतन ईश्वरके द्वारा ही नियमानुसार जीवके पास जाता-आता है।

इस प्रकार ईश्वरमे वैषम्य और नैर्घृण्य (क्रूरता आदि) दोषोंका आरोपण नहीं किया जा सकता है।

"ईश्वरके माननेसे मनुष्य स्वयं अपना मालिक नहीं हो सकता है, वह परतन्त्र हो जायगा और स्वयं कुछ भी पुरुषार्थ नहीं कर

सकेगा" यह कथन भी बौद्धके कुतर्क और अविवेकिताका परिचायक है, क्योंकि मनुष्य सुख-दुःख भोगमें परतन्त्र ही रहता है, स्वतन्त्र नहीं है, नहीं तो मनुष्य कभी दुःख नहीं भोगता।

दुःख भोगनेकी नहीं इच्छा रहने पर भी जीवमात्रको दुःख भोगते देखा जाता है, अतः मानना ही पडता है कि सुख-दुःख भोग मनुष्यको अपने वशका नहीं है।

साराश यह कि कई ऐसे कर्म हैं, जिनमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता है और कई कर्म एसे भी है जिनमे कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं है, अतः मनुष्य अपने आप मालिक नहीं है यह तो मानना ही पडता है। यह प्रत्यक्ष रूपमे देखा जाता है कि इस जगत्में प्रत्येक प्राणी एक दूसरेके अधीन रहता है, जैसे सेवक मालिकके अधीन, पत्नी पतिके अधीन, पुत्र पिताके अधीन, प्रजा राजाके अधीन और राजा भी अपने सुख दुःख भोगके अधीन रहता ही है।

लोगोंमे इस प्रकारकी व्यापक परतन्त्रता देख कर भी बौद्धगण मनुष्यकी असभावित स्वतन्त्रताका प्रलाप करता है। हां, इतना हो सकता है कि भविष्य जीवनका अपने पुरुषार्थके द्वारा मनुष्य सुखमय बना सकता है, किन्तु तीव्रतर प्रारब्ध कर्म-फलके भोगमें तो मनुष्य सर्वथा परतन्त्र ही है, अतः उक्त कर्म-फल प्रदान करनेके लिये स्वतन्त्र ईश्वरको मानना ही पडेगा।

ईश्वर इस जगत्का आदि-कर्ता है, यानी अपनी अनुपम शक्तिके द्वारा ईश्वरने इसे अवश्य रचा है, तब जगत् जो अनादि कहा जाता है वह प्रवाह रूपसे।

सारांश यह कि यह जगत् किसी अदृष्टको लेकर प्रलयमें, ईश्वरमे यानी ईश्वरके मायाशक्तिमे लीन होकर रहता है, पुन सृष्टिके प्रारम्भमे उसी सूक्ष्म शक्तिसे अपने अदृष्टके फल-भोगके लिये स्थूल रूपसे व्यक्त होता है, अत ईश्वर इस जगत्का कर्त्ता-धर्त्ता कहा जाता है। यह जगत् सूक्ष्मके द्वारा स्थूल रूपसे व्यक्त किया जाता है, अत सादि है और प्रवाह रूपसे अनादि भी है, क्याकि जैसी सृष्टि पहले कल्पमे थी, वैसी ही सब कल्पोंमे व्यक्त की जाती है।

प्रवाह रूपसे अनादि रहने पर भी ईश्वरकी अनादि 'माया' शक्ति द्वारा उसकी रचना होनेमे कोई आपत्ति नहीं होती है।

बौद्धने यह जो कहा था कि "प्रलय समयमे ईश्वर किसी कार्यको नहीं करता है, अत क्रिया-रहित ईश्वरमे प्रमाण नहीं है, क्योंकि क्रियासे ही ईश्वरका अनुमान किया जाता है।" यह कहना भी प्रमाण-मूलक नहीं, क्योकि यह नियम नहीं है कि कार्य-ध्वसके बाद कर्त्ता भी न रहे। जैसे घट-ध्वसके बाद भी कुम्हार रहता ही है, उसी प्रकार ईश्वर भी सृष्टिके प्रलय-समयमें भी क्रिया-रहित होकर रहता ही है और समय पाकर फिर ईश्वर ही अपने स्वरूपमे स्थित माया द्वारा जगत्को रचता है अत बौद्धने ईश्वरके अस्तित्व विषयमें जो कुतर्क किया था उसका तर्क और युक्ति द्वारा खण्डन कर दिया गया।

(२) आत्माको नित्य माननेकी अकाट्य युक्ति

"पच स्कन्धोंमे से विज्ञान स्कन्ध ही आत्मा है और वह क्षण-क्षण विनष्ट होता है अत अनित्य है, किन्तु उसका प्रवाह (सन्तति)

उसके निर्वाण काल पर्यन्त रहता है" यह कहना बौद्धोंका कुतर्क-पूर्ण है, क्योंकि बौद्ध-सम्प्रदायमें विज्ञान स्कन्धकी उत्पत्ति जड पदार्थों के समेलनसे मानी गयी है, किन्तु जड पदार्थों का नियमानुसार संमेलन अपने आप नहीं हो सकता है, किसी चेतन पदार्थके द्वारा ही हो सकता है और बौद्ध मतमें जगत्के निर्मापक भूत-भौतिक और चित्त-चैत्तिकके समुदाय स्वरूप जो पंचस्कन्ध माने गये हैं, उनमें कोई चेतन पदार्थ नहीं माना गया है। जड पदार्थोंका अपने आप इस प्रकार नियमानुसार संमेलन होना तर्कके बाहर है और उनके स्वतः समेलन नहीं होनेसे पंच स्कन्धोंका स्वरूप ही नहीं बन सकता है- पंच स्कन्धोंमे सभी पदाथ जड ह, उनके संमेलनसे कोई चेतन (विज्ञान) स्वरूप कार्य उससे नहीं हो सकता है, अतः विज्ञानस्कन्ध आत्मा है यह बौद्धोंका कहना सरासर भूल है।

बौद्धका विज्ञानस्कन्धको आत्मा मान कर उसको क्षणिक बतलाना उसका तर्कशास्त्रकी अनभिज्ञताका पूर्ण परिचय है, वैसा माननेसे प्रत्यभिज्ञाका पालन कैसे किया जा सकता है, क्योंकि "जो मैं विगत वर्ष जिस काशीको देखा था, वही मैं आज उसी काशीको देख रहा हू" इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञा (एक प्रकारका ज्ञान) लोगोंमे निर्विवादरूपसे होती है। इस लौकिक व्यवहारकी रक्षा बौद्ध-सम्प्रदायमे कैसे की जा सकती है। जब कि बौद्धमतमें क्षण-क्षणमे प्रत्येक पदार्थका विनाश कहा जाता है, जो पूर्व क्षणमें था वह पर क्षणमे नहीं है, इस प्रकार आत्मा और काशीके भी उसके मतमे क्षणिक होनेसे विगत वर्षमे जो मैं था, वह वर्त्तमान समयमें

कहां ? और उस दिनकी काशी भी आज कहां ! फिर प्रचलित उक्त प्रत्यभिज्ञाका पालन कैसे हो सकता है !

इसके समाधानमें बौद्धका जो यह कथन होता है कि आत्मा या सारे पदार्थ क्षणिक हैं सही, किन्तु उनकी सन्तति (प्रवाह) क्षणिक नहीं है। वह तब तक स्थायी है, जब तक किसी विरोधी भावके द्वारा तृष्णाके समूल उच्छेद होनेसे निर्वाण प्राप्त नहीं होता है।

अत्यन्त सूक्ष्म कालको 'क्षण' कहते हैं। प्रथम क्षणमें उत्पत्ति और द्वितीय क्षणमें विनाश आत्माका माना जाता है, और इसी प्रकार द्वितीय क्षणमें ही सजातीय आत्माकी उत्पत्ति मानी जाती है और उसमें पूर्व आत्माके अनुभव-जन्य जो संस्कार था उसका संक्रमण (प्रवेश) माना जाता है। इसी क्रमसे पूर्व-पूर्व आत्माके द्वारा अनुभूत पदार्थोंका उसके संस्कारका उत्तर-उत्तर आत्मामें संक्रमण होनेसे स्मरण होता है यह मान कर प्रत्यभिज्ञाका समर्थन बौद्ध-मतमें किया गया है, किन्तु यह भी युक्ति-रहित है, क्योंकि जो पदार्थ उत्पत्ति-क्षणमात्रमें ही रहता है, उसका किस प्रकारका यह रहना है और उसी अत्यन्त सूक्ष्म कालमें किस प्रकार जगत्के अनेक पदार्थोंका अनुभव करना है, यह समझमें नहीं आता। उत्पत्ति-क्षणमें ही, जब कि पूर्णरूपसे वस्तु कायम भी नहीं हुई है, तभी कैसे कोई अनुभव कर सकता है ?।

क्या कहें जैसे-जैसे उसकी गहराईको खोजते हैं, वैसे-वैसे उसके अनर्गल प्रलापका पता चलता है।

क्षणिक आत्माका कौन अनुभव कर सकता है ? क्योंकि बौद्ध-मतमें सारे पदार्थ क्षणिक हैं कोई भी स्थायी नहीं है। अनुभव करने

वाला आत्मा भी क्षणिक है, तब जो एक क्षण पयन्त किसी प्रकार रहता है, वह कैसे कह सकता है कि सब क्षणिक हैं।

सन्तति (प्रवाह) को स्थायी कहना भी बौद्धोका अपने सिद्धान्त का त्याग करना है, क्योंकि उसके सिद्धान्तमे जब सार पदार्थ क्षणिक माने गये हैं, तब 'सन्तति' को स्थायी कहना क्या प्रलाप नहीं है।

जिस सन्तति-माननेका गर्व कर बौद्धोने प्रत्यभिज्ञा आदिमें उपस्थित दोषोंका निराकरण किया है, वह सन्तति क्या क्षणिक पदार्थसे अतिरिक्त कोई नवीन पदार्थ है। अथवा नहीं ?

यदि कोई नवीन पदार्थ नहीं है, तब तो उसके भी क्षणिक होनसे उक्त दोषोका निराकरण नहीं होता है और यदि क्षणिक पदार्थसे कोई नवीन पदार्थ है और वह स्थायी है, तो 'सार पदार्थ क्षणिक हैं" इस सिद्धान्तका विरोध होता है। क्षणिकका प्रवाह क्षणिकसे अतिरिक्त कैसे हो सकता है।

पूर्व आत्माके सदृश ही दूसरी आत्मा क्षणिकपक्षमें उत्पन्न होती रहती है और दूसरे क्षणमे विनाश होता रहता है, इसी लिये यह भ्रम होता है कि "वही यह आत्मा है" यह कहना भी तर्क रहित है, क्योकि पूर्व सदृश दूसरी आत्मा है, यह ज्ञान किस आत्माको होगा ? पूर्व क्षणकी और परक्षणकी आत्मासे भिन्न कोई तीसरी आत्मा पूर्व और पर आत्माकी अवस्थिति काल पर्यन्त स्थायी रहे तो वह कह सके कि पूर्व आत्माके सदृश यह पर आत्मा है, क्योंकि वह तीसरी पूर्व पर दोनोके स्वरूपको यथावत् समझने से कह सकती है कि उसीके सदृश यह है।

बौद्ध-सम्प्रदायमें दो क्षण पर्यन्त किसी आत्माकी स्थिति नहीं रहनेसे पूर्व-उत्तरकी आत्माका सादृश्य-ज्ञान किसको हो सकता है। हमने आगे चल कर क्षणिक वादका खण्डन सविस्तर किया है।

क्षणिकवादकी रक्षाके लिये ही बौद्धोंने आत्माको नित्य नहीं माना था, जब क्षणिक वादका सहस्रशः खण्डन अनेकानेक युक्तियोंके द्वारा हो गया है तब आत्माको नित्य माननेमें बौद्धोंको भी आपत्ति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि आत्माको नित्य नहीं माननेसे उसके प्राक्तन (पूर्व) जन्मके कर्म, तदनुसार दु:ख-सुख भोग आदि व्यवस्थाका पालन होना असम्भव है।

बौद्धोंने जो आत्मा और मनको एक ही पदार्थ कहा है वह भी असंगत है, क्योंकि ज्ञाता (आत्मा) को बाह्य घट-पट आदि पदार्थोंके प्रत्यक्ष ज्ञान करनेके लिये जिस प्रकार नेत्र आदि बाह्य इन्द्रियोंकी जरूरत है, उसी प्रकार आन्तर सुख-दु:ख आदि पदार्थोंके प्रत्यक्ष ज्ञान करनेके लिये ज्ञाताको एक आन्तर इन्द्रियकी जरूरत है, वही आन्तर इन्द्रिय 'मन' है। वह ज्ञानका करण (साधन) है और 'आत्मा' ज्ञानका कर्त्ता है, अतः आत्मा और मन भिन्न-भिन्न क्रिया-सम्पादन करनेसे दो पदार्थ माने जाते हैं। दोनो एक कभी नहीं हो सकते।

'मेरा मन शुद्ध है, अथवा अशुद्ध है' इस लौकिक व्यवहारमें भी मनमें ममत्व बुद्धि रहनेसे आत्मासे मन पृथक् है यही निश्चित होता है, क्योंकि ममत्व बुद्धि भेदका द्योतक है यह सर्व-सम्मत है। मन-आत्मवादके खण्डनमें इसका सविस्तर वर्णन किया गया है।

आत्माको क्षणिक मान कर उसकी परिशुद्धि मानना 'वदतो व्याघातः' दोष होता है, क्योंकि जो स्वभावतः क्षणिक है, उसकी परिशुद्धि क्या।

आत्माके नित्य मानने पर ही अविद्या आदि दोषोंके मिथ्या संसर्गसे कल्पित अशुद्धि और कल्पित बन्ध दोनों निवृत्त हो सकते हैं। मोक्ष कोई अभाव पदार्थ नहीं है, जो आत्माके विनाशसे उत्पन्न होता हो, किन्तु मोक्ष भाव पदार्थ है। आत्माके नित्य होने पर ही उसका मोक्ष संभव है।

बौद्धोंने कहा था—"राग-द्वेषकी लाछन आत्मामें लग जानेसे वह लाछन आत्मासे कभी हट नहीं सकता" यह कहना भी आत्माके वास्तव स्वरूपको नहीं जाननेका द्योतक है।

आत्मा नित्य और असंग है, उसमें किसी प्रकारका लाछन कभी नहीं लगा है और न कभी लगेगा। राग-द्वेष आदि मनके धर्म हैं, ये मनको लांछित करते रहे हैं और करेंगे। राग-द्वेष धर्म-युत मनके कल्पित संसगसे आत्मामें भी मनके राग-द्वेष भ्रमसे भासित होते हैं। इसका कारण-मन और आत्माके वास्तव स्वरूपका ज्ञान नहीं होना है। जैसे जवापुष्प (एक प्रकारका लाल पुष्प) के संसगसे स्फटिकमें, जो स्वरूपतः श्वेत होता है, लाल रंगका भान होने लगता है, इसका भी कारण यही है कि स्फटिकके वास्तव स्वरूपका ज्ञान नहीं है। उक्त प्रकारके भ्रमको हटाना ही वेदान्त शास्त्रका मुख्य उद्देश्य है।

मन जड़ है, क्योंकि वह भौतिक है यानी पंच भूतोंके सत्त्वगुणसे

उत्पन्न होता है। जब उसके उपादान कारण ही जड़ है, तो उसका जड़ होना तो स्वाभाविक ही है और जड़ पदार्थमें स्वयं कुछ क्रिया करनेकी शक्ति नहीं देखी जाती है। विना चेतनकी सहायतासे मनकी राग-द्वेषादिमय मानसिक क्रिया असंभव है। जैसे सूयका प्रतिविम्व दपर्णमें पड़ कर उस प्रतिविम्बके द्वारा अन्य पदार्थोंका प्रकाश स्फुटरूपसे दपण करता है और जैसे अन्धकारमें किसी पदार्थका दर्शन नहीं होता है, किन्तु दीप आदिके आलोक रहनेसे ही प्रकाश होकर पदार्थोंका प्रकाश होता है, उसी प्रकार चेतनात्माके प्रकाशसे ही मन अपनी मानसिक राग-द्वेषादिमय क्रिया-सम्पादन करनेमें समर्थ हो सकता है, अतः आत्माकी नित्यताका स्वीकार करना अनिवार्य है।

(३) वेद स्वतः प्रमाण है

श्रुति-स्मृतिको प्रमाण न मानना युक्ति-रहित है, क्योंकि पुरुष की अनेकता है, अतः उसकी वुद्धिकी भी अनेकता ही सिद्ध होती है। प्रत्येक व्यक्तिकी प्रकृति और रुचि भिन्न-भिन्न देखनेमें आती है, अतः उसके वुद्धि-भेद भी मानने ही पड़ते हैं।

श्रुति-स्मृतिको स्वतः प्रमाण नहीं माननेसे केवल अपनी-अपनी वुद्धिके द्वारा तत्त्व-निर्णय करनेसे वास्तव तत्त्व-निर्णय नहीं हो सकता है, क्योंकि एक व्यक्ति जैसा तत्त्व-निर्णय करेगा, दूसरा उससे ज्यादा वुद्धिमान् व्यक्ति उससे विपरीत तत्त्व-निर्णय कर सकता है। जो वस्तु प्रत्यक्षरूपसे देखनेमें नहीं आती है, उसका केवल मानवकी

बुद्धि और तर्कके आधार पर यदि निर्णय किया जायगा तो बुद्धिके आनन्त्यसे उसके वास्तव स्वरूपका निर्णय होना असम्भव है। वस्तुका वास्तव स्वरूप एक ही होता है। बुद्धिकी अनन्ततासे वस्तुका जो अलग-अलग स्वरूप निर्णय किया जायगा, वह वास्तव स्वरूप (तत्त्व-निणय) नहीं होगा, क्योंकि बुद्धिकी अवधि नहीं है, इस लिये केवल बुद्धिके आधार पर केवल तर्कके सहारे ही वस्तुका तत्त्व-निणय करना भूल है।

बुद्धि और तर्कमें भ्रम आदि अनेक दोप भी देखे जाते हैं, अतः केवल बुद्धिके द्वारा शुष्क तर्कसे सिद्धान्तकी स्थापना नहीं की जा सकती है, उसके लिये तो वेद ही पर्याप्तरूपसे प्रमाण है। वेदमें भ्रम-प्रमाद आदि कुछ भी दोप नहीं है, वह ईश्वरके श्वासरूप होनेसे अपौरुषेय कहा जाता है, उसी वेदके गम्भीर अर्थकी लौकिक शब्दमें स्मृतिकारोंने विशद व्याख्या की है, अतः श्रुति और तदनुकूल स्मृति दोनों मान्य हैं।

प्राचीन कालके ऋषिगण सर्वज्ञ और त्रिकालज्ञ अवश्य थे, उन्होंने जो ग्रन्थ निर्माण किया है वह सर्वथा प्रामाणिक है।

"त्रिकालज्ञ ऋषिगण भविष्यमें आने वाली प्रतिकूल घटनाओंको पहले ही क्यों नहीं रोक दिया" बौद्धोंका यह आक्षेप निन्दनीय है, क्योंकि अपने किये कर्मका फल भोग होता ही है, जो अवश्य भोग्य है, उसके भोग हुए बिना नहीं रहता है। साधारण ऐसे भी कुछ कर्म हैं जो समुचित पुरुषार्थ करनेसे विनष्ट हो जाते हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी जबरदस्त कर्म मानवके रहते हैं, जिनका भोग करना मानवको

अनिवार्य होता है, अतः सर्वशक्ति रखते हुए भी सृष्टिकी मार्यादित नियमको ऋषि लोग विशृंखलित नहीं करते थे, उसके विपरीत बल्कि व्यवस्थित मर्यादाका पालन करना और कराना ही ऋषियों का काम था।

कुछ कर्म यानी अवश्य भोग्य (प्रारब्ध कर्म) के सिवा अन्य कर्मोंके भोगमें मनुष्य परिवर्त्तन कर सकता है। उसमें अपने उत्थान-पतनका स्वयं मालिक है सही, किन्तु उसका कौनसा मार्ग है—किस प्रकार अपनी उन्नतिकी शिखर पर मनुष्य चढ़ सकता है यह जिज्ञासा होनी मनुष्यकी स्वाभाविक है। उसकी पूर्त्तिके लिये क्या-क्या मानवको उपादेय (ग्राह्य) है और क्या-क्या हेय (त्याज्य) है, यह सुचारुरूपसे जतानेके लिये परम दयालु ईश्वरके निःश्वासरूपसे वेद प्रगट हुए, अतः वे स्वतः प्रमाण हैं। उनकी प्रामाणिकताके आधार पर ही ऋषियोंके वचनमें विश्वास या श्रद्धा की जाती है, इसी लिये स्मृति शास्त्र भी हमारे मान्य होते हैं। वेदके अनुकूल जो वाक्य नहीं, वे आप्त वाक्य नहीं हैं, अतः वे हमारे हेय हैं।

स्मृति आदि अन्य ग्रन्थोंकी मानवको बुद्धि या तर्क सबकी प्रामाणिकता वेदके द्वारा जानी जाती है और वेदकी प्रामाणिकता स्वयं सिद्ध है इस लिये 'वेद' स्वतः प्रमाण अवश्य है।

(४) जीवन प्रवाहका इस शरीर तक ही हद न मानना

बौद्धोंके इस सिद्धान्तसे सर्वांशमें हमारा विरोध नहीं है, क्योंकि कर्मफल-भोगकी व्यवस्था पालनके लिये पूर्व-जन्म और पर-जन्ममें

बौद्धशब्दार्थ-विवेचन

गौतम बुद्धके पहले ही अनेक बुद्ध आविर्भूत हो चुके हैं, इसका विदेशीय बौद्धसम्प्रदायके लोग और अनेक पुरातत्त्वज्ञ प्रमाणके द्वारा समर्थन करते हैं।

अत्यन्त प्राचीन और प्रामाणिक वाल्मीकीय रामायणमें बुद्धका नाम और उस मतकी निन्दा देखनेमें आती है। जैसे—

'यथाहि चोरः स तथाहि बुद्धस्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि'

इत्यादि (अयोध्या काण्ड १०६ सर्ग ३४ वा श्लोक)

पूर्व समयमें देवगणके प्रार्थनासे भगवान् विष्णुके शरीरसे उत्पन्न होकर माया-मोहने असुरोंके प्रति बौद्ध-धर्मका उपदेश किया है यह विष्णुपुराणके तृतीय अंशके १८ वें अध्यायमें कथन किया गया है। जो क्षणिक बुद्धिको ही आत्मा कहते हैं, बुद्धिसे भिन्न आत्मा नहीं मानते हैं, अतः वे 'बौद्ध' नामसे कहे जाते हैं।

बौद्ध-ग्रन्थोंमें भी 'बौद्ध' शब्दकी इस प्रकारकी व्याख्या उपलब्ध होती है। जैसे—'बुद्धितत्त्वे व्यवस्थितो बौद्धः'

बौद्धके चार भेद

बौद्धके चारभेद होते हैं जैसे—सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक।

उनमेंसे सौत्रान्तिक और वैभाषिक तो बाहरकी वस्तुओंको भी मानते हैं, किन्तु योगाचार बाह्य वस्तुओंको नहीं मानते हैं। केवल विज्ञानको मानते हैं। माध्यमिक सब कुछ शून्य ही बतलाता है।

बौद्ध मतको ही 'वनाशिक मत' भी कहते हैं। उक्त जो चार मत हैं, वे शिष्योंके भेदसे हैं, किन्तु तत्त्व-निर्णयसे भेद नहीं है। तत्त्व-निर्णय सबका एक ही है। जिसकी बुद्धि हीन (...) उसको सर्वास्तित्ववादके द्वारा शून्यताका ज्ञान कराया जाता है, और जिसकी बुद्धि मध्यम है, उसको ज्ञानमात्र-अस्तित्ववादके द्वारा शून्यताका ज्ञान कराया जाता है। जिसकी बुद्धि उत्कृष्ट (उत्तम) है, उसको साक्षात् ही शून्यता तत्त्वका ज्ञान कराया जाता है, अतः बौद्धोंका शून्यवाद ही मुख्य वाद है, और शून्यताका निश्चय कराना ही तत्त्व-निर्णय है। 'बोधिचित्त विवरण' ग्रन्थमें जैसा कहा है—

देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः।
भिद्यन्ते बहुधा लोक उपायैर्बहुभिः पुनः ॥ १ ॥
गम्भीरोत्तानभेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणा।
भिन्नापि देशनाऽभिन्ना शून्यताद्वयलक्षणे ॥२॥

अर्थ—लोकनाथानाम् = बुद्धका देशनाः = आगम (उपदेश) सत्त्वाशयवशानुगाः = प्राणिओंके अभिप्रायके अनुसार होते हैं, यानी जिसका जैसा अभिप्राय रहता है, उसके अनुकूल उपदेश उसको देकर पश्चात् तत्त्व-साक्षात्कार कराया जाता है। उनके आगमका लागोंमें अनेक प्रकारका विभेद दृष्ट होता है। जैसे—उनमें शून्यता, क्षणिकत्व, सर्वास्तित्व आदि अनेक भेद हैं। *गम्भीर* = अगाध और उत्तान यानी उसके विपरीत जो स्थूल दृष्टि-योग्य है, उसके भेदसे और कहीं उभय लक्षणा यानी ज्ञानास्तित्व और बाह्यास्तित्व दोनोंके

प्रतिपादन करने वाली देशना है, वह उक्त प्रकारसे विभिन्न होने पर भी शून्यतारूप अद्वय लक्षणमें एक है, यानी शून्यता विभिन्न तात्पर्यका प्रतिपादन नहीं करती है, अतः वह एक रूप है।

सारांश यह कि अधिकारीके भेदसे ही बौद्धोंके चार भेद कहे जाते हैं, किन्तु सबका तात्पर्य शून्यतामें ही है। यद्यपि सौत्रान्तिक और वैभाषिकका भी परस्पर मतभेद दृष्ट होता है, जैसे—सौत्रान्तिकके मतमे 'अर्थ' अनुमेय होता है और वैभाषिकके मतमें 'अर्थ' का प्रत्यक्ष माना गया है, तथापि सर्वास्तित्ववादमें उक्त दोनोंका मतभेद नहीं है।

सौत्रान्तिक और वैभाषिकके मतमें "सर्वास्तित्ववाद" माना गया है यानी बाह्य और आन्तर दोनों वस्तु मान्य है। योगाचारके मतमें "विज्ञानास्तित्वमात्रवाद" माना गया है और माध्यमिकके मतमें "सर्वशून्यत्ववाद" माना गया है।

इस प्रकार बौद्ध-मतमें सर्वास्तित्ववाद, विज्ञानास्तित्वमात्र वाद और सर्वशून्यत्ववादके भेदसे तीन प्रकारके वाद कहे जाते हैं।

बाह्य और आभ्यन्तर जगत्

यह जगत् सर्वदा दो प्रकारका है, बाह्य और आभ्यन्तर। भूत और भौतिक पदार्थ बाह्य जगत् कहा गया है। चित्त और चैत्त पदार्थ आन्तर जगत् कहा गया है।

भूत

पृथिवी धातु, जल धातु, अग्नि धातु, और वायु धातु ये चारों

धातु भूत हैं। आवरणका अभावमात्र ही आकाश है, अतः आकाशको भूत नहीं माना है।

भौतिक

रूप आदि विषय और नेत्र आदि इन्द्रिय भौतिक यानी भूतोंका कार्य है।

भूतोंका स्वभाव

पृथिवीका कठिन (कठोर) स्वभाव होता है। जलका स्निग्ध स्वभाव होता है। अग्निका उष्ण स्वभाव होता है। वायुका ईरण (चलन) स्वभाव होता है।

चित्त

आभ्यन्तर (शरीरके अन्दरमें) जो विज्ञान है वह चित्त है, यही आत्मा है। बौद्ध लोग आत्माको विज्ञान कहते हैं।

चैत्त

चित्तका जो कार्य है यानी विज्ञान रूप आत्माके द्वारा जो ज्ञेय होता है, वह चैत्त अथवा चैतिक कहा जाता है।

चित्त और चैत्त इन्हीं दोनों पदार्थोंमें बौद्धोंका 'पंच स्कन्ध' अन्तर्गत हो जाते हैं।

रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कारके भेदसे 'स्कन्ध' पांच प्रकारके कहे जाते हैं।

रूप स्कन्ध

विषय और इन्द्रियको 'रूप स्कन्ध' कहते हैं,

यद्यपि पृथिवी आदि विषय वाह्य हैं, तथापि शरीरमे उनकी अवस्थिति रहनेसे यानी शरीराकारमें संहत (परिणत) होनेके कारण आर जो शरीराकारमें संहत नहीं हैं, वे विषय भी इन्द्रियोंके संवन्धसे आन्तर चित्तके द्वारा निरूप्यमाण (ज्ञेय) होनेके कारण आन्तर-समुदायमे गिने जाते हैं, अथवा इन्द्रियोके संवन्धसे पृथिवी आदि विषय भी आध्यात्मिक (आभ्यन्तर) कहे जाते हैं।

विज्ञान स्कन्ध

आलय विज्ञान और प्रवृत्ति विज्ञानका जो प्रवाह है उसे 'विज्ञान-स्कन्ध' कहते हैं।

आलय विज्ञान

'अहम्, अहम्' 'मैं, मैं' इस प्रकारका जो अनुभव होता है, उसे 'आलय विज्ञान' कहते है। यह आत्मविषयक ज्ञान हैं यानी 'मैं' 'मैं' इस रूपसे अपनी आत्माका ज्ञान है।

प्रवृत्ति विज्ञान

इन्द्रिय-जन्य जो रूपादि विषयका ज्ञान है उसे 'प्रवृत्ति विज्ञान' कहते हैं। घट-पट आदि समस्त जगतका जो इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञान होता है वह 'प्रवृत्ति विज्ञान' है। जैसा कहा है—

तत्स्यादालय विज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम्।
तत्स्यात्प्रवृत्ति विज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत्॥

अर्थ—वह आलय विज्ञान है जो अहं='मैं' का आश्रय है और वह प्रवृत्ति विज्ञान है जो नीलादि आकार वाला है। आलय विज्ञानकी धारा सुषुप्तिमें भी बनी रहती है और परलोकमें भी जाती है।

वेदना स्कन्ध

प्रिय विषयके स्पर्श (संबन्ध) होनेसे जो चित्तकी एक प्रकारकी सुखकी अवस्था होती है, अप्रिय विषयके स्पर्श होनेसे जो चित्तकी एक प्रकारकी दुःखकी अवस्था हो जाती है और जो विषय न तो प्रिय है और न अप्रिय है ऐसे विषयके स्पर्श होनेसे चित्तकी जो एक प्रकारकी सुख-दुःख-रहित अवस्था होती है, वह तीनों प्रकारकी जो अवस्था है वह 'वेदना स्कन्ध' है।

संज्ञा स्कन्ध

संज्ञाके संसग (संबन्ध) होने योग्य जो प्रतिभास है, उसको 'संज्ञा स्कन्ध' कहते हैं।

जैसे—'डित्थः कुण्डली गौरो ब्राह्मणो गच्छति' डित्थ नामका कुण्डलधारी गौर वर्ण ब्राह्मण जाता है। किसीके मतमें देवदत्त आदि नामको ही संज्ञा स्कन्ध कहते हैं।

संस्कार स्कन्ध

राग-द्वेष आदि क्लेश और मद-मान आदि उपक्लेश तथा धर्म-अधर्म ये सब 'संस्कार स्कन्ध' कहे जाते हैं।

उक्त पंच स्कन्धके समुदायको 'पंच स्कन्धी' कहते हैं। संज्ञ स्कन्धमें सविकल्प प्रत्यय (ज्ञान) रहता है और 'आलय विज्ञान स्कन्ध' में निर्विकल्प प्रत्यय रहता है।

इनमें से विज्ञान स्कन्ध चित्त वा आत्मा है। शेष चारों स्कन्ध चैत्त वा चैत्तिक हैं। इनका संघात आध्यात्मिक संघात है।

परमाणुओंका संघात

पृथिवी आदिके परमाणुओंसे यह सारा भूत-भौतिक जगत् बनता है। यह जगत परमाणुओंका संघात (समुदाय) मात्र है। अर्थात् पार्थिव परमाणुओंका पुञ्ज ही पृथिवी है और पुञ्ज ही वृक्ष आदि हैं, यह पृथिवी आदि परमाणुओंसे कोई अलग वस्तु नहीं बनते हैं, किन्तु एक संस्थान (स्वरूप) विशेषमें परमाणुओंका ही पुञ्ज (ढेर) है।

प्रश्न—यदि वृक्ष परमाणुओंका समुदाय है तो 'यह एक वृक्ष है' इस प्रकार वृक्षमें एकत्व कैसे प्रतीत होता है! क्योंकि समुदायमें बहुत्व रहना चाहिये।

समाधान—जैसे मनुष्य-समुदायमें 'यह एक सेना है' और वृक्ष-समुदायमें 'यह एक वन है' इसी प्रकार यहां भी समुदायमें एकत्व बुद्धि होती है।

प्रश्न—परमाणुओंका संघात यदि वृक्ष है तो उसका प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये, क्योंकि परमाणु प्रत्यक्ष-योग्य नहीं है।

समाधान—जैसे अत्यन्त दूरसे एक केश (बाल) का प्रत्यक्ष

नहीं होता है, किन्तु बालोंके संघका प्रत्यक्ष हो जाता है, उसी प्रकार अलग-अलग परमाणुके प्रत्यक्ष नहीं होने पर भी परमाणु संघका प्रत्यक्ष हो सकता है, अतः परमाणु-संघरूप जो वृक्ष आदि हैं, उनके प्रत्यक्ष होनेमे कोई आपत्ति नहीं हो सकती है ।

बौद्ध-मतमे 'प्रतीत्य समुत्पाद' माना जाता है, यह बौद्धोंका अपना सिद्धान्त है। इसीके माननेसे ईश्वर आदि कोई चेतन नहीं माना जाता है ।

प्रतीत्य समुत्पाद

बाह्य और आभ्यन्तर जो कुछ भी कार्य हो रहे हैं उनका ईश्वर आदि कोई कर्त्ता नहीं है, किन्तु समस्त कारणके मिल जानेसे काय अपने आप हो जाता है, इसीको प्रतीत्य समुत्पाद कहते हैं। इसका लक्षण इस प्रकार बुद्धने कहा है—"इदं प्रत्यय फलम्"

इदं कार्यं प्रत्ययस्य कारणसमुदायमात्रस्य फलं, न चेतनस्य कस्यचिदित्यथः ।

अर्थात् सारा काय कारण-संघका फल है, अन्य किसीका नहीं, यानी कारण-समुदायको पाकर काय अपने आप हो जाता है। कारण-सामग्री अर्थात् कारण-समुदायमे काय-जनकता शक्ति है, अतः किसी काय-सम्पादनके लिये ईश्वर आदिका मानना व्यर्थ है जैसे बुद्ध-सूत्रमे कहा है—

"उत्पादाद्वा तथागतानामनुत्पादाद्वा स्थितैषा धर्माणां धर्मता। धर्मस्थितिता धर्मनियामकता प्रतीत्यसमुत्पादानुलोमता"

तथागताना = बुद्धके मतमे धर्माणा = काय और कारण दोनोंकी धर्मता अर्थात् काय-कारण भाव स्वरूपता उत्पादसे अथवा अनुत्पादसे होता हे, यानी जिसक रहने पर जा उत्पन्न होता हे और जिसके नहीं रहने पर जा उत्पन्न नहीं होता है वह उसका कारण और काय होता है अर्थात् जो उत्पन्न होता हे वह तो काय है और जिससे उत्पन्न होता है वह कारण है।

धर्मस्य = कायकी जो एक प्रकारकी स्थिति होती हे, (जो कारणकी अपेक्षा करके ही होती है) और धर्मकी = कारणकी भी कार्यके प्रति नियामकता रहती हीं हे इस प्रकारका जो काय कारण भाव है वह किसी चेतनके अधीन नहीं है। किन्तु प्रतीत्य समुत्पादक अधीन है। बाह्य और आध्यात्मिक भदसे दो प्रकारका 'प्रतीत्य समुत्पाद' होता है।

फिर भी बाह्य और आन्तर दोनो 'प्रतीत्य समुत्पाद' हेतूपनिबन्ध और प्रत्ययोपनिबन्धके भेदसे दो दो प्रकारके होते हैं।
क्योंकि बौद्धमतमें बाह्य और आध्यात्मिक समस्त कायकी उत्पत्ति हेतूपनिबन्ध और प्रत्ययोपनिबन्ध इन दो प्रकारोंसे कही गयी है।

हेतूपनिबद्ध कार्य

जो कार्य एक-एक हेतुसे उत्पन्न होता है, उसे हेतूपनिबद्ध काय कहते हैं।

जैसे बाह्य काय—बीजसे अंकुर होता है, अंकुरसे पत्र (पत्ता) उत्पन्न होता है, इसी तरह पुष्पसे फल उत्पन्न होता है। आध्यात्मिक कार्य—अविद्यासे संस्कार, संस्कारसे विज्ञान, विज्ञानसे नाम-रूप उत्पन्न होता है इत्यादि।

प्रत्ययोपनिबद्ध कार्य

जो कार्य अनेक हेतुओंके समवधान (इकट्ठा) होनेसे उत्पन्न होता है, वह प्रत्ययोपनिबद्ध कार्य कहा जाता है। हेतुओंके समुदाय (संघ) को 'प्रत्यय' कहते हैं, उनसे उत्पन्न होनेके कारण प्रत्ययोपनिबद्ध काय कहा जाता है।

जैसे बाह्य कार्य—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, ऋतु इन छ धातुओंके समवाय (एकत्री करण) होनेसे बीजसे अंकुर उत्पन्न होता है। आध्यात्मिक कार्य—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, विज्ञान इन छ धातुओंके समवायसे शरीर उत्पन्न होता है।

बाह्य प्रतीत्य समुत्पादके

हेतूपनिबन्ध

एक-एक कारणसे जो कार्यका संबन्ध है, उसे 'हेतूपनिबन्ध' कहते हैं। जैसे—'बीजसे अंकुर उत्पन्न होता है, अंकुरसे पत्र, पत्रसे डाली,

डालीसे नाल, नालसे गर्भ, गर्भसे शूक (नोक) और शूकसे पुष्प और पुष्पसे फल होता है। इस प्रकार उत्पत्ति-क्रम रहने पर भी बीजको कभी यह ज्ञान नहीं होता है कि 'मैं अंकुर पैदा करता हूं', अंकुरको भी यह ज्ञान नहीं होता है कि 'मैं बीजसे उत्पन्न हुआ हूं' और इसी प्रकार पुष्पको यह ज्ञान नहीं होता है कि 'मैं फलको पैदा करता हूं' और फलको भी यह ज्ञान नहीं होता है कि 'मै पुष्पसे बना हूं,' इसलिये चेतन या किसी अन्य अधिष्ठाताके नहीं रहने पर भी बीज आदिके कार्य-कारण भावका नियम देखा जाता है यह हेतूप निबन्धका बीजसे लेकर फल पर्यन्त जो उदाहरण कहा गया है वह बाह्य उदाहरण कहा गया है।

बाह्य प्रतीत्य समुत्पादके प्रत्ययोपनिबन्ध

कार्यका जो कारण-समुदायसे संबन्ध है, उसे प्रत्ययोपनिबन्ध कहते हैं।

बीजसे अंकुरकी उत्पत्ति होनेमें पृथिवी आदि छः धातुओंका जो संघ है वह बाह्य प्रत्ययोपनिबन्धका उदाहरण है।

साराश यह है कि छः धातुओंके समवाय होनेसे बीज रूप कारणसे अंकुर उत्पन्न होता है। उसमे पृथिवी धातु बीजका संग्रह काय करता है, जिससे अंकुर कठिन होता है। जल धातु बीजको स्निग्ध करता है। तेज धातु बीजको परिपक्व करता है। वायु धातु बीजका अभिनिर्हरण करता है, जिससे अंकुर बीजसे निकलता है। आकाश

धातु बीजका आवरण हटाता है। ऋतु धातु बीजको परिणत करता है।

इस प्रकार उक्त ६ धातुओंका समुदाय स्वरूप बीजके बोने पर अंकुर उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं।

यहां पर पृथिवी धातुको यह कभी ज्ञान नहीं होता है कि 'मैं बीजका संग्रह कार्य करता हूं'। इसी प्रकार ऋतुको भी यह ज्ञान कभी नहीं होता है, कि 'मैं बीजको परिणत करता हूं।' ऐसे अंकुरको भी यह ज्ञान नहीं होता है कि 'मैं इन धातुओंसे बना हुआ हूं।'

उक्त प्रकार 'बाह्य प्रतीत्य समुत्पाद' हेतूपनिबन्ध और प्रत्ययोपनिबन्ध इन दो कारणोंसे ही होता है।

इसी प्रकार आध्यात्मिक प्रतीत्य समुत्पाद' भी उक्त दो कारणोंसे होता है यानी वह भी हेतूपनिबन्ध और प्रत्ययोपनिबन्धसे होता है।

आध्यात्मिक प्रतीत्य समुत्पादके हेतूपनिबन्ध

अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा, मरण, शोक, परिदेवना, दुःख, दौमनस्य इत्यादि उपक्लेश कहे जाते हैं।

अविद्या यदि नहीं होती, तो संस्कार यानी राग-द्वेष-मोह यह तीन प्रकारका संस्कार भी नहीं होता, इसी तरह संस्कार नहीं होता तो विज्ञान नहीं होता और विज्ञान नहीं होता तो नामरूप नहीं

होता, इसी प्रकार जाति नहीं होती तो जरा-मरण आदि नहीं होते।

वहा अविद्याको यह ज्ञान नहीं होता है कि 'मैं संस्कारोंका रचयित्री हूं' और संस्कारोंको भी यह ज्ञान नहीं होता है कि 'हम अविद्यासे बने हैं'। इसी प्रकारसे जातिको भी यह ज्ञान नहीं होता है कि 'मैं जरा-मरण आदिका विधान करता हू' और जरा-मरण आदिको भी यह ज्ञान नहीं होता कि 'हम सब जाति आदिसे बने हैं।'

जिस प्रकार बीज आदि अचेतन पदार्थके रहनेसे ही बिना किसी अन्य चेतन अधिष्ठाताके भी अंकुर आदिकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार अविद्या आदि स्वयं अचेतन पदार्थके रहनेसे ही बिना किसी अन्य चेतन अधिष्ठाताके भी संस्कार आदिकी भी उत्पत्ति होती है।

'इदं प्रतीत्य = प्राप्य इदं उत्पद्यते' यानी इसको पा कर यह उत्पन्न होता है, केवल इतना ही दृष्ट होता है। किसी चेतन ईश्वर आदिका उसमें अधिष्ठातृत्व नहीं देखा जाता है। इस प्रकार आध्यात्मिक प्रतीत्य समुत्पादका हेतूपनिबन्ध कहा गया है।

आध्यात्मिक प्रतीत्य समुत्पादके प्रत्ययोपनिबन्ध

जैसे—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, विज्ञान इन छः धातुओंके संमेलनसे काय (शरीर) उत्पन्न होता है। उसमें "पृथिवी धातु" शरीरका काठिन्य-सम्पादन करता है। 'जल धातु' शरीरको स्निग्ध करता है। 'तेज धातु' खाये अन्न-जलको

पचाता है। 'वायु धातु' शरीरका श्वास-प्रश्वास सम्पादन करता है। 'आकाश धातु' शरीरके भीतर अनावरण करता है। जो नाम-रूपका सम्पादन करता है, तथा मनोरूप विज्ञानका सम्पादन करता है वह 'विज्ञान धातु' है। इसीको "आलय विज्ञान" कहते हैं।

जब आध्यात्मिक पृथिवी आदि धातु अविकल (पूर्ण) रूपसे रहते हैं तब उन सबके समेलनसे शरीरकी उत्पत्ति होती है, किन्तु यह ज्ञान पृथिवी आदि धातुओंको नहीं होता है कि 'हम सब शरीरके काठिन्य आदिका सम्पादन करते हैं,' और शरीरको भी यह ज्ञान नहीं होता है कि 'मैं पृथिवी आदि धातुओंसे बना हुआ हूं'। वह भी अचेतन पृथिवी आदि धातुओसे शरीरकी उत्पत्ति होती है। वहा कोई चेतन सचालक नहीं रहता है, जो उसका अधिष्ठाता बन सके। इस प्रकार बीज आदिसे अंकुरकी उत्पत्ति होती है।

यह 'प्रतीत्य समुत्पाद' सबत्र दृष्ट हो रहा है, इसका अपलाप करना (छिपाना) असभव है।

उक्त छ॰ धातुओंमें जो—एक सज्ञा, पिण्ड सज्ञा, नित्य सज्ञा, सुख सज्ञा, सत्त्व सज्ञा, पुद्‌गल सज्ञा, मनुष्य सज्ञा, मातृ-दुहितृ सज्ञा और अहकार-ममकार सज्ञा होती है, वही 'अविद्या' है। वही ससारके समस्त अनर्थका मूल कारण है।

उस अविद्याके रहने पर ही राग, द्वेष और मोह ये तीन प्रकारके संस्कार विषयोंमें होते हैं यानी सांसारिक विषयोंमें जो किसीमें राग, किसीमें द्वेष और किसीमें मोह होता है, उसका कारण 'अविद्या' है। किसी वस्तुका जो ज्ञान होता है, वह 'विज्ञान' है। रागादि

संस्कारसे धर्माधम रूप 'विज्ञान' उत्पन्न होता है, अथवा उन संस्कारोंसे गर्भस्थको पहला विज्ञान उत्पन्न होता है। विज्ञानसे 'नाम-रूप' उत्पन्न होता है। नामके आश्रय होनेके कारण पृथिवी आदि चार जो रूपवान् पदार्थ हैं, जो शरीरके उपादान कारण स्कन्ध हैं, वे 'नाम' कहे जाते हैं और उन्हीं उपादान कारणोंको लेकर जो रूपवान् शरीर बनता है वही 'रूप' कहा जाता है। गर्भ बने हुए शरीरकी कलल, बुद्बुद आदि अवस्था 'नाम-रूप' है। वह नाम-रूप विज्ञानसे उत्पन्न होता है, नाम और रूपका यानी कार्य-कारणकी एकता करके उक्त कथन है।

पृथिवी आदि छः धातुओंका आयतन (घर) 'षड़ायतन' कहा जाता है। नाम-रूपसे मिले हुए इन्द्रियोंको 'षड़ायतन' कहते हैं।

नाम-रूप और इन्द्रिय इन तीनोंके संमेलनको 'स्पर्श' कहते हैं।

सुख-दुःख आदिको 'वेदना' कहते हैं, यह 'स्पर्शसे' उत्पन्न होती है। वेदना रहने पर 'यह सुख फिर भी मुझे प्राप्त करना चाहिये' इसप्रकार का जो निश्चय करना है उसे 'तृष्णा' कहते हैं। तृष्णासे 'उपादान' यानी वाणी और शरीरकी चेष्टा होती है, यह प्रवृत्ति विशेष है। उपादानसे 'भव' यानी 'धर्म-अधर्म' होता है। उससे 'जाति' यानी जन्म होता है, उसीको 'स्कन्ध-प्रादुर्भाव' कहते हैं। जातिसे 'जरा-मरण' आदि होते हैं। उत्पन्न जो स्कन्ध हैं, उनके परिपक्व अवस्थाको 'जरा' कहते हैं, और स्कन्धोंका नाश होना 'मरण' है। पुत्र, कलत्र (स्त्री) आदिमें आसक्ति रहनेसे मूढ़ व्यक्तिका जो अन्तर्दाह है, उसे 'शोक' कहते हैं। शोकसे जो हा मातः ? हा तात ! हा पुत्र-कलत्र आदि ? इस

प्रकारका विलाप करना है, उसे 'परिदेवना' कहते हैं। मरणका जो क्लेश है, उसे 'दुःख' कहते हैं। मानस दुःखको 'दौर्मनस्य' कहते हैं।

इस प्रकारके और जो उपाय हैं, वे उपक्लेश कहे जाते हैं। ये सब परस्पर एक दूसरेके कारण होते हैं यानी जन्म आदि कारणोंसे अविद्या आदि उत्पन्न होते हैं और अविद्या आदि कारणोंसे जन्म आदि उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार घटी यन्त्रकी तरह यानी घड़ीकी सुईकी तरह सदैव उन अविद्या आदिका क्रम चालू ही रहता है। उन्हीं अविद्या आदिका संघातरूप यह जगत् रचा जाता है।

प्रश्न—बौद्धमतमें हेतूपनिबद्ध जो कार्य कहा गया है, उस पक्षमें कार्य होनेमें कारणोंसे अतिरिक्त दूसरोंकी अपेक्षा नहीं होती है, केवल कारणसे अपने आप कार्य हो सकता है, किन्तु पंच स्कन्धका जो समुदाय है, उस संघातकी उत्पत्ति केवल कारणोंके अधीन नहीं है, क्योंकि वह तो नाना कारणोंके संमेलनसे उत्पन्न होता है, वह प्रत्ययोपनिबद्ध है, अतः वह कारणोंके संमेलनसे उत्पन्न होता है और कारणोंका संमेलन करने वाला चेतनसे अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं हो सकता।

सारांश यह कि जहां अंकुरकी उत्पत्तिमें अकेला बीज ही मुख्य हेतु है, दूसरे कारण सहायक रहते हैं, जब बीजको दूसरे कारणोंकी सहायता मिल जाती तब वहां बीज स्वयं अंकुर उत्पन्न कर सकता है, किन्तु जहां अनेक हेतुओंके समवधानसे एक कार्य उत्पन्न होता है, वहां उन हेतुओंका समवधान (इकट्ठा) करने वाला अवश्य कोई चेतन पदार्थ मानना पड़ेगा, क्योंकि यह जड़ पदार्थ अपने आप

आ कर सामंजस्यसे इकट्ठा नहीं हो सकते हैं। जैसे पंच स्कन्धोंका समुदाय है। वह किसी एक हेतुमात्रके अधीन उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु नाना हेतुओंके समवधानसे उत्पन्न होता है और उन सबका समवधान (इकट्ठा) विना चेतनके होना असंभव है।

समाधान—उपसर्पण प्रत्ययसे इकट्ठा होना सम्भव है।

उपसर्पण प्रत्यय

निकट लाने वाले कारणको 'उपसर्पण प्रत्यय' कहते हैं। जैसे कारणको पा कर कार्य अपने आप होता है, वैसे उन कारणोंका इकट्ठा होना भी इकट्ठा करने वाले कारणोंसे अपने आप होता है, उन इकट्ठा करने वाले कारणोंको 'उपसर्पण प्रत्यय' कहा जाता है। चित्त और चैत्तकी उत्पत्तिके चार कारण होते हैं—विषय, करण, सहकारी और संस्कार।

इन कारणोंसे चित्त अर्थात् रूपादि ज्ञान और चैत्त अर्थात् सुखादि उत्पन्न होते हैं।

जैसे नील-ज्ञानका नीली वस्तु 'विषयरूप' कारण है। नेत्र 'करण (साधनरूप)' कारण है। प्रकाश 'सहकारी (सहायकरूप)' कारण है।

समनन्तर (पहिली) प्रतीति 'संस्काररूप' कारण है। सारांश यह कि कारण जब मिलते हैं, तो कार्य अपने आप हो जाता है, जिन कारणोंके मिलनेसे कार्य होता है, वही कारण माने जा सकते हैं। जैसे—बीजके न होते हुये अंकुर नहीं होता है और बीजके होते हुए अंकुर होता है, इस लिये बीज अंकुरका कारण है।

इसी प्रकार पृथिवी आदि ऽ धातुओंके समुदाय (सब) का सम्मेलन जब तक नहीं होता है तब तक बीजके द्वारा अंकुर नहीं हो सकता है और जब पृथिवी आदि धातुओंका सम्मेलन हो जाता है तो फिर किसी अन्य चेतन (ईश्वर) आदिकी प्रतीक्षा नहीं होती है, बीजसे अंकुर उत्पन्न हो जाता है, अतः उन कारणोंसे अलग चेतनको कारण माननेकी कोई जरूरत नहीं है। चेतनके बिना भी कोई कार्य नहीं रुकता है, जिससे उसको भी कारण माना जाय। जिस तरह कार्य अपने कारणोंसे अपने आप होता है, इसी तरह कारणोंका समवधान भी अपने आप होता है, यहाँ भी किसी अलग चेतनकी प्रतीक्षा नहीं होती है इस लिये कोई अलग चेतन आदि कारण नहीं है।

वस्तुमात्र क्षणिक है

जिस तरह विद्युत् क्षणिक है, एक क्षण ठहरती है, दूसरे क्षण नहीं, इसी तरह सारे ही भाव क्षणिक हैं। एक क्षणमें उत्पन्न होते हैं, दूसरे क्षणमें नष्ट होते हैं। जो पदार्थ स्थिर प्रतीत हो रहे हैं, वे सब क्षण क्षणमें बदल रहे हैं, एक अवस्थामें नहीं ठहरते हैं। इसी लिये बडी-बडी कठिन वस्तुएँ भी समय पा कर जीर्ण-शीर्ण हो जाती हैं। वे किसी एक दिनमें जीर्ण-शीर्ण नहीं होती हैं, किन्तु लगातार क्षण-क्षणमें जीर्ण-शीर्ण होती चली आयी हैं। स्थायी कोई वस्तु नहीं है। प्रत्येक वस्तु बढती है या घटती है, ठहरी नहीं रह सकती है, इस लिये पहले क्षणमें जो भाव होता है, वह दूसरे क्षणमें नहीं रहता,

अर्थक्रियाकारित्व यानी कार्यजनकत्व ही वस्तुमात्रका सत्त्व है। जो किसी कार्यका जनक नहीं है वह 'सत्' नहीं है, जैसे नरशृंग आदि।

अर्थक्रियाकारित्व ही सत्त्व है

सारे पदार्थ अर्थ क्रियाकारी हैं, अर्थक्रियाकारी होना (किसी कार्यको उत्पन्न करना) ही भाव पदार्थ या 'सत्' का लक्षण है। वह अर्थक्रियाकारी होना यानी उसकी जो अर्थक्रियाकारित्व शक्ति है वह अक्षणिक पदार्थमें नहीं रह सकती है, क्योंकि वर्त्तमान अर्थक्रिया करनेके समय आगामी (भावी) अर्थक्रियाकी शक्ति उसमें है ? अथवा नहीं ?

यदि है, तो उस कार्यकी भी उत्पत्ति उसी क्षण होनी चाहिये, क्योंकि जो जब जिसके करनेमें समर्थ है, वह उसी समय उसे करता है, जैसे सामग्री अपने कार्यको उत्पन्न करती है। यदि वह भी समर्थ है तो अपने कार्यको उत्पन्न करे। यदि उसमें उसके करनेका सामर्थ्य ही नहीं, तो कभी भी उत्पन्न न करे, जैसे पत्थरका टुकड़ा अंकुरको उत्पन्न कभी नहीं करता है। यदि यह कहा जाय कि समर्थ भी कारण दूसरे सहकारियोंके मिलने पर कार्य करता है, जब जैसे सहकारी मिलते हैं तब वैसा कार्य होता है, जैसे पृथिवी आदि छः धातुओंके सम्बन्धसे बीज अंकुरको उत्पन्न करता है ? तो इस पर यह प्रश्न उठता है कि सहकारी कारण उस बीजमें कोई अतिशय (विशेषता) प्रदान करते हैं ? या नहीं ? यदि नहीं, तो

पर यह जो प्रतीति होती है कि 'यह वही वस्तु है', इसका कारण सादृश्य है यानी उसी तरहके होनेसे वैसी प्रतीति होती है। जैसे—दीपककी शिखा (लपट) क्षण-क्षणमें बदलती रहती है किन्तु एक ही प्रतीत होती है। जैसे नदीका प्रवाह बहता चला जा रहा है, एक क्षण भी नहीं ठहरता, इसी तरह अन्दर विज्ञानकी धारा बह रही है और बाह्य पदार्थोंका भी प्रवाह बह रहा है और बहता चला जा रहा है, एक क्षण भी ठहरता नहीं।

विज्ञान क्षण-क्षणमे अपना आकार बदलता रहता है, इस क्षणमें नीलका विज्ञान है, तो दूसरे क्षण पीतका विज्ञान है और तीसरे क्षण कोई और ही विज्ञान है।

इस प्रकार विज्ञानकी एक धारा है, जिसके आकार बदलते हैं सही, किन्तु धारा (प्रवाह) अविच्छिन्न (अखण्ड) रहती है। जब चित्त बाहरके रूपोंको जानता है, तो बाहरके रूपोंमें जाता हुआ स्वयं तदाकार हो जाता है। नीलको जानता हुआ नीलाकार और पीतको जानता हुआ पीताकार हो जाता है। वही विज्ञान 'प्रवृत्ति विज्ञान' कहा गया है। प्रवृत्तिसे रहित अवस्थामें विज्ञानको अपने स्वरूप मात्रका ज्ञान होता है।

अर्थ-क्रियाकारी

जो किसी प्रयोजनका निर्वाह करता है, यानी जो किसी कार्यका जनक (उत्पादक) होता है, उसे 'अर्थ-क्रियाकारी' कहते हैं।

अर्थक्रियाकारित्व यानी कार्यजनकत्व ही वस्तुमात्रका सत्त्व है। जो किसी कार्यका जनक नहीं है वह 'सत्' नहीं है, जैसे नरशृंग आदि।

अर्थक्रियाकारित्व ही सत्त्व है

सारे पदार्थ अर्थ क्रियाकारी है, अर्थक्रियाकारी होना (किसी कार्यको उत्पन्न करना) ही भाव पदार्थ या 'सत्' का लक्षण है। वह अर्थक्रियाकारी होना यानी उसको जो अर्थक्रियाकारित्व शक्ति है वह अक्षणिक पदार्थमे नहीं रह सकती है, क्योंकि वर्त्तमान अर्थ-क्रिया करनेके समय आगामी (भावी) अर्थक्रियाकी शक्ति इसमें है ? अथवा नहीं ?

यदि है, तो उस कार्यकी भी उत्पत्ति इसी क्षण होनी चाहिये, क्योंकि जो जब जिसके करनेमे समर्थ है, वह उसी समय उसे करता है, जैसे सामग्री अपने कार्यको उत्पन्न करती है। यदि यह भी समर्थ है तो अपने कार्यको उत्पन्न करे। यदि इसमे उसके करनेका सामर्थ्य ही नहीं, तो कभी भी उत्पन्न न करे, जैसे पत्थरका टुकडा अंकुरको उत्पन्न कभी नहीं करता है। यदि यह कहा जाय कि समर्थ भी कारण दूसरे सहकारियोंके मिलने पर कार्य करता है, जब जैसे सहकारी मिलते हैं तब वैसा कार्य होता है, जैसे पृथिवी आदि छ धातुओंके सम्बन्धसे बीज अंकुरको उत्पन्न करता है ? तो इस पर यह प्रश्न उठता है कि सहकारी कारण उस बीजमें कोई अतिशय (विशेषता) प्रदान करते हैं ? या नहीं ? यदि नहीं, तो

बीज जैसा पहले था, वैसा ही अब है, पहलेकी तरह अब भी उससे अंकुर उत्पन्न न हो।

यदि सहकारी कारण बीजमें कोई विशेषता प्रदान करता है तो प्रथम बीज, जिसमें वह अतिशय (विशेषता) नहीं था, वह निवृत्त हो गया और अब यह अतिशय वाला नवीन बीज उत्पन्न हो गया है, तो बीजका क्षणिक होना सिद्ध हो जाता है।

इसी अतिशय वाले बीजको 'कुर्वद्रूप' कहते हैं, यही अंकुरके उत्पन्न करनेमें समर्थ है।

क्रम अथवा युगपत् अर्थक्रियाकारी

अर्थक्रियाकारित्व भी क्रम अथवा यौगपद्यका व्याप्य होता है, अर्थात् जो किसी प्रकारका कार्यकारी होता है, वह क्रमकारी अथवा युगपत्कारी होता है। जिस प्रकार बीज अंकुरका जनक होता है। बीजमें अंकुर नामके कार्यकारित्व रहनेसे वह 'सत्' कहलाता है, अत एव बीज क्रमसे यानी काल विलम्ब करके अंकुरको पैदा करता है, अथवा युगपत् यानी एक समयमें ही समस्त अंकुरको पैदा करता है, अर्थात् बीजमें क्रमकारित्व अथवा युगपत्कारित्व रहता ही है, नहीं तो बीजमें अंकुर-जनकत्व नहीं रह सकता, यानी बीजसे अंकुर पैदा नहीं हो सकता, इस क्रमकारित्व अथवा युगपत्कारित्वसे अतिरिक्त तीसरा कोई भी मार्ग नहीं है, जिससे बीज आदि सत्पदार्थ अंकुर आदिका कारण हो सके।

यदि बीजको क्षणमात्र स्थायी न माना जाय यानी बीज यदि

स्थिर पदार्थ माना जाय तब वह अंकुर-जनक नहीं हो सकता है, क्योंकि बीजको स्थिर पदार्थ माननेसे जो बीज गृहमें अवस्थित है और जो खेतमें बोया गया है, उन दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं रहनेके कारण गृहमें अवस्थित जो बीज है, उससे भी अंकुरकी उत्पत्ति हो सकती है। अंकुरके प्रति बीजत्वरूपसे बीजकी कारणता रहने पर भी गृह-अवस्थित बीजमें भी बीजत्व रहनेसे वह भी अंकुरको क्यों नहीं पैदा करता है ?

यदि यह कहा जाय कि मृत्तिका और जल आदि समस्त सहकारी कारण उपस्थित रहनेमें क्रमकारित्व यानी समय पाकर कार्य उत्पादन करनेकी शक्ति अक्षुण्ण रहती है, तो प्रष्टव्य यह है कि वह स्थायी बीज अंकुर उत्पादन करनेमें समर्थ है ? अथवा असमर्थ है। यदि वह स्वभावतः अंकुर-उत्पादन करनेमें समर्थ है, तो वह सर्वत्र और सर्वदा अंकुर पैदा कर सकता है।

जो सदैव जिस कार्यके उत्पादन करनेमें समर्थ है, वह क्रमशः काल-विलम्बमें क्यों कार्य-उत्पादन करेगा।

स्थायी बीजमात्रको अंकुर-उत्पादन करनेकी जब स्वभाविक शक्ति है, ऐसा माना जाता है, तब क्षेत्रस्थ (खेतमें बोया हुआ) बीज जिस प्रकार अंकुर-उत्पादन करता है, उसी प्रकार वह बीज घरमें रहनेके समय क्यों नहीं अंकुर उत्पादन करता है ?

यदि यह कहा जाय कि बीजको स्थायी मानने पर भी उसमें अंकुर-उत्पादन करनेकी शक्ति नहीं है, तो क्रमशः समय पाकर भी यानी मृत्तिका, जल आदि सहकारी समस्त कारणके उपस्थित) होने पर भी

बीज कभी अंकुर-उत्पादन नहीं कर सकता है, क्योंकि जो असमर्थ है, जिसमें कार्य करनेकी जिसमें शक्ति ही नहीं है, वह सहकारीको प्राप्त करके भी उस कार्यका उत्पादन नहीं कर सकता है, जैसे शिला-खण्ड (पत्थरका टुकडा) कभी अंकुर-उत्पादन नहीं कर सकता है।

यौगपद्य या क्रमिक पक्षमें जब कि मुख्य कारण भी सहकारी कारण संघको प्राप्त करके ही कार्य-उत्पादन करता है, तब क्या सहकारी कारणोंके द्वारा मुख्य कारणमें कोई नवीन शक्तिका प्रदान किया जाता है ? अथवा नहीं ?

यदि शक्तिका प्रदान किया जाता है, तो वह शक्तिविशेष ही कारण होगा, क्योंकि उसीके साथ कार्यका 'अन्वय' और 'व्यतिरेक' रहेगा। अंकुर आदिके मुख्य कारण बीज आदिमें कारणता नहीं रह सकेगी और उक्त शक्तिविशेष भी अन्य शक्तिविशेषका उत्पादन करता है ? अथवा नहीं ? यदि करता है तो वह दूसरा शक्तिविशेष ही कारण होगा, और इस प्रकार शक्तिविशेषके द्वारा नवीन शक्तिविशेषकी धारा उत्पन्न होनेसे अनवस्था दोष अनिवार्य हो जाता है।

यदि सहकारी कारणोंके द्वारा मुख्य कारणमें कुछ नवीन शक्ति नहीं आती है तो उन सहकारी कारणोंकी उसको जरूरत क्या ?

"सहकारी कारणोंके मिलने पर ही कार्य उत्पन्न होता है यही कार्यका स्वभाव है" ऐसा भी नहीं, क्योंकि कारण कभी कार्यके स्वभावके अधीन नहीं रह सकता है, किन्तु कारणके स्वभावके अधीन कार्य रहता है।

"समय पाकर कार्य उत्पादन करता है, यही कारणका स्वभाव है" ऐसा भी नहीं, क्योंकि समयका निर्धारण करना असंभव है।

ऐसे सहकारी और मुख्य कारणका भी निर्णय करना कठिन है क्योंकि सहायता प्रदान करने वाला सहकारी है तो सहायता क्या है।

मृत्तिका जल आदिके द्वारा बीजमें एक प्रकारकी शक्ति प्रदान किया जाना यदि 'सहायता' है, तब तो उस शक्ति विशेषकी ही कारणता सिद्ध हो जाती है, मृत्तिका आदिकी नहीं।

उक्त प्रकारका स्वभाव माननेसे तो उसका विपर्यय भी कभी नहीं होगा, फिर तो दूसरे सहकारीकी जरूरत ही नहीं रहती है, सिर्फ बीज ही अपने बीजत्व रूपसे अंकुरके कारण सिद्ध होनेसे उसमें 'कुर्वद्रूपत्व' नामका एक जातिविशेष मानना पड़ता है, अन्यथा घरमें पड़े हुए बीजसे भी अंकुर उत्पन्न होना चाहिये।

उक्त जाति-विशेष अंकुर उत्पत्तिके अव्यवहित पूर्व क्षण-वर्त्ती जो बीज है, उसीमें रहता है, क्योंकि दूसरे क्षण वर्त्ती बीजमें यदि उक्त जातिविशेष रहता, तो उस समय भी वह अंकुर-उत्पादन करता।

साराश यह कि प्रत्येक कार्यके अव्यवहित पूर्व क्षणवर्त्ती कारणमें उक्त जाति विशेषके रहनेसे और उसके तथा उसके पूर्व वर्त्ती कारणके एक ही रहनेसे पूर्व-पूर्व क्षणवर्त्ती उसी कारणसे भी उनके अपने-अपने क्षण-कालमें भी कार्य उत्पन्न क्यों नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि सारे पदार्थ क्षणिक हैं।

क्षणिक पदार्थका ही क्रमकारित्व अथवा युगपत्कारित्व संभव है, स्थिर पदार्थका नहीं, क्योंकि उसी पदार्थके पूर्व कालसे भी स्थायित्व रहनेसे पहले ही क्यों नहीं कार्य उत्पन्न हो जाता।

साराश यह कि घरका और खेतका यदि एक ही बीज माना जाय

तो घरमे ही उससे अ कुर उत्पन्न हो जाय अथवा अ कुर-उत्पत्तिसे पूर्व-पूर्व क्षणसे लेकर काय उत्पत्ति होनेके अव्यवहित पूर्व-क्षण पयन्त यदि एक ही बीज स्थायी रहता तो पुव कालमे भी वह अ कुर-उत्पादन करता, क्योकि जो इस समय हे वही पहले भी था।

जिस प्रकार क्रमिक पक्षमे पदार्थाको क्षणिकता सिद्ध होती है, उसी प्रकार युगपत्कारित्वमे भी पदार्थोकी क्षणिकता ही सिद्ध होती है, क्योकि बीज एक ही समयमें समस्त अ कुरका उत्पादन नहां करता है, अथवा उसके अन्यान्य समस्त कायका उत्पादन नहीं करता है, यह सव-समत है।

इस प्रकार क्रमकारित्व और युगपत्कारित्व दोनो अक्षणिक यानी स्थिर पदाथमें नहीं रहनेसे उसमे अथक्रियाकारित्व भी नहीं रह सकता हे और जो अथक्रियाकारी नहां, वह सत्पदाथ नहीं है अर्थक्रियाकारित्व ही सत्त्व हे और क्रमकारित्व अथवा युगपत्कारित्व उसका व्यापक है।

वौद्ध दार्शनिक 'ज्ञानश्री' ने कहा है—"यत् सन् तत् क्षणिक यथा जलधर सन्तश्च भावा अमी" इस कारिकासे अनुमानके द्वारा भी सत् पदाथका क्षणिकत्व समर्थन किया है।

क्षणिक पदार्थकी प्रतिक्षण उत्पत्ति और उसका विनाश होता रहता हे। पूर्व-क्षण उत्पन्न बीजका पर-क्षणमें अपर बीजको उत्पन्न करना ही पर-क्षणमें उसके अपने स्वरूपका विनष्ट हो जाना है। प्रतिक्षणमें बीजकी उत्पत्ति और उस उत्पन्न बीजके विनाशका कारण उसके पूर्वक्षण-उत्पन्न बीज ही है।

इस प्रकारके कथनको 'क्षणिक वाद' या 'क्षणभगवाद' कहते हैं।

बौद्धमतका खण्डन

बाह्य-आन्तर समुदाय स्वरूप जगतकी असिद्धि

पृथिवी परमाणु और जल परमाणु आदि परमाणुओंसे यह भूत-भौतिक संघस्वरूप बाह्य जगत् उत्पन्न होता है और रूप-विज्ञान आदि स्कन्धोंसे उक्त पचस्कन्धीरूप संघस्वरूप आन्तर जगत् उत्पन्न होता है" यह जो बौद्ध-सिद्धान्तमें माना गया है वह सर्वथा असगत है, क्योंकि उक्त सघका स्वरूप ही नहीं बन सकता है, क्योंकि अचेतन पदार्थोंका अपने आप इकठ्ठा होना असंभव है।

चेतन कुम्हार ही मिट्टी-दण्ड आदि सामग्रीको इकठ्ठा करके सघस्वरूप घटको बनाता है और इसी प्रकार चेतन जुलाहा तन्तु, वेमा आदि सामग्रीको जुटाकर पट (वस्त्र) बनाता है यही देखा जाता है, यह कभी नहीं देखा गया है कि—अचेतन जो मिट्टी-दण्ड आदि पदार्थ हैं, वे स्वयं घटको बनाते हैं और जुलाहेके नहीं रहने पर तन्तु, वेमा आदि पटकी सामग्री पट (वस्त्र) को बना ले। इस लिये किसी कार्यकी तभी उत्पत्ति हो सकती है, जब उस कार्य-उत्पत्ति के अनुकूल कारणोंका नियमतः समेलन हो, क्योंकि कारणोंके नियमित समेलन नहीं होनेसे काय उत्पन्न नहीं होता है, यह प्रत्यक्ष है, और नियमपूर्वक कारणोंका समेलन (इकठ्ठा) तभी हो सकता है जब कोई चेतन अधिष्ठाता रहे।

सारांश यह कि कार्य-उत्पत्ति तो उत्पादक कारण सघके इकठ्ठा होने के अधीन है और कारण-संघका नियम-पूर्वक इकठ्ठा होना चेतनके अधीन है। विना चेतनके कारण-सघको कौन इकठ्ठा कर सकता है।

अचेतन पदार्थ स्वयं नियमितरूपसे इकट्ठा होकर कार्य करते कभी नहीं उपलब्ध होता है। इस प्रकार अनुपलब्धि लिङ्गके अनुमानके आधार पर यही मानना पड़ता है कि चेतनके सहारे ही कारण-संघसे कार्य-उत्पत्ति होती है।

यदि यह कहा जाय कि चेतन पदार्थके अधीन कार्य-उत्पत्ति रहने पर भी कुछ आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि बौद्ध-मतमें भी चित्त तो चेतन ही है। वही चेतन चित्त इन्द्रियोंका विषयोंसे सन्निकर्ष (सम्बन्ध) होने पर अभिज्वलित होकर उस कारण-संघमें पर्याप्त रूपसे कार्य-उत्पादन करनेकी क्षमता प्रदान करता हुआ उन अचेतन कारणोंमें अवस्थित रह कर कार्यका सम्पादन करता है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'वाह्य समुदाय' और 'आन्तर समुदाय' की सिद्धिके विना चित्तका अभिज्वलन (अभिव्यक्ति) ही नहीं हो सकता है, क्योंकि आन्तर समुदायमें ही चित्त भी है और चित्तके अभिज्वलनके विना वाह्य या आन्तर-समुदायकी सिद्धि नहीं हो सकती है, इस प्रकार समुदाय-सिद्धि और चित्ताभिज्वलन परस्पर[1] एक दूसरेसे जीवित रहनेके कारण दोनोंमें से कुछ भी नहीं हो सकता है, इस प्रकार 'अन्योऽन्याश्रय' दोषके आ पड़नेके कारण उक्त रूपसे कार्यकी उत्पत्ति अचेतन कारणोंसे नहीं हो सकती है।

यानी जब चित्तका अभिज्वलन होगा तब संघातकी सिद्धि होगी और जब प्रथम संघात बन ले, तभी चित्त-अभिज्वलन हो, इस प्रकार एक दूसरेके आश्रित रहनेसे संघात और चित्त-अभिज्वलन इन दोनोंमें से किसीका स्वरूप नहीं बन सकता है।

१

"पूर्वजन्मकी चित्तकी अभिदीप्तिके द्वारा पर (आगे) के समुदायका सम्पादन होगा" यानी पूर्वजन्मके चित्त-अभिज्वलन-जन्य संस्कारसे उत्तर (आगे) के जन्ममें संघातकी सिद्धि होगी यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि संघातके सम्पादनके समयमें उसके चिर-अतीत होने (बहुत दिन बीत जाने) के कारण उसके सामर्थ्यका विच्छेद हो जाता है।

सारांश यह कि बौद्ध-मतमें कोई चेतन शक्ति, स्थायी वासना या संस्कार नहीं माना जाता है, तब वह पूर्वजन्मका अतील चित्ताभिज्वलन पर जन्ममें उत्पन्न होने वाले वाह्य और आन्तर समुदायकी सिद्धिके समय तक कैसे टिक सकता है। क्योंकि संघात करने वाले बौद्धोंने वेदान्त सिद्धान्तकी तरह कोई स्थायी चेतन नहीं माना है।

कहनेका तात्पर्य यह कि जो कार्यका कर्त्ता होता है वह कारण-विन्यासके भेदको जानता ही रहता है और बिना अन्वय-व्यतिरेकके उक्त भेद नहीं जाना जा सकता है, कारण-विन्यासके भेदको जाने बिना कोई कर्त्ता नहीं हो सकता है, क्षणिक आत्मा जो अन्वय-व्यतिरेक काल पर्यन्त नहीं टिकता है, वह कैसे अन्वय-व्यतिरेकको जान सकेगा?

अर्थात् इस कार्यके बननेमें इस कारणकी इतने परिमाणमें आवश्यकता है, इसकी उत्पत्तिके समय अमुक-अमुक कारणकी जरूरत है इस प्रकारका ज्ञान स्थायी चेतनको ही हो सकता है, क्षणिकको कभी वैसा ज्ञान नहीं हो सकता है।

"एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखने हुए संमिलित नहीं होकर

भी कारण-संघ कार्य उत्पादन करेगा" यह भी बौद्धोंका कहना उपहा-सास्पद है, क्योंकि तब कार्यका उपरम (निवृत्ति) ही नहीं होगा, सदैव कार्य-उत्पादन होता रहेगा।

यदि यह कहा जाय कि अहंकारका आस्पद (आश्रय) जो आलय-विज्ञान है, वही पूर्व-अपरका अनुसन्धान करता हुआ कारणोंका भी प्रतिसन्धान करने वाला यानी चेतन अधिष्ठाता होगा, तो यदि वह एक कोई स्थिर पदार्थ माना जाय तो नामान्तरसे वह वेदान्त प्रतिपाद्य आत्मा ही हो जाता है, यानी वेदान्तमें जिस प्रकार एक स्थिर आत्मा चेतन माना गया है, वैसा ही यदि बौद्धोंका आलय-विज्ञान भी मान्य हो तो नाममात्रका ही विभेद है, पदार्थमें कुछ विभेद नहीं होता है।

यदि उसे स्थिर न मान कर क्षणिक माना जाय तो पूर्वोक्त अनेक दोष हो जाते हैं अर्थात् पदार्थोंके कार्य-कारण काल तक क्षणिक विज्ञानका स्थायित्व ही नहीं रहता।

जिसमें कर्मके अनुभव-जन्य वासना अच्छी तरह शयन करती है, यानी अवस्थित रहती है, उसको 'आशय' कहते हैं, वही आलय विज्ञान है। उसको क्षणिक माननेसे उसके द्वारा व्यापार नहीं होनेके कारण किसी प्रकारकी उसकी प्रवृत्ति भी नहीं होगी।

सारांश यह कि क्षणिक पदार्थोंका व्यापार नहीं हो सकता है, क्योंकि व्यापार तो व्यापारवान्के आश्रित और व्यापारवान्से उत्पन्न होता है यह लोगोंमें प्रसिद्ध है। उस व्यापारवान्का व्यापारसे पहले और व्यापारके समयमें भी अस्तित्व रहना अनिवार्य है, अन्यथा

वह व्यापारका आश्रय और व्यापारका कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि दोनोंका अस्तित्व एक ही कालमें रहनेसे यानी कार्यसे अव्यवहित पूर्वकालमे कारणके अस्तित्व नहीं रहने पर कार्य-कारण भाव नहीं हो सकता है और भिन्न-भिन्न कालमें रहने पर आधार- आधेय भाव नहीं हो सकता है, अत. कार्य-कारण भावकी रक्षाके लिये उस व्यापारवान् पदार्थको उसके व्यापार रूप कार्यसे पहले रहना चाहिये और आधार-आधेय भावकी रक्षाके लिये व्यापार और व्यापारवान् दोनोंको भिन्न-भिन्न कालमें भी नहीं रहना चाहिये।

उक्त प्रकार मानने पर क्षणिकत्वकी हानि हो जाती है, इस लिये उक्त प्रकार समुदायसे जगत्की उत्पत्ति मानना सर्वथा असगत है।

प्रतीत्य समुत्पादका खण्डन

बाह्य और आभ्यन्तर जो प्रतीत्य समुत्पाद है वह हेतूपनिबन्ध और प्रत्ययोपनिबन्ध इन दो कारणोंसे होता है? कारणसे कार्यकी जो उत्पत्ति होती है वह एक-एक कारणके सबधसे होती है यह जो बौद्ध-सिद्धान्तमें माना गया है वह सवथा असगत है क्योंकि हेतूपनिबन्ध पक्षमें एक ही निरपेक्ष कारणसे कायकी उत्पत्ति हो जानेसे अन्यको कारण मानना व्यर्थ है ? यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक कारणके सामथ्य रहने पर भी अन्यकी शक्तिका उच्छेद नहीं हो जाता है। कारण-संघ मिल कर कायका उत्पादन करता है यही देखा जाता है।

यदि प्रत्येकमे कार्य-उत्पादनका सामथ्य रहता तो प्रत्येक कारण

से एक-एक कार्य उत्पन्न होता और ऐसा तो नहीं देखा जाता है, क्योंकि बीज जिस अंकुरका उत्पादन करता है, मिट्टी आदि पदार्थ भी उस अंकुरका ही उत्पादन करता है।

बीज किसीको और मिट्टी किसीकी उत्पत्ति नहीं करती है, किन्तु बीज, मिट्टी आदि सब कारणोंकी उसी एक बीजकी उत्पत्तिमें सामर्थ्य है, इस लिये हेतूपनिबन्ध पक्ष तो स्वरूपतः गया बीता है, उसमे पूर्वोक्त दोषारोपण अनिवार्य हो जाता है, अतः उसका स्वरूप ही नहीं बनता।

प्रत्ययोपनिबन्धका खण्डन

कारणके भेद रहने पर जैसे पृथिवीसे घट और सुवर्णसे कुण्डल भिन्न-भिन्न कार्य उत्पन्न होता है उस प्रकार यद्यपि प्रत्ययोपनिबन्ध पक्षमे कारण भेदसे कार्य-भेदका प्रश्न नहीं होता है, क्योकि सामग्री एक है और कार्य-उत्पादन शक्ति कारण-संघमे मानी जाती है और कारण-संघ रूप सामग्रीके भेद होनेसे कार्यका भी भेद होता ही है, किन्तु कार्य-उत्पादन करनेके लिये उपयुक्त अन्तिम क्षणमे प्राप्त जो कारण है वह तो विना किसीकी अपेक्षा करके अपने कार्यका उत्पादन करता है यह माना जाता है और अपेक्षारहितअन्तिम क्षणसे यदि कार्यका उत्पादन होगा तो उसके समीपके भी क्षण सब अपने कार्य-उत्पादनमे निरपेक्ष हो जायंगे, तब तो गृह-अवस्थित जिस बीज क्षणसे अपने कार्यरूप क्षण-परम्पराके द्वारा कभी बीज-क्षण उत्पन्न होत है, वह बीज-क्षण भी निरपेक्ष हो कर अपना कार्य-उत्पादनकर सकेग

कि क्षण अभेद्य माना गया है, यानी क्षणका टुकरा (हिस्सा) नहीं हो सकता है तब किस क्षणमें उसका उपकार और किस क्षणमें अनुपकार कहा जा सकता है, क्योकि सब क्षणिक यानी एक क्षण-मात्र स्थायी हैं और वह क्षण इतना सूक्ष्म माना गया है कि उसमें काल-भेद नहीं हो सकता है।

यदि काल-भेदसे उसका उपकार और अनुपकार माना जाय तो क्षणिकत्वका उच्छेद हो जाता है।

यदि यह कहा जाय कि "क्षणिक होते हुए भी सारे पदार्थ संहत रह कर ही यानी संघात रखते हुए ही उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते हैं, तब संघात करने वाले चेतनकी क्या जरूरत!" तो यह प्रश्न उठता है कि संघातके प्रवाहके अन्तर्गत जो धर्म-अधर्म नामका संस्कार-प्रवाह है, क्या वह स्वतः सुख-दुःखका उत्पादन करेगा? अथवा किसी आगन्तुको लाकर? यदि स्वतः करेगा तो सदैव सुख-दुःख होना चाहिये, क्योंकि समर्थ और अनपेक्ष (स्वतन्त्र) होनेसे उसका निरोध क्यों होगा?

"यदि किसी आगन्तुकको लाकर संस्कार सुख-दुःखका उत्पादन करेगा" तो उसको जुटाने वाला चेतन ही मानना पड़ता है, इस लिये प्रत्ययोपनिबन्धन 'प्रतीत्य समुत्पाद' असंभव है।

"भोक्ताके भोगके अनुरोधसे संघातकी सिद्धि होगी, क्योंकि भोगार्थी व्यक्ति भोग प्राप्त करनेके लिये उसके साधनमें प्रवृत्त रहता है यह सार्वजनिक प्रत्यक्ष है। वह प्रवृत्ति भोगसे भिन्न स्थायी भोक्तामें,

जो कि भोग और उसके साधनके समय पयन्त टिक सके, रह सकती है, क्षणिक पदाथमे नहीं।

भोगके लिये ही भोग नहीं है और न तो अन्यके लिये अन्यका भोग है। यही दोप मोक्षमे भी आ पडता है। जो भोग और मोक्षकी इच्छा करने वाला हो उसको भोग और मोक्षके लिये स्थायी (स्थिर) रहना होगा और स्थिर रहनसे क्षणिकत्व सिद्धान्तका उच्छेद हो जाता है। क्षणिक होनेसे भोग और मोक्षके लिये उनके साधनमे उसकी प्रवृत्ति असभव है।

इस प्रकार भोक्ताके अभाव होनेसे प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, प्रवृत्ति नहीं होनेसे कर्त्ताका अभाव हो जाता है और कर्त्ताके अभावसे कमका भी अभाव हो जाता है। कमके अभाव हो जानेसे सघातकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

हेतूपनिबन्धका खण्डन

बौद्धोंका यह कथन कि प्रतीत्य समुत्पादके प्रत्ययोपनिबन्धन-पक्षमें उपयुक्त दोप हो सकते है किन्तु प्रतीत्यसमुत्पादके हेतूपनिबन्धन पक्षमें कुछ दोप नहीं हो सकते हैं, क्योकि इस पक्षमें अधिकताकी कोई जरूरत नहीं है, केवल हेतु स्वभावतः काय सघातका सम्पादन करेगा, यह कहना भी ठीक नहीं, क्योकि इस पक्षमें भी उत्तर क्षणके उत्पन्न होनेमे पूर्वक्षणका निरोध माना गया है, किन्तु ऐसा माननेसे पूर्व और उत्तर क्षणमें काय-कारण भाव नहीं होगा यानी उत्तर क्षणके

द्वारा पूर्व क्षणका निरोध माननेसे पूर्व क्षण तो उत्तर क्षणका कारण नहीं होगा, क्योंकि पूर्व क्षण अभावसे ग्रस्त हो जाता है यानी अभावावस्थामें प्राप्त जो पूर्व क्षण है वह उत्तर क्षणका कारण कैसे होगा !

"अभावावस्थामें नहीं, किन्तु भावावस्थामें निष्पन्न जो पूर्वक्षण है वही उत्तर क्षणका कारण है" यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि भाव होनेसे उसको व्यापार करनेका फिर प्रसंग उपस्थित हो जानेसे अनेक क्षणके सम्बन्ध हो जानेके कारण क्षणिकवादके सिद्धान्तका ही विरोध हो जाता है।

"भाव ही इसका व्यापार है" क्योंकि—'भूतिर्येषां क्रिया-सैव कारकं सैव चोच्यते' यानी भाव ही जिनके मतमें क्रिया है और वही कारक है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि क्षणिक पदार्थ किसीका कारण नहीं हो सकता है।

घट और कुण्डलके मिट्टी और सुवर्ण कारण हैं, इस लिये घट मिट्टीमय और कुण्डल सुवर्णमय दीखता है। यदि कार्य-कालमें कारण नहीं रहता तो कारण जो मिट्टी और सुवर्ण है उस रूपसे घट और कुण्डल कैसे दिखाई पडता, साराश यह कि घट-कालमें भी मिट्टी घटसे अभिन्न होकर रहती ही है।

"कार्यका कारण-सादृश्य रहता है, किन्तु तादात्म्य (अभेद) नहीं रहता है यानी घटमें मिट्टी अभिन्न होकर नहीं रहती है, किन्तु मिट्टी-का सादृश्य घटमें रहता है" यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके किसी भी रूपके इसमें अनुगम नहीं होनेसे उसका सादृश्य भी नहीं कहा जा सकता। यदि कारणके किसी स्वरूपका अनुगमन

कार्यमें होता है तो वही उसका कारण होगा और तब उस कारणका कार्यसे अभेद सिद्ध हो जाता है, फिर कार्यके साथ कारणके अभेद होनेसे कार्य-कालमें भी उसकी स्थितिका स्वीकार करना पड़ता है, फिर उसकी क्षणिकता कहां !

सर्वथा विलक्षण होनेसे यानी कारणसे कार्यका सर्वांशमें भेद रहनेसे तो कार्य-कारण भाव ही असंभव है, अन्यथा तन्तु और घटका भी कार्य-कारण भाव हो जाना चाहिये।

सारांश यह कि तन्तु (सूत) घटका जो कारण नहीं माना जाता है, इसका कारण यह है कि तन्तु घटमें दिखाई नहीं पड़ता है और मिट्टी घटमें दिखाई पड़ती है, इस लिये मिट्टी घटका कारण मानी जाती है। विभिन्न वस्तुओंका, जैसे तन्तु और घटका कार्य-कारण भाव नहीं रहता है।

"सादृश्य नहीं रहने पर भी तन्तुके रहनेसे पट उत्पन्न होता है इस लिये कार्य-कारण भाव होगा" यह भी नहीं, क्योंकि—पदार्थकी स्थिति एक ही क्षण माननेके कारण तद्भाव-भावका ज्ञान असंभव है, यानी तन्तुके रहनेसे पटका रहना यह ज्ञान होना क्षणिक-वादमें युक्ति-रहित है और वैसा कार्य-कारण भाव माननेसे तो रासभ (गदहा) आदि भी घट बनानेमें जिसके द्वारा मिट्टी लायी जाती है, घटका कारण हो जायगा, क्योंकि उसके रहनेसे घट उत्पन्न हुआ है।

"कार्यमें जिसके रहते जिससे कार्य उत्पन्न होता है, वह कारण है" घटमें रहने वाली जो घटत्व जाति है, वही कारण होगी यह भी नहीं, क्योंकि जातिको कारण माननेसे मृत्तिकादि व्यक्ति कारण नहीं हो सकता है, मृत्तिकादि व्यक्तिको कारण न मान कर जातिको

कारण मानना यह बौद्धोंको मान्य नहीं, क्योंकि बौद्धमतमें जाति कुछ वस्तु नहीं है, किन्तु व्यक्ति ही वस्तु है ऐसा माना गया है इसलिये जातिकी कारणता अभिलषित नहीं है और उसे कारण मान कर जाति और व्यक्तिका अभेद माननेसे उसकी कार्यसे पूर्व-कालमें भी सत्ता माननी पड़ती है, क्योंकि वह कारण है और अभेद माननेसे कार्य-कालमें भी उसकी सत्ता माननी पड़ती है, तब पूर्ववत् क्षणिक वादका उच्छेद हो जाता है।

क्षणिकत्व पक्षमें पदार्थका स्वरूप ही उसकी उत्पत्ति और निरोध (नाश) है ? अथवा पदार्थकी एक दूसरी अवस्था उसकी उत्पत्ति और विनाश माना जाता है ? या कोई दूसरा पदार्थ उत्पत्ति और विनाश है !

(१) यदि वस्तुकी उत्पत्ति और निरोध वस्तुका स्वरूप ही है, तब तो वस्तु शब्द, उत्पत्ति शब्द और निरोध शब्द तीनों पर्याय-वाचक शब्द हो जाते हैं, यानी उक्त तीनों शब्दका एक ही अर्थ हो जाता है, क्योंकि वस्तुका स्वरूप ही उत्पत्ति और निरोध कहा जाता है अर्थात् जो वस्तु है वही उत्पत्ति और निरोध है। वस्तुसे अतिरिक्त उत्पत्ति और निरोध नहीं माननेसे "वस्तु उत्पत्तिमत्" 'वस्तु निरोध-वत्' ऐसी प्रतीति नहीं होगी अर्थात् वस्तुकी उत्पत्ति और वस्तुका निरोध नहीं होगा, क्योंकि उत्पत्ति-निरोधके साथ वस्तुका जब अभेद है, तब भेद-बोधक उक्त प्रतीति कैसे होगी ! और वैसी प्रतीति नहीं होनेसे वस्तुका नित्यत्व सिद्ध हो जाता है।

(२) यदि वस्तुकी कोई दूसरी अवस्था ही उत्पत्ति और

निरोध है यानी वस्तुकी आदिस्वरूप उत्पत्ति एक अवस्था है और अन्तस्वरूप निरोध एक अवस्था है, तब तो इन दोनों अवस्थाके मध्य अवस्था वर्ती वस्तु है यही मानना पडता है और ऐसा माननेसे भी आदि-अन्त और मध्य इन तीन क्षणोंके सम्बन्ध रहनेसे वस्तुके क्षणिकत्वका उच्छेद हो जाता है।

(३) यदि वस्तुसे अतिरिक्त कोई पदार्थ उत्पत्ति और निरोध है तो अश्व और महिष (घोड-भैंस)की तरह वस्तुसे अत्यन्त विभिन्न उत्पत्ति और निरोध होगा और ऐसा होनेसे उत्पत्ति और निरोधसे वस्तुका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकेगा तब वस्तुकी उत्पत्ति और निरोध नहीं होनेसे वस्तुकी नित्यता सिद्ध हो जाती है। उत्पत्ति और निरोधसे संसर्ग मानने पर भी यदि उत्पत्ति और निरोध असत् है, तब तो उनका संसर्ग ही नहीं हो सकता और यदि 'सत्' है; तब [illegible] का नित्यता सिद्ध हो जाता है।

"वस्तुका दर्शन वस्तुकी उत्पत्ति है और वस्तुका दर्शन न होना वस्तुका निरोध है" यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि दर्शन और अदर्शन ये दोनों द्रष्टाके धर्म हैं, वस्तुके धर्म नहीं हो सकते हैं, तब भी यानी उत्पत्ति-निरोध वस्तुके धर्म नहीं होनेसे वस्तुकी नित्यता ही सिद्ध हो जाती है, इस प्रकार प्रत्येक वस्तुकी एक-क्षण मात्र अवस्थिति सिद्ध करनेके लिये जो पूर्वोक्त युक्ति-प्रदर्शन किया गया है, उससे वस्तुमात्रकी नित्यता ही सिद्ध हो जाती है, अतः "विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्" यानी गणेशकी मूर्ति बनाता हुआ वानरको ही

बना डाला, इसी नीतिका अनुसरण बौद्धमत करता है यानी बौद्धमत सर्वथा असंगत है।

क्षणिक-वादमें पूर्व क्षण अभाव-ग्रस्त होनेसे उत्तरक्षणका कारण नहीं हो सकता है। "बिना कारणके ही कार्य होता है" यह भी नहीं, क्योंकि बौद्धोंकी जो कार्य-कारण भावकी अपनी प्रतिज्ञा है उसका विरोध हो जाता है।

कहनेका तात्पर्य यह कि नीलरूप विषय (आलम्बन) प्रत्यय (कारण)से नीलाभास चित्तकी नीलाकारता होती है, पूर्व विज्ञानस्वरूप समनन्तर प्रत्ययसे बोधरूपता होती है, रूप-नियामक चक्षुरूप करणसे रूप-ज्ञानका नियम होता है, आलोकरूप सहकारी कारणसे पदार्थोंकी स्पष्टता होती है। इसी प्रकार सुख आदि जो चैत्त पदार्थ हैं, जिनका चित्त ही हेतु है, उनके भी यही उक्त चार कारण होते हैं। उक्त चार प्रकारके यानी विषय, समनन्तर करण और सहकारी कारणोंके द्वारा चित्त और चैत्त उत्पन्न होते हैं, यह जो बौद्धोंकी प्रतिज्ञा है, अभावकी कारणता माननेमें यानी बिना किसी हेतुके ही कार्य-उत्पत्ति माननेसे उसका विच्छेद हो जाता है। बिना हेतुके कार्य की उत्पत्ति माननेसे किसी प्रकारका प्रतिबन्धक नहीं रहनेके कारण सर्वत्र सब कुछ उत्पन्न होना चाहिये।

"जब तक उत्तर क्षणकी उत्पत्ति होती है, तब तक पूर्व क्षण अवस्थित रहता है" यह कहने पर कारण और कार्यका युगपत् रहना हो जाता है, यानी कार्य-काल तक कारणका रहना हो जाता है तब भी प्रतिज्ञाका व्याघात हो जाता है क्योंकि "क्षणिकाः सर्व संस्काराः" यानी सारे संस्कार क्षणिक हैं, ऐसी बौद्ध-सम्प्रदायमें प्रतिज्ञा की गयी है।

मोक्ष

वासनाओंका उच्छेद होकर विमल विज्ञानकी जो अखण्ड धारा है, उसे ही बौद्ध मतमे मोक्ष' कहते हैं।

तुच्छ या अभाव

"बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत् संस्कृतं क्षणिकं च 'तदपि च त्रय प्रतिसंख्या

ऽप्रतिसंख्यानिरोधवाकाश च'-बुद्धिसे जाननेयोग्य इन तीनोंसे भिन्न जो उत्पाद्य है, वे सब क्षणिक हैं। ये तीन—प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध और आकाश है।

प्रतिसंख्यानिरोध

बुद्धिपूर्वक भावोंका जो निरोध करना है, यानी इस भावको मैं असत् करता हूं, इस प्रकार बुद्धिपूर्वक निरोधको 'प्रतिसंख्यानिरोध' कहते हैं। यह निरोध अविद्या आदि क्षणिक भावों (पदार्थों) का होता है। इस प्रकार चित्तके बलसे ही चित्तकी वासनाओंका निरोध करके मुक्ति प्राप्त की जाती है।

अप्रतिसंख्यानिरोध

बाह्य पदार्थोंका जो निरोध करना है, उसे 'अप्रतिसंख्यानिरोध' कहते हैं। बौद्ध-मतमें उक्त दोनों निरोध अभाव रूप हैं।

आकाश

आकाश भी आवरणाभावरूप है, अतः यह तीनों तुच्छ रूप हैं। इनसे भिन्न जो पदार्थ हैं वे सब भाव पदार्थ हैं और अर्थक्रियाकारी हैं। इस प्रकार प्रतिसंख्यानिरोध आदि बौद्ध-सम्प्रदायमें माना गया वह सर्वथा असंगत है।

प्रतिसंख्यादिनिरोध खण्डन

बौद्ध-सम्प्रदायमें प्रतिसंख्यादिनिरोध कहा गया है, यानी भाव पदार्थके विपरीत जो संख्या (बुद्धि) है वह प्रतिसंख्या है, इससे जो निरोध है वह "प्रतिसंख्यानिरोध" है, तात्पर्य यह कि "इसके द्वारा सत् पदार्थको असत् करता हूं, इस प्रकारकी जो बुद्धि है, वही भाव पदार्थके लिये बुद्धिकी प्रतिकूलता है। बुद्धि-पूर्वक जो भावपदार्थोंका विनाश है, वह 'प्रतिसंख्यानिरोध' कहा जाता है और उसके विपरीत यानी जो बुद्धिपूर्वक निरोध नहीं है वह 'अप्रतिसंख्यानिरोध' है।

उक्त दोनों निरोध यानी प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्या-निरोध असम्भव है, क्योंकि ये दोनों निरोध क्या सन्तानगोचर हैं? यानी सन्तानमें होते हैं? अथवा सन्तानी (वस्तु) में होते हैं?

सन्तानका निरोध असम्भव है, क्योंकि कार्य-कारण भावसे अव-स्थित सन्तानी यानी पदार्थ ही उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं, सन्तान (प्रवाह) तो उत्पन्न और विनष्ट नहीं होता रहता है, क्योंकि वहां जो अन्तिम सन्तानी (पदार्थ) है, जिसके निरोध होनेसे सन्तानका उच्छेद हो जाता है, वह क्या कुछ कार्य-उत्पादन करता है? अथवा नहीं?

(१) यदि कार्य-उत्पादन करता है तो वह अन्तिम नहीं है और तब सन्तानका उच्छेद भी नहीं हुआ।

(२) यदि कार्य-उत्पादन नहीं करता है तब अन्तिम वह हो सकता है, किन्तु 'असत्' हो जाता है, क्योंकि अर्थ-क्रियाकारित्वरूप

सत्त्व उसमें नहीं रहता है और उसके 'असत्' होनेसे उसका जनक (कारण) भी 'असत्' के उत्पादक होनेसे 'असत्' ही हो जाता है, इस क्रमसे समस्त सन्तानी (पदार्थ) असत् हो जाते हैं तब उनका सन्तान तो और भी 'असत्' हो जाता है।

इस प्रकार मुक्ति-पर्यन्त अनुवर्त्तमान (रहने वाले) विषययुक्त चित्त-प्रवाहके अन्तिम सन्तानी असत् हो जानेके भयसे फल (काय) का अनारम्भक है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता और फलके आरम्भक होनेसे सन्तानके उच्छेद नहीं होनेके कारण वह अन्तिम 'सन्तानी' नहीं कहा जा सकता, इस लिये प्रतिसंख्याके द्वारा किसका निरोध किया जायगा।

प्रश्न—"कार्य-कारणभावमात्र सन्तान नहीं है, किन्तु सजातीय (समान जातिवाले) पदार्थोंका जो कार्य-कारण भाव है वह सन्तान है। उस सन्तानका निरोध विजातीय पदार्थकी उत्पत्ति है और विजातीय पदार्थका उत्पादन ही सन्तानका अन्तिम क्षण है।"

समाधान—उक्त प्रकार सन्तानकी व्यवस्था करने पर रूप-विज्ञानके प्रवाह (सन्तान) में रस आदि विज्ञानकी उत्पत्ति होनेसे सन्तानका उच्छेद हो जायगा।

कहनेका तात्पर्य यह कि सजातीय और विजातीयका क्या विभेद माना जायगा ?

समानता यानी सादृश्य कैसा विवक्षित है ! यदि रूप-रस आदि विषय-विशेषके उपराग (संसर्ग) का सादृश्य रहना अभिलषित है तब तो देवदत्तके आत्मारूप चित्त-सन्तानके रहते हुए ही रूपज्ञानके

प्रवाहमें रस ज्ञानकी उत्पत्ति होनेसे देवदत्तके उक्त चित्त सन्तानका उच्छेद हो जाना चाहिये।

यदि किसी प्रकारसे सादृश्य रहना अभिलषित है यानी रूप और रस दोनों विषय होनेसे दोनोंका सादृश्य दोनोंमे रह सकता है तो 'सत्ता' जातिके द्वारा भी सादृश्य माना जा सकता है और ऐसा माननेसे विषय-उपप्लुत (सविषय) चित्त सन्तानके उपरम (निवृत्ति) होने और विशुद्ध सन्तानके उदय होने पर भी यानी मोक्ष अवस्थामें भी पूर्व चित्त-सन्तानका उच्छेद नहीं हो सकता है, क्योंकि सत्तारूप सादृश्य दोनों सन्तानोंमें अक्षुण्णरूपसे विद्यमान है। सन्तानोंके भी प्रतिसंख्या-निरोध और अप्रतिसंख्या-निरोध नहीं हो सकते हैं, क्योंकि भाव पदार्थोंका निरन्वय और निरुपाख्य दोनोंमें से किसी प्रकारका विनाश नहीं हो सकता है।

निरन्वय विनाश

अपरिशिष्यमाणरूप जो विनाश है यानी जिसमें सन्तान (प्रवाह) का अवशेष नहीं रहता है उसको निरन्वय विनाश कहते हैं।

निरुपाख्य विनाश

असत्‌रूप जो विनाश है, उसे निरुपाख्य विनाश कहते हैं। इसमें निरन्वय विनाश तो पदार्थका इस लिये नहीं हो सकता है कि पदार्थ के विनष्ट होने पर भी उसका अन्वय देखा जाता है। प्रवाहका किसी प्रकारका विनाश असंभव है।

भाव पदार्थोंका जब निरन्वय विनाश नहीं होता है तब निरुपाख्य विनाश भी नहीं हो सकता है।

निरन्वय विनाश नहीं होनेका कारण यह है कि किसी भी भाव पदार्थके विनष्ट होने पर भी अन्वयी रूपसे उसका उपाख्यान रहता ही है।

यहां रहस्य यह है, पदार्थका जो अन्वयी स्वरूप है, वह परमार्थमें सत् है यानी उसका कभी विनाश नहीं होता है, किन्तु पदार्थकी जो अवस्थाएं हैं उनकी ही उत्पत्ति और विनाश होता रहता है। उन अवस्थाओंका स्वरूप अनिर्वचनीय है, अतः स्वतः उनका स्वरूप परमार्थ सत् नहीं है, किन्तु अन्वयी स्वरूप ही उनका परमार्थ सत् है। अन्वयी स्वरूपको सर्वत्र प्रत्यभिज्ञा रहनेसे उसका विनाश नहीं होता है, इस प्रकार अवस्थावान् पदार्थों के विनाश नहीं होनेके कारण अवस्थाओंका भी निरन्वय विनाश असंभव है, क्योंकि अवस्थाओंका वास्तविक जो अन्वयी स्वरूप है उसका कहीं भी विच्छेद नहीं देखा जाता है।

प्रश्न—जिन घट आदि पदार्थोंका विनाश होता है, उनका तो अन्वय नहीं रहता है और जिस सामान्यका अन्वय रहता है, उसका विनाश ही नहीं होता है, तब अन्वय-रहित विनाश होनेके कारण निरन्वय विनाश कैसे नहीं कहा जा सकता?

समाधान—मिट्टीके पिण्ड, मिट्टीके घड़े, मिट्टीके कपाल इन सबोंमें मृत्तिका की उपलब्धि प्रत्यक्ष देखनेसे प्रत्येक अवस्थामें अवस्थावान व्यक्तिका अन्वय रहना जैसे निश्चित होता है, वैसे ही

जहा स्पष्ट उपलब्धि नहीं होती है, उन अवस्थाओंमे भी अनुमानके द्वारा अन्वयका समर्थन किया जाता है, जैसे—प्रतप्त शिलाके ऊपर गिरे हुए जल बिन्दुका अन्वयी स्वरूप प्रत्यक्षरूपसे नहीं भी देखा जाता है, किन्तु वह जल तेजके द्वारा सूक्ष्मण्डलमें वादल बननेके लिये पहुचाया जाता है और पश्चात् बादल (मेघ) के रूपमे परिणत होता है, इस प्रकार अन्वयी स्वरूपके बहुत जगह प्रत्यक्ष रहनमे कहीं अनुमानसे ही उसकी उपलब्धि मानी जाती है।

प्रत्यक्ष रूपमे भी जलबिन्दुके अन्वयी स्वरूपका विनाश नहीं होता है, जैसे—

उदबिन्दौ च सिन्धौ च तोयभावो न भिद्यते।
विनष्टेऽपि ततो बिन्दावस्ति तस्यान्वयोऽम्बुधौ ॥

जलबिन्दुमे और समुद्रमें जलभावका भेद नहीं देखा जाता है, इस लिये जलबिन्दुके विनष्ट होने पर भी समुद्रमे उसका अन्वय रहता ही है, अत कोई भी निरन्वय विनाश नहीं होता है।

फिर भी यह जो प्रतिसंख्या निरोधके अन्तर्गत अविद्या आदिका निरोध कहा गया है, इसका कारण सम्यक् ज्ञान है, वह अपनी सामग्री जो यम-नियम आदि और श्रवण मनन आदि हैं, उन सामग्रियोंके साथ कारण है ? अथवा स्वयं ही अविद्या आदिका निरोध होता है। यदि सपरिकर सम्यक् ज्ञानके द्वारा निरोध माना जाय तो विना कारणके विनाश माननेका जो बौद्धोंका सिद्धान्त है, उसका विच्छेद हो जाता है और यदि स्वय ही निरोध माना जाय तो क्षणिक-नैरात्म्य आदि भावनारूप जो बौद्ध-मार्गका उपदेश किया

गया है, वह व्यर्थ हो जाता है, अतः दोनों प्रकारसे भी सदोष रहनेसे बौद्ध दर्शन अयुक्त है।

बौद्ध-मतसे प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध तथा आकाश ये तीनों निरुपाख्य कहे गये हैं, उनमें उक्त दोनों निरोधकी निरुपाख्यताका खण्डन कर दिया गया है, अब आकाश की निरूपाख्यताका खण्डन करते हैं।

आकाश भी निरुपाख्य नहीं

प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध की तरह आकाश भी वस्तु है।

'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इत्यादि श्रुतियोंसे आकाशकी उत्पत्ति उपलब्ध होनेसे उसका किसी प्रकारका पदार्थ होना प्रमाणित हो जाता है। जो वेदको प्रमाण नहीं मानते हैं, उन्हें भी शब्द गुणसे अनुमित होनेके कारण आकाश मानना ही पड़ता है। जैसे—"शब्दो-गुणः जातिमत्त्वे सति अस्पर्शत्वे सति बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वात् गन्धवत्" अर्थात् शब्द गुण है, क्योंकि जातिमान् होते हुए और स्पर्शसे भिन्न होते हुए बाह्य इन्द्रियोंमें से एक ही इन्द्रियसे ज्ञात होनेके कारण"।

इस प्रकार सामान्य-विशेष-समवायसे भिन्न जो शब्द है, उक्त अनुमानके द्वारा उसके गुणत्व साबित हो जानेके कारण और गुण किसीके आश्रित ही रहता देखा जाता है, इस नियमसे शब्द गुणका आश्रय जो पदार्थ है वही आकाश है, यह निश्चित होता है क्योंकि शब्द गुण आत्माका गुण नहीं हो सकता है, कारण यह कि शब्द बाह्य इन्द्रियसे ज्ञेय होता है और आत्माके जितने गुण होते हैं, वे आन्तर

इन्द्रियसे ग्राह्य होते हैं। मनका भी गुण शब्द नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मनके जो गुण हैं, उनका बाह्य प्रत्यक्ष नहीं होता है। उसी प्रकार पृथिवी आदिका भी गुण शब्द नहीं हैं, क्योंकि पृथिवी आदिके गुण जो गन्ध आदि हैं, उनके साथ शब्दका साहचर्य नहीं देखा जाता है। यदि पृथिवीका गुण शब्द रहता तो पृथिवीका जो खास गुण गन्ध है, उसकी जहां उपलब्धि होती है वहां शब्दकी भी उपलब्धि होनी चाहिये, किन्तु वैसी उपलब्धि नहीं होती है, अतः पृथिवी आदिके भी गुण शब्द नहीं हो सकते हैं, इस प्रकार गन्ध आदिकी तरह असाधारण (खास) एक इन्द्रियसे ज्ञात होनेवाला शब्द गुण होकर अनुमानके द्वारा जिस द्रव्यको अपना आश्रय सिद्ध करता है, उसीका नाम आकाश है वह पञ्चम भूत पदार्थ है।

फिर भी जिन बौद्धोंने आवरणके अभावमात्रको आकाश माना है, उनके लिये एक पक्षी उड़ने पर आवरण हो जानेसे अन्य पक्षीके उड़नेका अवकाश नहीं रहेगा। यदि यह कहा जाय कि जहां पर आवरण नहीं है, वहां अन्य पक्षी भी उड सकेगा तो जहां आवरण नहीं है अर्थात् आवरणका अभाव जहां है वह प्रदेश तो कुछ वस्तु ही है और उसीका नाम 'आकाश' है। आवरणका अभावमात्र आकाश नहीं हो सकता है।

यहां तात्पर्य यह है कि निषेधके अधिकरण (आधार) का जब तक निरूपण नहीं किया जाता है तब तक निषेध (अभाव) का निरूपण (कथन) नहीं किया जा सकता, यानी निषेधके अधि-करणके अधीन निरूपण निषेधका होता है, अतः आवरणके

अभावका अधिकरणस्वरूप तो वह आकाश पदार्थ ही सिद्ध होता है।

बौद्ध सिद्धान्तमें भी "पृथिवी भगवन् किं सन्निश्रया—यानी हे भगवन्। यह पृथिवी किसके आश्रित है" इस प्रकारके प्रश्न और उसके समाधान किये गये हैं, उसी प्रकरणमें आखिर "वायु किं सन्निश्रयः—यानी वायु किसके आश्रित है" इस प्रश्नका "वायुराकाश सन्निश्रयः—यानी वायु आकाशके आश्रित है" इस प्रकार समाधान किया गया है। यदि आकाश कुछ वस्तु नहीं है तो उक्त प्रकार समाधान कैसे सगत हो सकता है ? इत्यादि विचार करने पर भी आकाशको कुछ वस्तु नहीं मानना सर्वथा अयुक्त है। आवरणके अभाव कहनेसे तो आकाश कुछ भी वस्तु साबित नहीं होता है, क्योंकि अभाव कुछ भी वस्तु नहीं है।

फिर भी बौद्ध-मतमें उक्त दोनों प्रकारके निरोध और आकाश ये तीनों निरुपाख्य (अवस्तु) और नित्य कहे गये हैं यह भी असगत है, क्योंकि जो अवस्तु यानी कुछ वस्तु ही नहीं है उसकी नित्यता अथवा अनित्यता कैसे कही जा सकती है क्योंकि धर्म और धर्मी का जो व्यवहार होता है वह वस्तुके आश्रित होता है, जिसमें धर्म-धर्मी का व्यवहार होता है वह घट आदिकी तरह वस्तु ही हो सकता है, वह निरुपाख्य कथमपि नहीं हो सकता है। बौद्ध-सम्प्रदायमें कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो क्षणिक न हो, तब तो किसी पदार्थका अनुभव करनेवाला व्यक्ति दूसरे क्षणमें जब विनष्ट हो जाता है तब उस व्यक्तिके द्वारा अनुभूत

पदार्थका स्मरण कैसे हो सकता है ? क्योंकि दूसरेके अनुभूत पदार्थका दूसरेको स्मरण होते नहीं देखा जाता है।

"अहमदोऽद्राक्षमिदं पश्यामि च—यानी मैंने इसको देखा था और अभी इसको देख रहा हूं" इस प्रकार पूर्व क्षण और उत्तर क्षणमें देखनेवाले एक ही व्यक्तिके रहने पर ही उक्त प्रकारका कथन हो सकता है। क्षणिक वादमें उक्त प्रकारका कथन असम्भव है। दर्शन और स्मरणकी प्रत्यभिज्ञाका प्रत्यक्ष एक ही कर्त्ताको होता है यह सब कोई मानते हैं। यदि दर्शन और स्मरणका भिन्न कर्त्ता होता तो "अहं अद्राक्षीत्—यानी वर्त्तमानकालके मुझसे देखनेवाला वह मैं अलग था" ऐसे ही प्रयोग सब कोई करते, किन्तु ऐसा प्रयोग कोई नहीं करता है। जहां उस प्रकारकी प्रतीति होती है वहां दर्शन और स्मरणके, भिन्न भिन्न कर्त्ताका ही सब कोई समझते हैं। जैसे "स्मराम्यहमसावदोऽद्राक्षीत्—यानी मैं अन्य विषयको स्मरण करता हूं और इसने इसे देखा था"।

जन्मसे लेकर मरण तक 'मैं हूं' 'मैं हूं' इस प्रकार बराबर अपनी एक ही आत्माका ज्ञान रखता हुआ क्षणभङ्ग-वादी बौद्ध क्यों नहीं लज्जित होता है।

यदि यह कहा जाय कि सादृश्य रहनेसे उस प्रकारका ज्ञान होता है तो "तेन इदं सदृशम्—यानी उसके यह सदृश है" इस प्रकार दो सदृश वस्तुओंका ज्ञाता एक ही होना चाहिये अर्थात् पूर्व क्षण और पर क्षण दोनों क्षणोंमें जो स्थायी रहेगा वह कह सकता है 'उसके सदृश यह है', बौद्ध-मतमें जब दो क्षण रहनेवाला कोई

पदार्थ या आत्मा नहीं है तो पूर्व क्षण और उत्तर क्षणके सादृश्यका ज्ञान कौन कर सकता है। यदि यह कहा जाय कि 'तेन इदं सदृशम्' यह एक दूसरा ही ज्ञान है, इसमें पूर्व क्षण और पर क्षणका ज्ञान नहीं होता है तो 'तेन इदम्' इन दो विभिन्न पदार्थों का क्यों कथन किया जाता है और यदि इसे दूसरा ज्ञान भी मानें तो सादृश्यका ही ज्ञान होगा तब 'तेन इदं सदृशम्' यह वाक्य-प्रयोग व्यर्थ हो जाता है, और वहां 'सादृश्यम्' ऐसा ही प्रयोग होना चाहिये।

अपने पक्षकी स्थापना और दूसरे पक्षका खण्डन करनेवालेको लोक प्रसिद्ध पदार्थकी अवहेलना कभी नहीं करनी चाहिये। *

प्रश्न—'तेन इदं सदृशम्' यह विकल्प ज्ञान है यानी भ्रमात्मक ज्ञान है। और यह विकल्प अपने आकारका ही बाह्य विषयरूपसे अध्यवसाय (ज्ञान) करता है। किन्तु तत्त्वतः उनके प्रतीतिसे पूर्व अपर क्षण और उन दोनोंके सादृश्यका ज्ञान नहीं होता है तब कैसे अनेक ज्ञान करनेवाला एक स्थिर पदार्थ है इसका प्रसङ्ग उठ सकता है।

समाधान—उक्त प्रतीतिसे नाना पदार्थोंसे मिले हुए वाक्यार्थका भान (ज्ञान) विकल्पमें होता है यही कहना पड़ेगा, यदि उसमें नाना पदार्थोंका यानी तत्पदार्थ, इदं पदार्थ और सादृश्य पदार्थ इन तीन पदार्थोंका भान नहीं माना जाय तो वाक्यार्थ-बोधका ही आघात हो जाता है और विकल्पक शाब्द बोधका ही उच्छेद हो जाता है।

'नाना ज्ञान है' यह भी नहीं क्योंकि नाना होनेसे अलग अलग एक एक ज्ञानकी समाप्ति हो जानेसे उनके परस्पर वार्ता ज्ञान

(आकाक्षा) नहीं रहनेके कारण नाना भी वह ज्ञान नहीं कहला सकता, इसलिये पूर्व-अपर क्षण और उन दोनोके सादृश्यका एक ज्ञान है यही मानना पड़ता है। एक ज्ञानका नाना होना भी सभव नहीं, क्योंकि एकत्वसे अनेकत्वका विरोध है यानी जो एक है वह अनेक नहीं होगा। और पूर्व अपर क्षणमे रहनेवाला एक ज्ञाताके बिना वैसा ज्ञान होना असम्भव है अत क्षणिक वादका प्रसङ्ग युक्ति शून्य है।

यदि यह कहा जाय कि इस विकल्पमे 'तनद् सदृशम्' इन दो पदोका ही प्रयोग है किन्तु तत्पदार्थ, इद पदार्थ और इनका सादृश्य विवक्षित नहीं है और इसी प्रकारका ज्ञानका आकार कल्पित है यानी वैसा ही बाह्य पदार्थमे ज्ञानका आरोप है तो वह आरोप भी क्या गृह्यमाण बाह्य पदार्थमे होता है ? अथवा अगृह्यमाण बाह्य पदार्थमे होता है ? यदि गृह्यमाण बाह्यमे होता है तो क्या सविकल्प गृह्यमाणमे, अथवा निर्विकल्पसे गृह्यमाणमे ?

सविकल्परूपसे तो सामान्यरूप बाह्यका ज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि व्यक्तिका ज्ञान नहीं हो कर केवल सामान्य बाह्य अशका सविकल्परूपसे बोध नहीं होता है और व्यक्तिका ज्ञान उक्त पद्धतिसे असभव है।

अविकल्प (निर्विकल्प) से बाह्य पदार्थोके गृह्यमाण होने और सविकल्पसे बाह्य पदार्थोके गृह्यमाण नहीं होनेमे विकल्प अपने आकारका आरोप नहीं कर सकता है, क्योंकि पुरोवर्त्ती (सामनेका) वस्तुमे जब रजत ज्ञानका प्रतिभास नहीं होता है तब रजत ज्ञानसे रजतका आरोप नहीं किया जा सकता है और जब बाह्य पदार्थ अगृह्यमाण

मे किसी व्यक्ति को कुछ क्रिया नहीं करनी चाहिये और सापेक्ष पदार्थ से कार्य की उत्पत्ति मानने से कार्य की उत्पत्ति मे किसी अन्य की ही अपेक्षा होती है यानी कार्य अन्य से उपकृत होता है, ऐसा मानने से क्षणिक-पक्ष मे क्षण के अभेद रहने से यानी क्षण के खण्ड नहीं होने के कारण कब कार्य उपकृत होता है और कब अनुपकृत होता है, इसका निर्धारण नहीं हो सकता है और उपकृत या अनुपकृत के सिवाय तीसरा कोई प्रकार नहीं है, इससे भी यही साबित होता है कि बौद्ध-मत मे भाव पदार्थ से भाव पदार्थकी उत्पत्ति नहीं होती है किन्तु अभाव से भाव पदार्थ की उत्पत्ति होती है यही निश्चित होता है।

अभाव से भाव पदार्थ की उत्पत्ति

विनष्ट दूध से यानी दुग्ध के अभाव (विनाश) होने से दही उत्पन्न होता है और मृत्पिण्ड के विनष्ट होने से घट उत्पन्न होता है। कूटस्थ (अविकृत) कारण से ही यदि कार्य उत्पन्न होता तो सब पदार्थ सबसे उत्पन्न होते।

तात्पर्य यह कि कूटस्थ (अविकृत) कारण से यानी कारण के बिना विनाश होने से ही यदि कार्य की उत्पत्ति मानी जाय तो क्या उक्त कूटस्थ कारण का कार्य-उत्पादन करना स्वभाव माना जाता है? अथवा नहीं?

यदि कार्य का उत्पादन करना कारण का स्वभाव माना जाय तो

जितने उसके काय कर्तव्य हैं, उन सबको एक बार ही क्यों नहीं उत्पादन करता? क्योंकि सामर्थ्य रहने से क्यों रुक सकता है? यदि उसका वैसा स्वभाव नहीं है तो कभी वह कार्य-उत्पादन नहीं कर सकता।

यदि यह कहा जाय कि "समर्थ कारण भी सर्वत्र सहकारियों के साथ ही, क्रमसे ही कार्यों का उत्पादन करता है" यह भी युक्ति-रहित है, क्योंकि सहकारी क्या उसका कुछ उपकार करता है? अथवा नहीं?

यदि कुछ उपकार नहीं करता है तो अनुपकारी होने के कारण सहकारी की कुछ भी जरूरत नहीं। यदि उपकार करता है तो वह उपकार उस से भिन्न है? अथवा अभिन्न है?

यदि अभिन्न उपकार है, तो उपकार शब्द से भाव रूप ही कारण कहा जाता है इस प्रकार अन्य-कृत उपकार होने और उस उपकार से कूटस्थ के अभेद मानने से उसके भी अन्य-कृत हो जाने से उसका कूटस्थत्व ही विनष्ट हो जाता है।

कूटस्थ से उपकार के भेद मानने पर उस उपकार के होने पर ही कार्य का होना और उसके नहीं होने पर कार्य का नहीं होना यही निश्चित होता है, तब कूटस्थ कारण के रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होने के कारण अन्वय-व्यतिरेक से उपकार ही कार्यकारी होगा और भाव रूप कारण कार्य-कारी नहीं होगा यानी अर्थ-क्रियाकारी नहीं होगा, जैसा कहा है—

वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम् ।
चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्य खतुल्यश्चेदसत्फल ॥

वर्षा और धूपसे आकाश का क्या होता है, यानी उनसे आकाश का कुछ भी नहीं बिगडता है, उन दोनो का फल त्वचा मे होता है यानी त्वचावान् के ऊपर वर्षा और धूप का असर पडता है।

यदि आकाश त्वचा की तरह माना जाय तो वह अनित्य हो जाता है और यदि त्वचा को ही आकाश की तरह मान तो त्वचा मे उक्त फल यानी वर्षा और धूप का असर नहीं पड़ता है।

तात्पर्य यह है कि स्थायी जो कारण पदार्थ माना जाता है वह यदि उपकार का आश्रय माना जाता है तो उपकार से इस भाव रूप कारण के अभेद मानने से वह भाव ही अनित्य हो जाता है, क्योकि उपकार का स्वरूप अनित्य है। यदि उपकार से उस भाव पदार्थ का भेद मान तो उपकार ही अनित्य हो जाता है क्योंकि वह अन्यके द्वारा उत्पन्न होता है और वह उपकार ही कारण हो जाता है। भाव पदार्थ कारण नहीं होता है, इत्यादि विवेचना करने से यही सिद्ध होता है कि-अभाव ग्रस्त बीज आदि से ही अंकुर आदि कार्यो की उत्पत्ति होने से यानी बीज आदि के अभाव होने से ही अंकुर आदि कार्य उत्पन्न होते है यह सार्वजनिक प्रत्यक्ष होने से अभाव से ही भाव की उत्पत्ति होती है

अभावसे भावकी उत्पत्तिका खण्डन

अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि अभाव अदृष्ट रहता है यानी अभाव त्रिकाल में भी कभी किसी का भी दृष्ट नहीं हुआ है। शश-विषाण (खरगोस का सींग) से अंकुर आदि कार्यों की उत्पत्ति कभी नहीं देखी गयी है। यदि अभावसे भावकी उत्पत्ति होती तो अभावके निर्विशेष (तुल्य) शश-विषाण आदि अलीक पदार्थों से भी अंकुरकी उत्पत्ति होती।

बीज आदि के उपमर्दन से जो उन का अभाव होता है, उस अभावकी और शश-विषाण आदि की स्वरूप शून्यता की समानता रहने पर भी विशेषता अवश्य है क्योंकि बीज के उपमर्दन से ही अंकुर उत्पन्न होता है और दूध के उपमर्दन से दही उत्पन्न होता है किन्तु अभावरूपसे समान होने पर भी बीज के अभाव से दही और दूध के अभावसे अंकुर कभी नहीं उत्पन्न होता है।

निर्विशेष अभाव की कारणता मानने पर शश-विषाण आदि से भी अंकुर आदि की उत्पत्ति होनी चाहिये किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है अतः अभाव की विशेषता अवश्य मन्तव्य है यानी कमल आदि पदार्थों के जैसे नीलत्व आदि विशेषण हैं, वसे अभावका भी विशेषण मानने से विशेषण युक्त होने

के कारण कमल आदि की तरह अभाव भी भाव पदार्थ सिद्ध हो जाता है तब वह निरुपाख्य कभी नही सिद्ध हो सकता है ।

अभाव के विशेषण मानने पर भी अभावसे किसी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि "जो जिससे अन्वित (सबद्ध) नहीं रहता है वह उसका विकार यानी काय नहीं हो सकता" जैसे घट, सरवा आदि सुवर्ण से अन्वित नहीं है अत वे सुवर्णके विकार नहीं होते हैं, इसी प्रकार कोई भी काय पदार्थ अभावसे अन्वित नहीं है अत अभाव के विकाररूप कार्य नहीं हो सकते और भावसे अन्वित रहने के कारण ये सारे काय भाव के विकार हो सकते हैं ।

मिट्टी से अन्वित जो घट आदि हैं वे लोकमे तन्तु आदि के विकार कभी नहीं कहे जाते हैं । मिट्टी से अन्वित घट आदि रूप भाव पदार्थ को मिट्टी का ही विकार लोक समझते हैं।

बौद्धो ने जो यह कहा था कि स्वरूप के उपमर्दन के सिवा किसी कूटस्थ वस्तु की कारणता असभव होने से "अभाव से ही भाव की उत्पत्ति हो सकती है" यह असगत है ।

सुवर्ण से उत्पन्न होने वाले कुण्डल आदि कार्यो में सुवर्ण का प्रत्यभिज्ञान रहता ही है। सुवर्ण के स्वरूप के विना उपमर्दन हुए ही उससे कुण्डल आदि बनते हैं । सर्वत्र काय में कारण विद्यमान रहता ही है ।

जहा बीज आदि पदार्थों के स्वरूप का उपमर्दन हो कर अंकुर आदि कार्य उत्पन्न होते देखे जाते हैं वहा भी उपमर्दन की जो पूर्व अवस्था है वह उत्तर अवस्था का कारण नहीं है किन्तु जिनका उपमर्दन नहीं हुआ है ऐसे जो बीज आदि के अवयव है वे ही अंकुर आदि के कारण है यही माना जाता है।

असत् शश-विषाण आदि से सत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं दीखने से और सत् सुवर्ण आदि से सत् कुण्डल आदि की उत्पत्ति दीखनेसे अभावसे भावकी उत्पत्ति जो कही गयी है वह सर्वथा असंगत है।

स्थायी भाव पदार्थ भी क्रमिक सहकारी के एकत्र होनेसे क्रम से कार्यों का संपादन करता है। सहकारी अनुपकारक नहीं होते है यानी सहकारी के द्वारा उपकार अवश्य किया, जाता है। वह उपकार सहकारी से भिन्न भी नहीं है और अभिन्न भी नहीं है किन्तु अनिर्वचनीय है, और अनिर्वचनीय पदार्थ से उत्पन्न होने वाला कार्य भी अनिर्वचनीय होता है अतः स्थिर भाव पदार्थ कारण नहीं है यह कहना युक्ति से रहित है क्योंकि कार्य का उपादान कारण स्थिर भाव पदार्थ ही होता है जैसे सर्प का उपादान रज्जु है, जो स्थायी है।

"मृत्तिकेत्येव सत्यम्" जैसे घट, सराव (सरवा) आदि विकार यानी कार्य मिथ्या है किन्तु उनका उपादान कारण मृत्तिका

रूप उपाधि के विना यदि व्यक्तियों का ही कार्य कारण भाव माना जाय तो अनुमान का ही उच्छेद हो जाय यानी सामान्य रूप उपाधि के स्वीकार करने पर ही अनुमान का अवसर हो सकता है, अन्यथा व्यक्तिओं के असख्य रहने से व्याप्ति-ज्ञान होना ही असभव है। और जाति मानने से एक बीजसे दूसरे बीजमें परस्पर विलक्षणता के अभाव होनेसे स्वलक्षण, विलक्षण सिद्धान्त का उच्छेद होता है।

यदि "अभाव से भावकी उत्पत्ति" मानी जाय तो उदासीन जो व्यक्ति है, कुछ भी जो क्रिया नहीं करते हैं उनके भी अभिलषित पदार्थ की सिद्धि हो सकती है क्योंकि अभाव तो सुलभ ही है और वह उदासीन को भी प्राप्त ही है।

खतीके कर्म मे कुछ भी उद्योग नहीं करने वाले किसान को अनायास ही धान्य उपज सकता है। मिट्टी के सस्कार करने मे उदासीन कुलाल का भी अनायास ही घट उत्पन्न हो सकता है इसी प्रकार विना कुछ किये ही जुलाहा भी वस्त्र का निर्माण क्या नहीं कर लेता है? क्योंकि अभाव सर्वत्र ही सबको प्राप्त है, और अभाव से ही सब कार्यों की उत्पत्ति बौद्धों ने मानी है और यह मानने से स्वर्ग और मोक्ष की भी कुछ प्रतिष्ठा नहीं रह जाती है तब उसके लिये कोई प्रयत्न भी नहीं कर सकता है, किन्तु न तो यह युक्ति-युक्त है और कोई इसे स्वीकार भी नहीं कर सकता इत्यादि विवेचना करने से वह

जो स्थायी भाव पदार्थ है यानी जो अपने सारे कार्यों में सर्व अनुगत रहती है वही सत्य है ।

उक्त श्रुति में मृत्तिका के दृष्टान्त की सत्यता प्रतिपादन करने से दार्ष्टान्तिक जो मूल कारण है वह सत्य है यही कहा गया है ।

प्रश्न— "भेद और अभेद इन दोनों से अनिर्वचनीय जो उपकार है उस उपकार से उपकृत जो कारण है वह अनिर्वचनीय कार्य का उत्पादन करता है यह युक्ति-रहित है क्योंकि भेदके निषेध करने से युक्त या अभेद सिद्ध हो जाता है और अभेद के निषेध करने से भेद सिद्ध हो जाता है।

समाधान – बौद्धोंने सबसे विलक्षण, स्वलक्षण, भाव रूप पदार्थ को अपने सिद्धान्त में माना है । उनके सिद्धान्त में भी बीज जाति से अंकुर जाति ही कैसे उत्पन्न होती है और अन्य जाति उत्पन्न नहीं होती है ? क्योंकि उनके सिद्धान्त में एक बीज से दूसरे बीज का जैसे अन्यत्र विभेद है वैसे अन्य पदार्थ की भी बीजसे विलक्षणता है। बीजत्व और अंकुरत्व जो जाति है वह परमार्थ सत् नहीं है, जिस से बीजत्व और अंकुरत्व का कार्य-कारण भाव हो सके इस लिये काल्पनिक जो स्वलक्षण उपादान (कारण) बीज जाति के पदार्थ हैं, उनसे ही काल्पनिक जाति से उपहित अंकुर जाति के पदार्थों की उत्पत्ति होती है ऐसा ही मान्य है, ऐसा नहीं मानने से यानी सामान्य (जाति)

रूप उपाधि के बिना यदि व्यक्तिओं का ही कार्य-कारण भाव माना जाय तो अनुमान का ही उच्छेद हो जाय यानी सामान्य रूप उपाधि के स्वीकार करने पर ही अनुमान का अवसर हो सकता है, अन्यथा व्यक्तिओं के असंख्य रहने से व्याप्ति-ज्ञान होना ही असंभव है। और जाति मानने से एक बीजसे दूसरे बीजमें परस्पर विलक्षणता के अभाव होनेसे स्वलक्षण, विलक्षण-सिद्धान्त का उच्छेद होता है।

यदि " अभाव से भावकी उत्पत्ति " मानी जाय तो उदासीन जो व्यक्ति हैं, कुछ भी जो क्रिया नहीं करते हैं उनके भी अभिलषित पदार्थ की सिद्धि हो सकती है क्योंकि अभाव तो सुलभ ही है और वह उदासीन को भी प्राप्त ही है।

खेतीके कम में कुछ भी उद्योग नहीं करने वाले किसान को अनायास ही धान्य उपज सकता है। मिट्टी के संस्कार करने में उदासीन कुलाल का भी अनायास ही घट उत्पन्न हो सकता है इसी प्रकार बिना कुछ किये ही जुलाहा भी वस्त्र का निर्माण क्यों नहीं कर लेता है ? क्योंकि अभाव सर्वत्र ही सबको प्राप्त है, और अभाव से ही सब कार्यों की उत्पत्ति बौद्धों ने मानी है और यह मानने से स्वर्ग और मोक्ष की भी कुछ प्रतिष्ठा नहीं रह जाती है तब उसके लिये कोई प्रयत्न भी नहीं कर सकता है, किन्तु न तो यह युक्ति-युक्त है और कोई इसे स्वीकार भी नहीं कर सकता इत्यादि विवेचना करने से यह

सब प्रकार स निश्चित हो जाता है कि अभाव से भाव की जो उत्पत्ति कही गयी है वह सर्वथा युक्ति शून्य है।

बाह्यार्थवादी बौद्धों के सिद्धान्त का उपपादन करके युक्तियों द्वारा उसका खण्डन किया गया है, अब विज्ञानवादी बौद्धोंकी शंका का उत्थान करके उसका समाधान करते हैं।

किसी शिष्यके बाह्य विषय में आग्रह देख कर उसके अनुरोध से ही यह बाह्यार्थवाद की प्रक्रिया कही गयी है किन्तु वास्तव में यह बुद्धका अभिप्राय नहीं है। बुद्धका तो केवल विज्ञान स्कन्ध ही अभिमत है।

विज्ञान वाद

विज्ञानवाद में प्रमाण, प्रमेय और फल इन का व्यवहार बुद्धि परिकल्पितरूपसे आन्तर ही होता है यानी उक्त व्यवहार काल्पनिक है किन्तु पारमार्थिक नहीं है।

स्वरूप विज्ञान का आकार बाह्यरूप से असत्य (मिथ्या) है और अन्तररूप से सत्य है, वैसा जो विज्ञान का आकार है वह प्रमेय है। उक्त रूपसे प्रमेय का प्रकाश (भान) होना प्रमाण का फल है। फल के प्रकाश करने की जो शक्ति है वह प्रमाण है

यह समस्त व्यवहार अन्त:प्रदेशमें होता रहता है क्योंकि विज्ञान से अतिरिक्त वास्तव में अन्य पदार्थ कुछ भी कहीं नहीं है

बाह्य पदार्थ मानने वाले वैभाषिक और सौत्रान्तिक ने भी प्रमाण और फल को काल्पनिक (मिथ्या) ही माना है क्योंकि प्रमाण तो करण है और प्रमिति फल है, इन दोनो के यानी प्रमाण और फलके भिन्न भिन्न अधिकरण मानने से उन दोनो का करण-फल भाव नहीं बन सकता है क्योंकि करण-फल भाव एक अधिकरण वाले दो पदार्थों का होना है यही नियम है, क्योंकि परशु (फरसा) जो द्वैधीभाव यानी छेदन का करण है वह जब खदिर-गोचर होता है अर्थात् जब उसका अधिकरण (आधार) खदिर नाम का वृक्ष होता है तब पलाश वृक्षमें द्वैधीभाव यानी छेदनरूप फल दृष्ट नहीं होता है।

यद्यपि परशु तो समवाय सम्बन्ध से अपने अवयवों में ही रहता है यानी समवाय सम्बन्ध से उसका अधिकरण अपना अवयव है और छेदन का अधिकरण वृक्ष है इस प्रकार वहां भी भिन्न भिन्न अधिकरण दृष्ट होता है किन्तु अपना व्यापार करता हुआ जो करण स्वरूप परशु है वह संयोग सम्बन्ध से खदिर वृक्ष में ही है यानी संयोग सम्बन्ध से उसका अधिकरण खदिर वृक्ष है और छेदनका भी अधिकरण वह वृक्ष ही है इस प्रकार दोनोंका एक अधिकरण सिद्ध होता है।

ज्ञानमें ही प्रमाण और फल होता है ऐसा मानने पर ही यानी प्रमाण और फलका जब विज्ञान ही अधिकरण माना जाय तभी दोनोंका एक अधिकरण कहा जायगा अन्यथा एक अधिकरण नहीं हो सकता।

"कुण्डे वदरवत्" यानी जिस प्रकार कुण्डमें वैर फल रहता है उस प्रकार ज्ञानमें प्रमाण और फल का रहना असंभव है क्योंकि ज्ञानका संयोग नहीं होता है।

तादात्म्य (अभेद) संवन्धसे ज्ञानमें प्रमाण और फलकी अवस्थिति है, यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वस्तुतः भिन्न भिन्न प्रमाण और फल ये जो दो पदार्थ है उन दोनोंसे एक ज्ञानका अभेद मान लेनेसे उन दोनोंका भी परस्पर अभेद सिद्ध हो जाता है किन्तु यह मान्य नहीं है इसी लिये प्रमाण और फलका भेद काल्पनिक ही माना गया है।

उसका अज्ञान-व्यावृत्तिरूप से कल्पित जो ज्ञानत्व सामान्यरूप अंश है वह फल है। अशक्ति-व्यावृत्तिरूपसे कल्पित जो आत्म-अनात्मकी प्रकाशन शक्ति है यानी विज्ञान की आत्मा अर्थात् स्वरूप के प्रति और अनात्मा अर्थात् अर्थके प्रति जो प्रकाश करनेकी शक्ति है वह प्रमाण है।

वैभापिकके मतमें वाह्य अर्थ प्रत्यक्ष है और सौत्रान्तिकके मतमें ज्ञानगत अकारकी विचित्रतासे वाह्य अर्थ अनुमेय है किन्तु उन दोनोंके मतमें भी प्रमाण-फल विभाग कल्पित ही है।

ज्ञान की जो अथ के समान रूपता है यानी ज्ञान का स्वरूप जो वाह्य नील के समान भासमान होता है वह अनीलाकार के अपोह (व्यावृत्ति) रूपसे कल्पित है, वही कल्पित नीलाकारत्व वाह्य अर्थ

को स्थापित करता है, जैसे प्रतिबिम्ब बिम्बको स्थापित करता है, इस लिये वह प्रमाण है।

अज्ञान की व्यावृत्तिरूपसे यानी ज्ञान से जो अन्य है उसकी व्यावृत्तिरूपसे (परित्यागपूर्वक) कल्पित जो ज्ञानत्व सामान्य अंश है वह फल है क्योंकि वह सारूप्य-बलसे यानी समान रूप होने के कारण नील ज्ञानत्व से व्यवस्थापित होता है। इस मतमें भी प्रमेय तो परमार्थ से भिन्न और बाह्य ही है।

ज्ञान और ज्ञेय की जो व्यवस्था होती है उसका नियामक केवल सारूप्य यानी समानरूपता है। जैसा सौत्रान्तिकने कहा है।

"नहि वित्तिसत्तैव तद्वेदना युक्ता तस्याः सर्वत्राविशेषात्, तां तु सारूप्यमाविशत्-सरूपयत्तद्घटयेत्-वित्ति सत्तासे यानी ज्ञान मात्र से अर्थ की वेदना यानी बाह्य अर्थ का भान नहीं होता है, क्योंकि ज्ञान मात्र सब ज्ञेय-साधारण है अर्थात् ज्ञान तो सारे ज्ञेय में रहता है इस लिये उस ज्ञान की समान रूपता को प्राप्त करता हुआ वह बाह्य पदार्थ अपने स्वरूप से विषय भाव से ज्ञान के साथ संयुक्त हो जाता है।"

बाह्य अर्थके अभावका रहस्य

विज्ञान के आलम्बनरूपसे जो बाह्य अर्थ माना गया है वह परमाणु भी नहीं है और परमाणुसे भिन्न भी नहीं है।

वह परमाणु नहीं है क्योंकि एक स्थूल नीलाभास जो ज्ञान है वह परम सूक्ष्म परमाण्वाभास नहीं हो सकता यानी जिस ज्ञान में

एक स्थूल नील आकार का प्रतिभास होता है, उसमें परम सूक्ष्म परमाणु का प्रतिभास होता है यह कैसे कहा जा सकता है और ऐसा ज्ञान नहीं होता है कि जिसमे प्रतिभास किसी का हो और विषय कोई दूसरा ही हो।

वैसा मानने से भासमान से अन्य-गोचर ज्ञान के होने के कारण यानी जो ज्ञानमें भासमान होता है, उस से यदि ज्ञानका विषय अन्य हो जाय तो सामान्य रूप से गोचर हो जाने से सब कोई सर्वज्ञ हो सकता है।

"प्रतिभासका धर्म स्थूलता है" यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह प्रतिभासरूप ज्ञानका धर्म है? अथवा प्रतिभास काल मे विषय का धर्म है?

यदि प्रतिभासका यानी ज्ञानका धर्म है तो विज्ञानका अंश स्थूलता है और इस प्रकार स्थूलता का आलम्बन विज्ञान ही सिद्ध होने से वाह्य पदार्थ मानने की आवश्यकता नहीं है।

यदि विषय का धर्म स्थूलता है तो निरन्तर उत्पन्न जो रूप-परमाणु हैं, उनका एक विज्ञानके द्वारा गृहीत होना ही स्थूलता है यानी निरन्तर उत्पन्न होने वाले बहुत परमाणुओं का जब एक विज्ञान होता है तब उस मे स्थूलता आ जाती है।

यद्यपि नीलत्व की तरह स्थूलत्व परमाणु-धर्म नहीं है क्योंकि प्रत्येक परमाणु मे स्थूलत्व नहीं है तथापि सावृत स्थूलत्व रह सकता है।

तात्पर्य यह कि अनेक परमाणुओं का एक ज्ञानसे ग्रहण होने पर कुछ स्थूल स्वरूप गृहीत होता है वही सावृत स्थूलत्व है।

प्रत्येक अलग अलग जो परमाणु तत्त्व है, उसके आच्छादक होनेसे सवृति वुद्धि है। जो जो परमाणु, भिन्न २ वुद्धिसे ज्ञय नही होते हैं व ही निरन्तरपरमाणु हैं यानी उनके बीचमें दूसरा विजातीय परमाणु नहीं रहता है और व सब परमाणु जब एक वुद्धिसे ज्ञेय होते हैं तब व स्थूलरूपसे भासित होने लगते हैं, व परमाणु नही हैं और वस्तु ज्ञान भ्रम नहीं कहला सकता, इन युक्तियों से स्थूल नीलका जो भान होता है वह सावलम्ब है यानी उसका कोई वाह्य पदार्थ आलम्ब (आधार) है इस प्रकार वाह्यार्थ-वादीने अपने पक्षका समर्थन किया और उसका खण्डन विज्ञान-वादी इस प्रकार करते हैं—

निरन्तर (अव्यवहित) जो नील परमाणु हैं, वे एक वुद्धि से ज्ञेय होने पर यानी एक ज्ञान के विषय होने पर नील पदार्थ मे भी रस, गन्ध, स्पर्श परमाणुओं के सद्भाव रहने से रूप परमाणुओं के नैरन्तर्य का अभाव हो जाता है इस लिये वृक्ष समुदाय में व्यवधान रहने पर भी यानी वीच-वीच मे फाक रहने पर भी जैसे दूरसे एक घना जगल सा प्रतीत होता है वैसे ही परमाणुओं मे व्यवधान होने पर भी उक्त प्रकार स्थूल प्रतीति होती है अत वह भ्रान्त है यही निश्चित होता है इस लिये कल्पना से रहित होने पर भी भ्रान्त होने के कारण पीत शख के ज्ञान की तरह घट आदि ज्ञान भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा यदि घट आदि ज्ञान परमाणु-

गोचर माना जाय, क्योंकि "कल्पनापोढमभ्रान्तम्"- यानी कल्पनासे रहित हो और भ्रान्त न हो ऐसा प्रत्यक्ष का लक्षण किया गया है

जिस प्रकार घट पट आदि ज्ञान के विषय अनन्त परमाणु, जो घटा द क अवयव स्वरूप है, नहीं हो सकते है, इसी प्रकार परमाणुओं के समूहस्वरूप घट पट आदि अवयवी पदार्थ भी उक्त ज्ञान का विषय नहीं हो सकता है ।

परमाणुओ से घट-पट आदि का भद है अथवा नहीं, और भेद रहने पर भी कोई सबन्ध है अथवा नहीं ?

यदि सबन्ध नहीं है तो उपादान उपादेय भाव यानी घट पट आदिक अवयवस्वरूप परमाणु और उसके अवयवीस्वरूप घट-पट आदि पदार्थ इन दोना का जो कार्य-कारण भाव है वह विना सबन्ध के कैसे हो सकता है ?

यदि कोई सबन्ध है तो क्या तादात्म्य (अभेद) सबन्ध है ? अथवा समवाय सबन्ध है ?

उन दोनों के अभेद सबन्ध मानने से परमाणुओ से परमाणुओं की उत्पत्ति होने से पूर्वोक्त दोष यानी उसके स्थूलत्व का ज्ञान भ्रान्त हो जानेसे उसकी प्रत्यक्षता ही नहीं हो सकती और समवाय सबन्धका तो विशद रूपसे वैशेषिक अधिकरण मे आगे खण्डन किया जायगा।

यदि अवयव-अवयवीका भेद माना जाय तो, गो और अश्व की तरह अत्यन्त विलक्षणता होने से तादात्म्य (अभेद) सबन्ध ही नहीं हो सकता।

इसी प्रकार भेद और अभेद इन विकल्पों के द्वारा उनके गुण, कर्म, जाति आदि का भी निराकरण हो जाता है यानी घट-पट आदि पदार्थों में जो जाति, गुण अथवा कर्म माने जाते हैं वे भी पूर्वोक्त रीतिसे भेद और अभेद के विकल्प से अर्थात् वे घट-पट आदि पदार्थों से भिन्न भी नहीं हो सकते हैं और अभिन्न भी नहीं हो सकते।

भिन्न रहने से पूर्वोक्तरीतिसे किसी प्रकार का सबन्ध ही उनका नहीं होता है और अभिन्न रहने से फिर वे भी परमाणु ही हो जाते हैं।

इस प्रकार जो जो प्रतिभासित होता है वह कुछ भी विचार में नहीं आता है और अप्रतिभासमान पदार्थ की सत्ता मानने में कुछ भी प्रमाण नहीं रहने के कारण ज्ञान का बाह्य-आलम्बन नहीं हो सकता है।

साराश यह कि किसी प्रकार का जो ज्ञान होता है, वस्तुतः कोई बाह्य विषय नहीं रहता है, किन्तु यह जो घट-पट आदि अनेकानेक बाह्य विषय प्रतीत होते हैं वे वासनामय हैं।

जैसे स्वप्न अवस्थामे बाह्य विषयके सद्भाव नहीं रहने पर भी वासनामय अनेकानेक बाह्य विषय प्रतीत होते रहते हैं, वैसे ही अनादि-कालसे चली आती हुई अनेकानेक वासनाओं के कारण जाग्रत् अवस्थामें भी अनेकानेक विषय प्रतीत होते रहते हैं, अतः वास्तवमे

ज्ञानका आलम्बन (विषय) कोई भी बाह्य पदार्थ नहीं है। सबके सब ज्ञान निरालम्ब हैं यानी बाह्य आलम्ब-शून्य हैं।

जिस प्रकार इन्द्रिय के द्वारा अप्रत्यक्ष पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार विज्ञान के द्वारा किसी अप्रत्यक्ष पदाथ का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, अत. विज्ञान का कोई भी विषय नहीं कहा जा सकता।

जसे इन्द्रियों से घट-पट आदि विषयों का ज्ञान उत्पन्न होता है, वैसे विज्ञान से दूसरे विज्ञान का ज्ञान उत्पन्न होना भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक विज्ञान के द्वारा दूसरे विज्ञान की उत्पत्ति मानने से उस विज्ञान से भी तीसरे विज्ञान की उत्पत्ति होने से और इस क्रमसे उत्पन्न होने वाला प्रत्येक विज्ञान अपर (दूसर) विज्ञान का उत्पादक होगा, इस प्रकार एक विज्ञानके द्वारा अपर विज्ञानका उत्पत्तिक्रम जारी रहने से अनवस्था (अविश्राम) नाम का दोष हो जाता है।

घट-पट आदि विषयरूप आधारमे प्राकट्यस्वरूप (प्रगटहोना) फल होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भूत और भविष्य के विषयों मे यह असभव है अर्थात् जिस विषयका ज्ञान हो चुका और जिस विषयका ज्ञान होगा, उन विषयों में उक्त प्रकार फल का रहना यानी प्रगटता का रहना असंभव है क्योंकि यह सभव नहीं कि धर्मीकी तो उत्पत्ति न हो और धर्म की उत्पत्ति हो जाय। अतीत (भूत) और अनागत (भविष्य) विषय अभी

उपस्थित नहीं है और विज्ञान के द्वारा विपयरूप आधारमें यानी समस्त विपयों में प्रगटहोनारूप फल उत्पन्न हो, यह कैसे संभव हो सकता है? इस लिये यही निश्चित होता है कि ज्ञान के स्वरूप की जो प्रत्यक्षता है वही अर्थ की प्रत्यक्षता यानी विपय की प्रत्यक्षता है।

पूर्वोक्त रूपसे वह ज्ञान यद्यपि अर्थ-विपयक ज्ञानान्तर का यानी घट-पट आदि ज्ञान का जनक नहीं है और विपयाश्रित प्रगटता को भी उत्पन्न नहीं करता है तथापि स्वभाव संबन्ध से अर्थ (विपय) के व्यवहारका सम्पादन करेगा, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ज्ञानमात्रका जो आकार (स्वरूप) है वह सर्व-साधारण है यानी समस्त ज्ञेय पदार्थमें विद्यमान है अतः नील आकारका जो ज्ञान है वह नील-व्यवहार का हेतु है और पीत आकार का जो ज्ञान है वह पीत-व्यवहार का हेतु है अर्थात् भिन्न भिन्न अर्थ (विपय) की व्यवस्था-के लिये ज्ञान के आकार का भेद मानना पड़ता है यानी भिन्न भिन्न ज्ञान होता है ऐसा मान्य है और बाह्य-अर्थवादी 'सौत्रान्तिक' ने भी ऐसा कहा है—

" नहि वित्ति सत्तैव तद्वेदना युक्ता तस्याः सर्वत्राविशेपात्, तां तु सारूप्यमाविशत् सरूपयत्तद्घटयेत्—ज्ञानकी सत्ता ही अर्थ की सत्ता नहीं है क्योंकि ज्ञान की सत्ता सवत्र अर्थमें यानी ज्ञेय पदार्थ मात्र में विद्यमान है, तव उसका भेद कैसे हो सकता है, अतः बाह्य पदार्थ

अपने स्वरूपके सदृश ज्ञान को बना डालता है यानी विज्ञान के साथ विषयभावसे युक्त होता है " यही मान्य होता है।

'वैभाषिक' के मतमें बाह्य अर्थ प्रत्यक्ष माना गया है और 'सौत्रान्तिक' के मतमें ज्ञान के आकार की विभिन्नता से बाह्य अर्थ का अनुमान किया जाता है अर्थात् भिन्न भिन्न ज्ञान होने के कारण बाह्य अर्थ अनुमेय होता है।

प्रश्न— ज्ञानका ही नील आकार होता है, ऐसा सौत्रान्तिक ने नहीं कहा है किन्तु बाह्य नील के सदृश नील आकार ज्ञान का है ऐसा कहा है, तब कैसे अर्थके ज्ञानाकारत्व की संमति सौत्रान्तिक की कही जाती है और कैसे बाह्य अर्थका अपलाप (त्याग) किया जा सकता है ?

सहोपलम्भ-नियम

सहोपलम्भ नियम से भी यही निश्चित होता है कि ग्राह्य विषय नहीं है, क्योंकि जो जिसके साथ ही निश्चितरूपसे उपलब्ध होता है वह उससे भिन्न नहीं होता है ।

जैसे एक चन्द्रमासे दूसरा चन्द्रमा भिन्न नहीं होता है, क्योंकि जब कभी नेत्रके दोष-वश दूसरा चन्द्रमा दृष्ट होता है तो उस एक चन्द्रमा के साथ ही वह दृष्ट होता है, उससे अतिरिक्त हो कर दूसरा कभी नहीं दिखायी पडता है अतः एक चन्द्रमासे भिन्न दूसरा चन्द्रमा साबित नहीं होता है, उसी प्रकार विषय भी ज्ञानके साथ ही निश्चित-रूपसे उपलब्ध होता रहता है क्योंकि जब विषय का किसी प्रकारका ज्ञान होता है तभी विषय उपलब्ध होता है अतः ज्ञानसे भिन्न विषय साबित नहीं हो सकता है और वह ज्ञान आन्तर चित्त-वृत्तिरूप है, बाह्य नहीं है, अतः विषय भी बाह्य नहीं है यही निश्चित होता है ।

व्यापकविरुद्ध की उपलब्धि

ज्ञान और विषय का भेद नहीं हो सकता है क्योंकि भेद सहोपलम्भ के अनियम का व्याप्य है, जैसे भिन्न भिन्न जो 'अश्विन' नाम के दो नक्षत्र हैं वे निश्चितरूपसे एक साथ उपलब्ध नहीं होते हैं क्योंकि कभी मेघ से ढक जाने पर भी एक की उपलब्धि होती है अत. उन दोनो का भेद सिद्ध होता है अर्थात् जहां भेद

अपने स्वरूपके सदृश ज्ञान को बना डालता है यानी विज्ञान के साथ विषयभावसे युक्त होता है" यही मान्य होता है।

'वैभाषिक' के मतमें बाह्य अर्थ प्रत्यक्ष माना गया है और 'सौत्रान्तिक' के मतमें ज्ञान के आकार की विभिन्नता से बाह्य अर्थ का अनुमान किया जाता है अर्थात् भिन्न भिन्न ज्ञान होने के कारण बाह्य अर्थ अनुमेय होता है।

प्रश्न—ज्ञानका ही नील आकार होता है, ऐसा सौत्रान्तिक ने नहीं कहा है किन्तु बाह्य नील के सदृश नील आकार ज्ञान का है ऐसा कहा है, तब कैसे अर्थके ज्ञानाकारत्व की संमति सौत्रान्तिक की कही जाती है और कैसे बाह्य अर्थका अपलाप (त्याग) किया जा सकता है ?

समाधान—एक ही आकारका अनुभव होता है और वह आकार तो विज्ञान का है अतः विषय की सत्ता मानने में कुछ भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि अनुभव मात्रसे साधारण स्वरूप जो ज्ञान है उसका भिन्न भिन्न विषय का जो पक्षपात है यानी घटज्ञान, पटज्ञान, इस प्रकार भिन्न भिन्न विषय का जो ज्ञान के साथ अनुगत रहना है वह ज्ञान की विशेषता (विभिन्नता) के बिना असंगत है अतः ज्ञान का विषयाकार होना अवश्य मन्तव्य हो जाता है और ज्ञानकी विषयाकारता सिद्ध हो जाने से विषय का स्वरूप तो ज्ञानसे ही अवरुद्ध हो जाता है तब पृथक् बाह्य विषयकी कल्पना करना व्यर्थ है।

सहोपलम्भ-नियम

सहोपलम्भ नियम से भी यही निश्चित होता है कि बाह्य विषय नहीं है, क्योंकि जो जिसके साथ ही निश्चितरूपसे उपलब्ध होता है वह उससे भिन्न नहीं होता है ।

जैसे एक चन्द्रमासे दूसरा चन्द्रमा भिन्न नहीं होता है, क्योंकि जब कभी नेत्रके दोष-वश दूसरा चन्द्रमा दृष्ट होता है तो उस एक चन्द्रमा के साथ ही वह दृष्ट होता है, उससे अतिरिक्त हो कर दूसरा कभी नहीं दिखायी पडता है अतः एक चन्द्रमासे भिन्न दूसरा चन्द्रमा साबित नहीं होता है, उसी प्रकार विषय भी ज्ञानके साथ ही निश्चित-रूपसे उपलब्ध होता रहता है क्योंकि जब विषय का किसी प्रकारका ज्ञान होता है तभी विषय उपलब्ध होता है अतः ज्ञानसे भिन्न विषय साबित नहीं हो सकता है और वह ज्ञान आन्तर चित्त-वृत्तिरूप है, बाह्य नहीं है, अतः विषय भी बाह्य नहीं है यही निश्चित होता है ।

व्यापकविरुद्ध की उपलब्धि

ज्ञान और विषय का भेद नहीं हो सकता है क्योंकि भेद सहोपलम्भ के अनियम का व्याप्य है, जैसे भिन्न भिन्न जो 'अश्विन' नाम के दो नक्षत्र हैं वे निश्चितरूपसे एक साथ उपलब्ध नहीं होते हैं क्योंकि कभी मेघ से ढक जाने पर भी एक की उपलब्धि होती है अतः उन दोनों का भेद सिद्ध होता है अर्थात् जहां भेद

वहा सहोपलम्भका अनियम है यह निश्चित है, इस लिये सहोपलम्भका अनियम भेद का व्यापक है और यहां उसके विरुद्ध यानी सहोपलम्भ-अनियमके विरुद्ध सहोपलम्भ-नियमकी उपलब्धि होती है अतः यहा भेद भी निवृत्त हो जाता है यानी विषय और ज्ञान इन दोनों का भेद नहीं सिद्ध हो सकता है ।

सारांश यह कि विज्ञानवादीने ज्ञान और अर्थ (विषय) का भेद नहीं माना है, क्योंकि भेद का व्यापक सहोपलम्भनियमाभाव है और सहोपलम्भनियमाभाव का विरोधी सहोपलम्भनियम है, अतः जहां पर सहोपलम्भनियम की उपलब्धि होती है वहा भेद नहीं रह-सकता है यह तर्क-सिद्ध है क्योंकि व्यापकके अभाव होनेमें व्याप्यका अभाव रहता ही है। भेदका व्यापक जो सहोपलम्भनियमाभाव है, उसके अभाव रहनेसे व्याप्य जो भेद है उसका भी अभाव हो जाता है क्योंकि व्यापकके अभाव हो जानेसे व्याप्यका भी अभाव हो जाता है यह निश्चित है

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः ।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये ॥

नील विषय और उसका ज्ञान इन दोनों का सहोपलम्भ नियम रहनेसे अभेद सिद्ध होता है। उक्त दोनों का जो भेद प्रतीत होता है यह भ्रान्ति से प्रतीत होता है। जिस प्रकार एक चन्द्रमा मे भ्रान्ति से कभी दो चन्द्रमा का ज्ञान होने लगता है।

जो जो प्रत्यय (प्रतीति) हैं वे सब बाह्य आलम्बन-शून्य है

यानी समस्त प्रतीति आन्तर हैं, वाह्य नहीं है। जैसे स्वप्न, माया आदि प्रतीति आन्तर हैं। स्वप्न प्रत्यय आदि में वाह्य-आलम्बन नहीं रहने से प्रत्ययत्व मात्र-प्रयुक्त निरालम्बनत्व सिद्ध होता है।

यहा स्वभाव हेतु है, "जो साध्य यन्मात्रानुबन्धी और यदात्मा होता है उस साध्यमें वह स्वभाव हेतु कहा जाता है"। वाह्य आलम्बन-शून्यत्व यहा साध्य है, उसमें प्रत्ययत्व स्वभाव हेतु है क्योंकि साध्य जो वाह्य-आलम्बनशून्यत्व है वह प्रत्ययत्वमात्रानुबन्धी है। जैसे 'शिशपा वृक्ष है इस प्रयोगमे वक्षता शिंशपात्वमात्रानुबन्धिनी' है, वैसे ही प्रत्ययत्वमात्रानुबन्धी जो निरालम्बनत्व साध्य है, उसमें प्रत्ययत्व स्वभाव हेतु है यह तर्क-सिद्ध होता है।

वाह्यार्थवादी का आक्षेप

वाह्य पदार्थ की सत्ता नहीं मानने से 'इद नीलम्' 'इद पीतम्' इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि यह नियम है कि "जिसके रहन पर भी जो कदाचित् रहे और कदाचित् न रहे उसका उस से अतिरिक्त हेतु रहता है।" जैसे मेरे बोलने की इच्छा नहीं करने और जानेकी इच्छा नही करने पर भी वचन और गमन की जो प्रतीति होती है वह दूसरे पुरुष के द्वारा होती है यानी मेरे सिवा जो वचन गमन आदि क्रियायें होती है, दूसरे व्यक्ति उनके हेतु होते हैं।

उसी प्रकार विवादास्पद जो प्रवृत्तिप्रत्यय यानी शब्द, स्पर्श, रूप,

रस, गन्ध और सुखादिविपय ये जो छ. प्रकार के प्रवृत्तिविज्ञान हैं, जो 'अहम्' इस प्रकार के आलय विज्ञान से उत्पन्न होते हैं और अर्थ-रूप विषय मे प्रवृत्ति के हेतु होने से प्रवृत्तिप्रत्यय कहे जाते हैं, वे प्रवृत्तिप्रत्यय आलयविज्ञान-सन्तानके रहने पर भी कदाचित् ही होते हैं, सदैव नहीं होते हैं, अत वे उससे अतिरिक्त हेतु से उत्पन्न होत है यह तर्क-सिद्ध है और वह अतिरिक्त हेतु वाह्य अर्थ है, अर्थात् जो पदार्थ आलय विज्ञान सन्तानसे अतिरिक्त हे और कदाचित् उत्पन्न होने वाले नील आदि प्रवृत्तिविज्ञान के भेद का हतु है वह बाह्य अर्थ है, क्योकि उस से अन्य हेतु असभव हे ।

एक सन्तान के अन्तर्गत जो आलय विज्ञान है उस आलय विज्ञान मे जो नील आदि विपयक प्रवृत्तिविज्ञान के उत्पादन करने-की शक्ति है उसे वासना कहते हैं।

उस वासना के परिपक्व यानी कार्योन्मुख होने का जो प्रत्यय है यानी जिस से वासना का परिपाक होता हे, उस प्रत्यय के कदाचित् रहने के कारण कदाचित् ही प्रवृत्तिविज्ञान उत्पन्न होते हैं, और कदाचित् नहीं होते हैं, अत. पूर्वोक्त दोप उपस्थित नहीं हो सकत हैं, यह विज्ञानवादी का कहना भी ठीक नहीं है क्योकि वासना के परि-पाक का कारण तो एक सन्तान-वर्ती पूर्व क्षण ही होता है, दूसरे सन्तान की अपेक्षा उसमे नहीं होती है, किन्तु एक सन्तान-वर्ती पूर्व क्षण जैसे उत्तर क्षण वर्ती परिपाकका कारण कहा जाता हे उसी प्रकार सब क्षण क्यो नहीं कारण होगे ?

तात्पर्य यह कि प्रवृत्तिविज्ञान का उत्पादक जो आलयविज्ञान है, उस आलय विज्ञान से वासना का परिपाक होता है जिससे प्रवृत्ति-विज्ञान यानी विषयज्ञान उत्पन्न होता है, उस वासना-परिपाक के प्रति आलयविज्ञान-सन्तान वर्त्ती जितने क्षण हैं, सबके सब हेतु हो जायगे. अथवा एक भी हेतु नहीं होगा क्योंकि आलयसन्तान-वर्त्ती सब क्षण एकसे हैं यानी सब समान है।

"क्षणके भेद होने से शक्ति का भेद होता है, और उसके कदाचित् ही होने से कार्य भी कदाचित् ही होगा" यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तब तो आलयविज्ञान के एक क्षण मे ही प्रवृत्तिविज्ञानस्वरूप नीलज्ञान के उत्पादन करनेका सामर्थ्य रहेगा और उस से पूर्ववर्त्ती जो आलय विज्ञानका एक क्षण है, उस क्षणमे ही वासनाका परिपाक-स्वरूप प्रबोध सामर्थ्य रहेगा, यानी आलयविज्ञान-धारा मे से एक ज्ञानके द्वारा विषय ज्ञान उत्पन्न होगा और एक ज्ञानके द्वारा वासना का परिपाक होगा इस प्रकार आलय विज्ञान की सन्तति (धारा) मे दो ही ज्ञान कारण हो सकेंगे, और अन्य कारण नहीं होंगे।

यदि इन दोनों ज्ञानोंसे अतिरिक्त पूर्व पूर्वके सब ज्ञान परिपाक के हेतु बनते रहें और उस के उत्तर उत्तर के ज्ञान प्रवृत्तिविज्ञान के उत्पादक बनते रहे तब भी क्षण भेदसे शक्ति भेद कैसे कहा जाता है क्योंकि आलय विज्ञान के अन्तर्गत जितने क्षण हैं, सबके सब कार्य-उत्पादन करने मे समर्थ हैं, और समर्थ के रहने पर कार्य का रुकना असंगत है।

तात्पर्य यह कि अनादि सन्तानके अन्तर्गत जितने आलय विज्ञान के क्षण हें उन सब के नील-ज्ञान उत्पादन करने में समथ होनेसे नील ज्ञान सदैव होना चाहिये। वह जो कदाचित् होता है ऐसा नहीं होना चाहिये, ।

इस प्रकार उसका कादाचित्कत्व अर्थात कदाचित् होना असभव हो जाता है, और उसके विरुद्ध सदातनत्व यानी उसके सदैव होने का अवसर तर्क सिद्ध हो जाता है, यह नहीं होना चाहिये क्योंकि उसका कदाचित् होना प्रत्यक्ष हो रहा है, अत एव आलय विज्ञान से अतिरिक्त जो हेतु है वह बाह्य अर्थ है ।

उस बाह्य अर्थ की अपेक्षा करके नीलज्ञान का कादाचित्क व व्यवस्थित होता है, इस लिये "जो जिसके रहने पर भी कदाचित् ही उत्पन्न होता है वह उससे अतिरिक्त हेतु की अपक्षा करता है" इस प्रकार की व्याप्ति सिद्ध होती हे ।

सब के सब क्षण हेतु हैं अथवा कोई एक ही क्षण हेतु है, यह नहीं कहते, किन्तु "कितने क्षण हेतु हें और कितने क्षण हेतु नहीं भी हैं" ऐसा कहने पर भी एक सन्तानमे रहने वाले कारण सब की समानता रहने से 'सन्तान के अन्तर्गत कितने क्षण हेतु हैं और कितने क्षण हेतु नहीं हैं" ऐसी व्यवस्थाकी कल्पना नहीं की जा सकती है अत नील ज्ञान के कदाचित् होन की सिद्धि के लिये बाह्य पदार्थ की सत्ता माननी ही पडती है ।

साराश यह कि बौद्ध मतमे आलय विज्ञान सन्तान हीआत्मा है,

और उसमें विज्ञानवादी बौद्ध का कहना है कि पदार्थ की सत्ता बाह्यमें नहीं है, किन्तु विज्ञानस्वरूप आत्मा की ही शक्ति-विशेष से बाह्यमें पदार्थ भासित होता है अतः स्वप्न पदार्थ की तरह जाग्रत के बाह्य पदार्थ भी कल्पित ही हैं, उस पर बाह्यार्थवादी का यह आक्षेप होता है कि-आत्मामें ही यदि नीलज्ञानके उत्पादन करने की शक्ति है, और नीलस्वरूप बाह्य पदार्थ को नीलज्ञान होने में कुछ आवश्यकता नहीं है तो सदैव नीलज्ञान होना चाहिये क्योंकि वह विज्ञानसन्तानरूप आत्मा सदैव विद्यमान है और सन्तान-वर्ती कुछ क्षणोंमें ही वह सामर्थ्य है, कुछ में नहीं है यह कहनेमें कुछ भी प्रमाण नहीं है अतः बाह्य अर्थकी सत्ता मान्य है यही निश्चित होता है।

प्रश्न— "नीलज्ञान से अतिरिक्त हेतु की अपेक्षा रहे, किन्तु वह अतिरिक्त हेतु इस आलय विज्ञान सन्तान से भिन्न अन्य आलय विज्ञान सन्तान है" तो भी बाह्य अर्थकी सिद्धि नहीं होती है ?

समाधान— चैत्र-सन्तान में जब गमन-वचन का प्रतिभास विच्छिन्न हो जाता है और उस समय मैत्र-सन्तान-वर्ती गमन-वचन-स्वरूप विषय-ज्ञान उत्पन्न होता है, उसका अन्य सन्तान कारण है ऐसा विज्ञानवादी मानते हैं, किन्तु चैत्रके बोलने और चलनेकी इच्छा करने पर जो गमन और वचन का भान होता है उसका कारण चैत्र सन्तान से अतिरिक्त नहीं है, उसका तो चैत्र सन्तान ही कारण होता है और उसके कारण होने से उसकी सदैव अवस्थिति रहने से

विषय की सदैव उत्पत्ति होगी अतः बाह्य अर्थ की कल्पना करना आवश्यक है।

फिर भी प्रवृत्ति विज्ञान के प्रति अन्य आलय विज्ञान सन्तानको कारण मानने से उसका भी सदैव सन्निधान रहने से इसका कदाचित् उत्पन्न होना असंभव हो जाता है किन्तु यह सदैव उत्पन्न होने लगेगा क्योंकि अन्य विज्ञान सन्तानका भी देशसे अथवा कालसे विप्रकर्ष (दूरी) एक विज्ञानसन्तानसे नहीं है अर्थात् चैत्र-सन्तानसे भिन्न जो मैत्र सन्तान है, उस सन्तान के द्वारा जो वचन और गमन क्रिया की जाती है उसका भी चैत्र सन्तान कारण होगा क्योंकि देश-कृत अथवा काल-कृत मैत्रसन्तान के वचन-गमनमें चैत्रसन्तान का भी सनिधान ही है, व्यवधान नहीं है क्योंकि विज्ञानोंका कोई भी देश समवायी अथवा संयोगी कुछ भी नहीं हो सकता है, जिस के भेदसे विप्रकर्ष हो सकता। वैशेषिक आदिकी तरह ज्ञान-समवायी आत्मा विज्ञान वाद में नहीं माना गया है और विज्ञान के संयोग का कोई देश (आधार) भी नहीं है अतः विज्ञानों का समवायी अथवा संयोगी देश (आधार) नहीं है, विज्ञान से अतिरिक्त कोई देश (आधार) माना ही नहीं गया है और विज्ञान मूर्त्त नहीं है जो उसका संयोग हो।

सन्तानों का काल-कृत भी व्यवधान नहीं है क्योंकि यदि एक सन्तानसे अपर सन्तानका काल-विप्रकर्ष रहे तो वर्त्तमान काल के चैत्र सन्तान में उत्पन्न होने वाले नील ज्ञान के अव्यवहित पूर्व क्षण-

में ही सहकारी कारणकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी और ऐसा माननेसे सन्तानरूप संसार की अनादिता नष्ट हो जाती है और उसको भी अनादि माननेसे काल-विप्रकर्ष का अभाव हो जाता है। सन्तानरूप संसार की उत्पत्ति मानने से अभूतपूर्व प्राणी की उत्पत्ति माननी पड़ती है और वैसा तो विज्ञान वादमे माना नहीं गया है इस लिये काल-विप्रकर्ष भी नहीं कहा जा सकता।

साराश यह कि वर्त्तमान कालिक चैत्र-सन्तान में जो नीलज्ञान उत्पन्न होता है उसके अव्यवहित पूर्व क्षण मे ही मैत्र-सन्तान की उत्पत्ति होने से उस से पहले मैत्र सन्तानरूप आवश्यक सहकारी के नहीं रहनेके कारण पहले चैत्र सन्तानमे नीलज्ञान की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये किन्तु उत्पत्ति होती है। फिर भी उत्पत्ति माननेसे मैत्र-सन्तानरूप संसार उत्पत्तिशाली हो जाता है क्योंकि मैत्र-सन्तान ही चैत्र-सन्तानवर्त्ती नीलज्ञानके प्रति आवश्यक सहकारी है। मैत्र-सन्तानकी उत्पत्ति होनेसे संसारकी अनादिता नष्ट हो जाती है और विज्ञानवादमें सन्तानरूप संसार अनादि माना गया है। सन्तानरूप-संसारकी उत्पत्ति माननेसे अपने सिद्धान्तका व्याघात हो जाता है। यदि उससे पहले भी मैत्र-सन्तान की सत्ता मानी जाय तो काल-विप्रकर्ष के अभाव हो जाने से सदैव नीलज्ञान को उत्पत्ति होनी चाहिये।

इस प्रकार प्रवृत्तिविज्ञान का सन्तानान्तर निमित्त रहने पर भी यानी उस आलय विज्ञानसे अन्य आलय विज्ञान की कारणता मानने-

पर भी उस कारण के सदैव सन्निधान रहने से प्रवृत्तिविज्ञान का कादाचित्कत्व यानी कदाचित् होना संभव नहीं है इस लिये बाह्य अर्थ के नहीं रहने से घट पट इत्यादि भिन्न भिन्न प्रतीति के असंगत हो जाने से बाह्य अर्थ है यही अनुमान-सिद्ध होता है।

विज्ञानवादीके द्वारा बाह्यार्थवाद-निराकरण

बाह्यार्थवादी के द्वारा जो अनुमान किया गया है उसमें हेतु के विपक्षसे व्यावृत्ति होनेमे सन्देह रहने के कारण "अनैकान्तिक" हेतु हो जाता है उसके द्वारा साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है यानी अनुमिति नहीं की जा सकती है।

'प्रवृत्तिप्रत्यय आलयविज्ञानातिरिक्त हेतुक है' इस पक्षका स्वसन्तान-मात्रनिमित्तकत्व, विपक्ष होता है, उस विपक्षसे हेतुकी व्यावृत्ति सन्दिग्ध है अतः हेतु दुष्ट साबित होता है, ऐसे हेतुको अनैकान्तिक हेतु कहते हैं, उस हेतुसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

क बोलने की इच्छा करन और जाने की इच्छा करने पर जो गमन और वचन भासित होता है, उस वचन-गमनरूप प्रवृत्ति ज्ञान का कारण चत्र-सन्तान है, अन्य कोई नहीं है, वहा भी कादाचित्कत्व अर्थात् जहा स्वसन्तानमात्र करण है, वहा भो कदाचित् हो कार्य होता है अत उक्त हेतु अनुमिति-जनक नहीं हो सकता है ।

वाह्य निमित्त रहन पर भी कसे कभी नीलज्ञान और कभी पीत-ज्ञान होता है ? "वाह्य नीलका सन्निधान और पीनका असन्निधान रहता है तब नीलज्ञान होता है और पीतज्ञान नहीं होता है किन्तु जब वाह्य पीतका ही सन्निधान रहता है तब पीतका ज्ञान होता है और नील का नहीं होता है" यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि पीतके सन्निधान रहने पर भी नीलज्ञान नहीं होता है और पीतज्ञान ही होता है इस का क्या कारण ?

"पीत-सन्निधान रहने से पीत ज्ञान करने की सामर्थ्य है, नील-ज्ञान करने का सामर्थ्य नहीं है" यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सामर्थ्य और असामर्थ्य यानी सामर्थ्य है और सामर्थ्य नहीं है, यह भेद कैसे हो सकता ?

"हेतु के भेद से होता है" यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस प्रकार कारण के भेद से शक्ति-भेद मानने से क्षणों के भी अपने कारण के भेदसे सामर्थ्य का भेद होगा। सन्तान के जो एक एक क्षण हैं, वे कार्य भेद के हेतु हैं और वे एक एक क्षण कार्य के प्रति भिन्न भिन्न होते हैं ।

"आलय विज्ञान के क्षणोंके हेतुके भेदसे सामर्थ्य भेद होने पर भी एक प्रवाह (सन्तान) के अन्तर्गत सबके रहने के कारण एक प्रकार का ही सामर्थ्य होगा" यह भी नहीं, क्योंकि कोई भी एक सन्तान समस्त क्षणोंका उत्पादक नहीं है जिसके अभेदसे यानी एक रहनेसे क्षणोंका भेद नहीं होता ।

"क्षण के भेद से शक्ति का भेद और क्षणके अभेद से शक्ति का अभेद होता है" यह नियम नहीं है क्योंकि भिन्न भिन्न क्षणों का भी एक सामर्थ्य है ऐसी उपलब्धि होती है, अन्यथा एक ही क्षण जब नीलज्ञान के उत्पादन करने में समर्थ है तो फिर दूसरे क्षणों में नीलज्ञान उत्पन्न नहीं होना चाहिये, क्योंकि नीलज्ञान-उत्पादन करने में जो समर्थ क्षण था वह अतीत हो चुका यानी बीत चुका और अन्य क्षणों का वह सामर्थ्य ही नहीं हैं अतः "क्षण-भेद होने पर भी सामर्थ्य भेद नहीं होता है, किन्तु सन्तान के भेद होने पर सामर्थ्य का भेद होता है" यह कहना युक्ति-रहित है क्योंकि यदि भिन्न भिन्न सन्तानका एक सामर्थ्य नहीं है तो परस्पर भिन्न जो नीलसन्तान है उन सबका भी एक नीलाकार ज्ञान-उत्पन्न करने में सामर्थ्य नहीं होगा तब एक नील सन्तान से नीलाकार ज्ञान होगा और अपर नील सन्तान के सन्निधान रहने पर भी उस से नीलाकार ज्ञान नहीं होगा, अत एव यही मान्य होता है कि जैसे एक नील सन्तान से अपर नीलसन्तान का और पीतसन्तान का कुछ भी भेद नहीं है वो भी किसी में नील ज्ञान-उत्पादन करने की शक्ति होती है और

किसी में नहीं होती है, उसी प्रकार एक विज्ञानसन्तान के अन्तर्गत रहने पर भी किसी क्षणमें ही उसके उत्पादन करने की शक्ति है और किसी क्षणमें नहीं है इस प्रकार व्यवस्था की कल्पना की जाती है। वह कल्पना दृष्टके अनुरोध से ही की जाती है, इससे यह सिद्ध होता है' कि जिस प्रकार सन्तानके भेदसे शक्ति-भेद का नियम नहीं है, उस प्रकार सन्तान के अभेदसे शक्ति के अभेद का भी नियम नहीं है।

साराश यह कि एक आलय ज्ञान सन्तान के अन्तर्गत रहने-पर भी किसी ज्ञान क्षणका ही वह वैसा प्रबल सामर्थ्य होता है, जिसे वासना कहते हैं,जो पूर्व के नीलादि प्रतीतिसे जन्य है, उसी वासनाके कारण नीलाकार प्रवृत्तिविज्ञान उत्पन्न होता है और पीताकार प्रवृत्ति-विज्ञान उत्पन्न नहीं होता है।

वैसे ही किसी ज्ञान सन्तान-क्षणमें वासना नामकी वैसी प्रबल शक्ति रहती है जिससे पीत आकार ही उत्पन्न होता है, नील आकार उत्पन्न नहीं होता है। इस प्रकार वासनाकी विचित्रता से ज्ञानकी विचित्रता सिद्ध होती है अतः ज्ञानसे अतिरिक्त विषय माननेमें कुछ भी प्रमाण नहीं है।

वासना

आलयविज्ञान सन्तान-पतित यानी विज्ञान-सन्तान के अन्तर्गत जो असंविदित यानी अविज्ञात ज्ञान है उसे वासना कहते है।

वर्तमान तो ज्ञात ही है और अनागत यानी भविष्यत् काल क ज्ञान की सत्ता ही असिद्ध है अत पूव की शक्ति वासना कही जाती है ।

इस मतमे कोई स्थायी वासना नहीं है। शक्ति और शक्तिमान् के अभेद रहने से वह वासना भी विज्ञान कही जाती है।

प्रश्न—विज्ञानात्मक जो वासना है, उसकी विचित्रतासे उत्तर विज्ञान की विचित्रता होती है, तो सबसे पूर्व का विज्ञानस्वरूप जो वासना है उसकी विचित्रता कैसी हो सकती है ?

समाधान—यह संसार अनादि है, वासनाकी विचित्रता से नील-पीत आदि अनुभवकी विचित्रता होती है और पूर्वके नील, पीत आदि अनुभव की विचित्रता से वासनाकी विचित्रता होती है, इस प्रकार विज्ञान और वासना का अनादि होना सिद्ध है, अत. अन्योऽन्याश्रय दोप भी वहा नहीं लगता है, जैसे वीज और अ कुरमे परस्पर एक दूसरके कारण होने पर भी अन्योऽन्याश्रय दोप नहीं लगता है।

अन्वय-व्यतिरक से भी ज्ञान-विचित्रताका कारण वासनाकी विचित्रता ही सिद्ध होती है यानी वासना-वैचित्र्यसे ही ज्ञान-वैचित्र्य होता है किन्तु विपयकी विचित्रतासे ज्ञानका वैचित्र्य नहीं होता है।

वेदान्तीके द्वारा विज्ञानवादका खण्डन

"वाह्य अर्थका अभाव है" ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि उसकी स्पष्टरूप से सार्वजनिक उपलब्धि होती है । प्रत्येक प्रतीतिमें स्पष्ट-रूपसे वाह्य अर्थ उपलब्ध (ज्ञात) हो रहा है, जैसे घट, पट आदि।

उपलभ्यमानका ही अभाव कहना प्रलाप मात्र है क्योंकि कोई भी भोजन करने वाला पुरुष भोजन करने से तृप्तिका स्वयं अनुभव करता हुआ नहीं कह सकता है कि "मैं नहीं खाता हूं" 'मैं तृप्तिका अनुभव नहीं करता हूं' उसी प्रकार इन्द्रिय-सन्निकर्ष के द्वारा स्वयं अनुभव करता हुआ पुरुष कैसे कह सकता है कि मैं बाह्य अर्थका अनुभव नहीं करता हूं और वैसा कहने पर भी उस के वचनका कौन आदर कर सकता है ?

कारण यह कि उपलब्धिके विषयरूपसे ही घट, पट आदि पदार्थों-की उपलब्धि सब किसीको हो रही है। घट, पट आदिको उपलब्धि-स्वरूप कोई नहीं समझता है।

साराश यह कि उपलब्धि को ग्रहण करते हुये साक्षीके द्वारा जो उपलब्धि गृहीत होती है वह बाह्य विषयरूपसे ही गृहीत होती है किन्तु उपलब्धि मात्ररूपसे गृहीत नहीं होती है।

जो विज्ञानवादी लोग बाह्य अर्थका स्वीकार नहीं करते हैं, उन्हें भी बाह्य अर्थ का स्वीकार करना ही पड़ेगा क्योंकि उनकी व्याख्या ही इस प्रकार है— "यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद्बहिर्वदवभासते-यानी जो घट, पट आदि विषय अन्तर्ज्ञेय रूप हैं, वे वहिर्वत् अर्थात् बाह्यकी तरह भासित होते हैं" उनके इस प्रकार कहनेका यह अभिप्राय है कि बाह्यरूपसे संवित् (ज्ञान) ही भासित होता है और उससे भिन्न बाह्य अर्थ नहीं है।

"विष्णुमित्र बन्ध्यापुत्रकी तरह भासित होता है" ऐसा कोई नहीं

कह सकता है क्योंकि वन्ध्या-पुत्रकी जब सत्ता ही नहीं, तब वन्ध्या-पुत्रकी तरह भासित होता है ऐसा कहना प्रलाप मात्र है।

इस प्रकार गवेषणा करने से अनुभव के अनुरोधसे बाह्य भासित होता है ऐसा ही कहना युक्ति युक्त है किन्तु "बहिर्वत्—बाह्यकी तरह" ऐसा कहना 'वदतो व्याघातः' हो जाने से सर्वथा असंगत है।

विज्ञानवादी का आक्षेप

"बाह्य अर्थ के असंभव होने से बहिर्वत् भासित होता है" ऐसा अध्यवसाय (ज्ञान) हो सकता है क्योंकि घट, पट आदि पदार्थ परम सूक्ष्म भासित नहीं होते किन्तु स्थूल ही भासित होते हैं और उनका युगपत् (एकबार) नाना दिशा और नाना देशमें व्यापक होना ही स्थूलत्व है किन्तु वह सर्वात्मना (सब अंशोंसे) कदापि नहीं देखा जाता है क्योंकि हाथमे रक्खी हुई वस्तुओंके नीचे भागका दर्शन नहीं होता है।

इस प्रकार एक ही स्थूल पदार्थके किसी अंशसे दर्शन और किसी अंशसे अदर्शन होनेसे आवृतत्व और अनावृतत्वरूप परस्पर विरुद्ध धर्म का अध्यवसाय (ज्ञान) हो जाता है क्योंकि किसी वस्तु के जितने अंशका दर्शन होता है वह तो अनावृत (आवरण-रहित) हो जाता है और जितने अंश का दर्शन नहीं होता है यानी जो अंश ढका रहता है वह आवृत (आवरण-युक्त) ही रह जाता है इस प्रकार विरुद्ध धर्म रहने के कारण एक ही स्थूल वस्तु का भेद होना

चाहिये। विज्ञानवादमें यह दोष नहीं हो सकता है क्योंकि एक दिशा और एक देशमें अर्थ (विषय) का आवरण और अन्य दिशा और अन्य देशमें अनावरण यह विज्ञानवाद मे नहीं होता है। विज्ञानमें जितना ही आकार अंश भासित होता है, उतना ही अंश रहता है। आवृत अंश अन्तः अथवा बाह्य कहीं नहीं है, सर्वत्र अनावृत ही आकार विज्ञानका रहता है अत बाह्य अर्थ असभव है।

विज्ञानवादीके आक्षेपका निराकरण

वह विज्ञानवादमें भी सभव ही है। यद्यपि ज्ञान से अर्थ के अभेद मानने पर भासमान और अभासमान इन विरुद्ध धर्मों का संसर्ग नहीं कहा जा सकता, तथापि विज्ञानवाद मे एक ज्ञानसे एक पट प्रकाशित होता है और वह पट नाना प्रदेशमें फैला हुआ है, उसमें तद्देशत्व और अतद्देशत्व दोनों दृष्ट होते हैं जो विरुद्ध धर्म हैं।

इसी प्रकार प्रदेशके भेदसे उसी पटमें कम्पन और अकम्पन ये विरुद्ध धर्म दृष्ट होते हैं। एकही चित्र पट में रक्तत्व और अरक्तत्व ये विरुद्ध धर्म दृष्ट होते हैं।

अर्थ को ज्ञानस्वरूप मानने पर भी उन विरुद्ध धर्मों के रहने से भेदका प्रसग विज्ञानवाद में भी समान ही है, अत उक्त प्रकार एक वस्तुका नाना (अनेक) होना दुर्निवार हो जाता है।

व्यतिरेकाव्यतिरेकि विकल्प, वृत्तिविकल्प और परमाणुका अंशवत्त्व ये तीनों दोष भी विज्ञानवादमें हो जाते हैं।

नीलज्ञान यदि ज्ञानाकारस्वरूप परमाणु का आलम्बन करे तो ज्ञान और ज्ञेयके अभेद सिद्ध होनेसे ज्ञान क्या ज्ञेयरूप होता है ? अथवा ज्ञेय जो परमाणु सब हैं वे ज्ञानस्वरूप हैं ?

पहला विकल्प यानी 'ज्ञान ज्ञेय है' यह नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान एक है और उसके ज्ञेयस्वरूप परमाणु नाना हैं, अत. जो एक है वह नाना कैसे हो सकता है ?

दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि जो ज्ञेय हैं और ज्ञानके आकार हैं, ज्ञान से उनके अभेद मानने से उन नाना परमाणुओंकी एक रूपता हो जाती है और नाना को एक कहना असंगत है।

"एक नीलज्ञान समस्त नील परमाणुओंको विषय नहीं करता यानी नाना परमाणुओ का एक ज्ञान नहीं होता है किन्तु प्रत्येक परमाणुका भिन्न भिन्न ज्ञान होता है अर्थात् एक एक परमाणुका एक एक ज्ञान होता है" यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन समस्त ज्ञानोंका पारस्परिक अकाक्षा नहीं रहनेसे उनकी स्थूलताका अनुभव नहीं हो सकता है क्योंकि एक एक परमाणु का ज्ञान भिन्न भिन्न है और उसमें तो स्थूलता नहीं है किन्तु समस्त परमाणु के एक ज्ञान होने से उसमें स्थूलता की प्रतीति होती है।

"एक एक ज्ञानके विषय जो अलग अलग परमाणु सब हैं, उन सबका सङ्कलनरूप एक स्थूलालम्बन प्रतीति होती है" यह भी नहीं, क्योंकि उस प्रतीति के भी कुछ आकार यानी विषय होंगे ही और वे आकार नाना परमाणु ही होंगे तब तो पूर्ववत उनके साथ उस प्रतीतिके

व्यतिरेकाव्यतिरेकि विकल्प आदि

अवयवी अवयवों से भिन्न है अथवा नहीं ? यह व्यतिरेका-व्यतिरेकि विकल्प है।

भेद मानने पर वह भेद प्रत्येक अवयवसे सर्वात्मना रहता है। अथवा एक देशसे ? यह वृत्ति विकल्प है। ये दोनो अवयवोंके दोष हैं। सूक्ष्म अवयव जो परमाणु है उसका अंश है ? अथवा नहीं ?

इस विकल्प मे परमाणुको अंशवान् ही मानना पड़ेगा। यह अवयवका दोष है। ये तीनों दोष विज्ञानवादमे भी हो जाते हैं।

वैदान्ती की तरह विज्ञानवादीने जगत् को अनिर्वचनीय नहीं माना है। अनिर्वचनीयवादी के लिये तो उक्त प्रकार विकल्पके द्वारा विचारका असमंजस होना दूषण नहीं किन्तु भूषण ही है।

बाह्य-अस्तित्व वादीके मतमे जो जिस रूपमे बाह्य है, वह सब विज्ञानवादी के मतमे अन्तः (भीतर) सत्य रूप है ऐसा माना गया है और सत्य मानने पर बाह्य की तरह अन्तः (भीतर) भी इतने विकल्प दोष उपस्थित हो सकते हैं

इस प्रकार विवेचना करनेसे निश्चित होता है कि बाह्य अर्थकी तरह ज्ञान में भी स्थूलता का संभव नहीं है।

"परमाणु का आभासक ज्ञान है, यानी ज्ञान से परमाणुका ही आलम्बन होता है अर्थात् ज्ञानके विषय परमाणु हैं और वे परमाणु सब भिन्न भिन्न देश-वर्त्ती नहीं है" यह नहीं कहा जा सकता.क्योंकि

नीलज्ञान यदि ज्ञानाकारस्वरूप परमाणु का आलम्बन करे तो ज्ञान और ज्ञेयके अभेद सिद्ध होनेसे ज्ञान क्या ज्ञेयरूप होता है ? अथवा ज्ञेय जो परमाणु सब हैं वे ज्ञानस्वरूप हैं ?

पहला विकल्प यानी 'ज्ञान ज्ञेय है' यह नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान एक है और उसके ज्ञेयस्वरूप परमाणु नाना हैं, अत: जो एक है वह नाना कैसे हो सकता है ?

दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि जो ज्ञेय हैं और ज्ञानके आकार हैं, ज्ञान से उनके अभेद मानने से उन नाना परमाणुओंकी एक रूपता हो जाती है और नाना को एक कहना असंगत है।

"एक नीलज्ञान समस्त नील परमाणुओंको विषय नहीं करता यानी नाना परमाणुओं का एक ज्ञान नहीं होता है किन्तु प्रत्येक परमाणुका भिन्न भिन्न ज्ञान होता है अर्थात् एक एक परमाणुका एक एक ज्ञान होता है" यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन समस्त ज्ञानोंका पारस्परिक आकांक्षा नहीं रहनेसे उनकी स्थूलताका अनुभव नहीं हो सकता है क्योंकि एक एक परमाणु का ज्ञान भिन्न भिन्न है और उसमें तो स्थूलता नहीं है किन्तु समस्त परमाणु के एक ज्ञान होने से उसमें स्थूलता की प्रतीति होती है।

"एक एक ज्ञानके विषय जो अलग अलग परमाणु सब हैं, उन सबका सङ्कलनरूप एक स्थूलालम्बन प्रतीति होती है" यह भी नहीं, क्योंकि उस प्रतीति के भी कुछ आकार यानी विषय होंगे ही और वे आकार नाना परमाणु ही होंगे तब तो पूर्ववत उनके साथ उस प्रतीतिके

ही अभेद होनेसे प्रतीतिके परमाणुमात्रत्व सिद्ध हो जानेसे प्रतीति का पुनः भेद (नानात्व) हो जाता है और परमाणुओंके विज्ञान मात्रत्व होनेसे एकत्व होता है तब स्थूलालम्बन एक ज्ञान भी नहीं हो सकता। जैसा 'धर्मकीर्त्ति' ने कहा है—

> तस्मान्नार्थे नच ज्ञाने स्थूलाभासस्तदात्मनः ।
> एकत्र प्रतिपिद्धत्वाद्‌बहुष्वपि न संभवः ॥

इस लिये यानी वृत्तिविकल्प आदि तर्कसे अर्थमे यानी परमाणु-समूहात्मक विषय मे स्थूलता का आभास नहीं हो सकता है और ज्ञान में भी यानी ज्ञानात्मक अर्थमे भी नहीं हो सकता है क्योंकि एक ज्ञानमे वर्णित मार्गके द्वारा नाना आकारात्मकताके निषेध हो जाने से परमाणुविषयक नाना विज्ञानों मे भी स्थूल आभासका (स्थूलताका) अनुभव संभव नहीं, क्योंकि वहुत होने पर भी वे परस्पर वार्त्ताके अन-भिज्ञ है, एकको दूसरेकी आकाक्षा या अपेक्षा नहीं है और इस प्रकार स्वतन्त्र एक एक मे स्थूलता का आभास कैसे हो सकता है ?

उक्त प्रकार गवेपणा करने से यह सिद्ध है कि "ज्ञानका आकार ही स्थूलत्व है" यह समर्थन करते हुए विज्ञानवादी भी यही मानते हैं कि प्रमाणों की प्रवृत्ति होने से संभव होता है और प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं होने से असंभव होता है, अतः इदन्तास्पद यानी 'इदं' पदसे जो जाना जाता है वह बाह्य पदार्थ, जो आन्तर ज्ञानसे भिन्न है, किसी प्रकार छिपाया नही जा सकता है ।

सहोपलम्भसे भी बाह्य अर्थकी सिद्धि

"सहोपलम्भनियम से ज्ञान और ज्ञेय (अर्थ) का अभेद है" यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अभेदके विरुद्ध भेदसे साहित्य व्याप्त है यानी अनेक पदार्थोंका ही सहोपलम्भ यानी साथ साथ रहना हो सकता है।

सहोपलम्भका 'एकोपलम्भ' अर्थ है यानी 'सह' शब्द एकत्वका वाचक है, यह भी संगत नहीं, क्योंकि एकोपलम्भ शब्द का अर्थ एकत्वेन उपलम्भ यानी दोनों का एकरूपसे उपलम्भ (ज्ञान) होना है अथवा ज्ञान और अर्थका एक उपलम्भ यानी एक ज्ञान होना है।

पहला विकल्प यानी एकत्वेन उपलम्भ तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि विषय की बाहर उपलब्धि होती है और ज्ञान आन्तर है।

दूसरा विकल्प यानी ज्ञान और अर्थ का एक उपलम्भ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जितने चाक्षुप (देखने योग्य) पदार्थ हैं वे सब प्रभासे अनुविद्ध हैं और बुद्धि-बोध्य हैं यह निश्चित है, यानी आलोक के रहनेसे ही चाक्षुप प्रत्यक्ष होता है इससे क्या घट आदि विषय प्रभारूप हो सकते हैं ? कभी नहीं, किन्तु प्रभा उपाय है और घट आदि विषय उपेय हैं।

इसी प्रकार आत्म-साक्षिक यानी आत्मा साक्षी है जिसका ऐसा जो ज्ञान है वह उपेय है और घट आदि विषय उपाय हैं यानी घट आदि विषयोंके रहनेसे ही विषयका ज्ञान होता है इस प्रकार ज्ञान और विषयके

परस्पर उपाय-उपेय भाव रहने से एकोपलम्भ नियम नहा हो सकता है। जो उपाय है वह उपेय नहीं हो सकता और जो उपेय है वह उपाय नहीं हो सक्ता है।

इस प्रकार बौद्धमत मे क्षणिकत्व, शून्यत्व, अनात्मत्व आदि जो जो माने गये हैं वे प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त इन सबके भिन्न भिन्न ज्ञान होने से ही सिद्ध हो सकते हैं।

उसी प्रकार बौद्ध मतमे ' सर्वं स्वलक्षणम्" माना गया है। स्वलक्षणका अर्थ अन्यसे व्यावृत्त लक्षण वाला कहा जाता है, यह नहीं हो सकता है क्योकि यह भी अनेक ज्ञान साध्य है। जो व्यावृत्त (अलग) होता है और जिससे व्यावृत्त होता है, इस प्रकार उसमे अनेक ज्ञान आवश्यक होत हैं।

कहीं पर घट–पट इन दो विपयों का एक ज्ञान होता है अथात् एक ही ज्ञानक दो विपय रहते हैं "जैसे इमौ घटपटौ—ये घट-पट हैं यहां ज्ञान एक है और विपय भिन्न भिन्न दो हैं क्याकि उक्त प्रतीति से घट और पट इन दो विपयो का ज्ञान लोगोंको होता है।

यदि ज्ञान और विपय का अभेद माना जाय तो कैसे ज्ञान का अभेद और विपयका भेद उक्त प्रतीति से जाना जा सकता ?

जेसे विज्ञान के अभेद मे भी विपय का भेद दृष्ट होता है उसी प्रकार कहीं विज्ञानके भेद रहने पर भी विपयका अभेद दृष्ट होता है। जेस- "घटदर्शनम्, घटस्मरणम्—अर्थात् घटका प्रत्यक्ष होता है, घटका स्मरण होता है।"

यहां एक ज्ञान प्रत्यक्षात्मक है और एक स्मरण है अतः ज्ञानका भेद है किन्तु दोनों ज्ञानों का विषय एक ही है अर्थात् प्रत्यक्ष और स्मरण दोनों का एक ही घटरूप विषय है और ज्ञान क्षणिक होनेसे केवल अपने स्वरूपका ही प्रकाश कर सकता है, वह ज्ञानान्तर-की यानी अन्य ज्ञानकी वार्ता का सर्वथा अनभिज्ञ रहता है यानी अपने से अन्य ज्ञानको जानता ही नहीं। जिन दोनों का भेद है उन दोनों को वह नहीं जानता रहता है और उन दोनों को नहीं जानने से उन के भेद को भी वह नहीं जान सकता है।

क्षणिकवाद में पूर्वकालमे घटका प्रत्यक्ष होना और उत्तर काल मे उसी प्रत्यक्ष हुए घटका स्मरण होना असंभव है क्योंकि प्रत्येक ज्ञान क्षणिक माना गया है, अपने विषय का प्रकाश करके हर एक ज्ञान विनष्ट हो जाता है तब पूर्व और उत्तर कालके दोनों ज्ञानोंका परस्पर ग्राह्य-ग्राहक भाव कैसे हो सकता है ?

फिर भी क्षणिकवादमे सविकल्प ज्ञान-कृत जो सदसद्धर्म आदि हैं वे अनेक ज्ञान-साध्य हैं। जैसे नीलत्व आदि सद्धर्म, वन्ध्यापुत्र आदि असद्धर्म और अमूर्तत्व आदि सदसद्धर्म है। जैसा कहा है—

अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः।
शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो भावाभावोभयाश्रयः ॥

अनादि वासना से जो सविकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है उस सवि-कल्प ज्ञान का विषय जो शब्दार्थ है वह तीन प्रकार का है। जैसे भाव रूपधर्म नीलत्व आदि, अभावरूप धर्म वन्ध्यापुत्रत्व आदि और

उभयाश्रयरूप धर्म अर्थात् जो सद्धर्म भी है और असद्धर्म भी है, जसे अमूर्त्तत्व आदि, क्योंकि अमूर्त्तत्व विज्ञानमे विद्यमान है और वन्ध्या-पुत्रमें भी विद्यमान है ।

उक्त प्रकार विकल्प ज्ञानका विषय शब्दार्थ भी अनेक ज्ञानसे ज्ञेय होता है और उस अनेक ज्ञानका ज्ञाता जब तक स्थायी एक पदार्थ नहीं माना जायगा तब-तक कैसे सविकल्प ज्ञानका विषय शब्दार्थ होगा क्योंकि उसका जो ज्ञाता होगा वह उसके अस्तित्व-काल में रहेगा, अत वह क्षणिक नही हो सकता है और इसी प्रकार मोक्षकी प्रतिज्ञा भी अनेक ज्ञान से सिद्ध होती है । जैसे जो मुक्त होता है, जिससे मुक्त होता है और जिसके द्वारा मुक्त होता है ।

फिर भी विप्रतिपन्नको यानी विरोधी व्यक्तिको समझानेके लिये जो प्रतिज्ञा की जाती वह भी अनेक ज्ञानके द्वारा ही की जाती है। जैसे-जिस हेतु के द्वारा समझाया जाता है, जिस व्यक्तिको समझाया जाता है और जो समझाता है, इन सब पदार्थों के ज्ञान रहने पर ही कुछ प्रतिज्ञा की जा सकती है अत. अनेक पदार्थों के ज्ञान रखने वाले एक स्थायी पदार्थ के नहीं मानने से सदसद्धर्मत्व, मोक्षप्रतिज्ञा अथवा विप्रतिपन्न के प्रति की गयी प्रतिज्ञा कुछ भी युक्ति-युक्त नहीं कही जायगी ।

यदि विज्ञान केवल अपने क्षणिकस्वरूपका ही प्रकाश करता है अर्थात् क्षणिक विज्ञान को केवल अपने स्वरूप के ज्ञान करने की ही शक्ति है और अन्य पदार्थों के ज्ञान करने की शक्ति नहीं है तो उक्त

शब्दार्थ, मोक्ष-प्रतिज्ञा और भी अन्य प्रतिज्ञा आदि किसीका भी उपपादन नहीं हो सकता, क्योंकि क्षणिक विज्ञानमें वे सब असंभव हो जाते हैं

फिर भी ज्ञान और ज्ञेय ये दोनों अत्यन्त विरुद्ध दृष्ट होते हैं, एक नहीं हो सकते, यानी जो ज्ञान है वह ज्ञेय नहीं होगा क्योंकि क्रिया और फल भिन्न भिन्न वस्तुओं में ही दृष्ट होता है, अर्थात् जिसमें क्रिया है, उससे भिन्न वस्तु मे ही फल रहता है अतः अभिन्न यानी एक मात्र ज्ञान में क्रिया और उसका फल नहीं हो सकता है।

जैसे छेदन क्रिया छिन्न नहीं होती है, किन्तु काष्ठ ही छिन्न होता है। पाक क्रिया नहीं पकायी जाती है किन्तु तण्डुल (चावल) पकाया जाता है, वैसे यहां भी ज्ञान ज्ञेय नहीं हो सकता है क्योंकि अपने में वृत्ति यानी क्रिया होना विरुद्ध है किन्तु ज्ञान से भिन्न जो अर्थ है वही ज्ञान का विषय होता है, जैसे पाक से भिन्न जो तण्डुल है वही पाक का विषय होता है।

ग्राह्य-ग्राहक भावकी असिद्धि

विज्ञान अपने स्वरूपसे भिन्न विषयका प्रकाश नहीं कर सकता है यानी स्वयं अप्रत्यक्ष रह कर विषयका प्रत्यक्ष नहीं करा सकता है क्योंकि जिस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय स्वयं अप्रत्यक्ष रह कर भी अप्रकाशित विषयको प्रकाशित कर देता है, उस प्रकार विज्ञान अप्रकाशित विषयमें अतिशय (विशेषता) का उत्पादन नहीं करता है जिससे अप्रत्यक्ष

विपय का प्रत्यक्ष कराता किन्तु विज्ञानका प्रत्यक्ष होना ही विपयका प्रत्यक्ष होना है। जैसा बौद्धोने कहा है —

"अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टि प्रसिध्यति" (धर्मकीर्ति) अर्थात यदि उपलम्भ का यानी ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता तो उसके विपयका भी प्रत्यक्ष नहीं होता। सराश यह कि वह विज्ञान चक्षु इन्द्रियकी तरह अप्रकाशित पदार्थ को प्रकाशित नहीं करता है किन्तु विज्ञानका प्रकाश होना ही विपय का प्रकाशित होना है।

' जिस विपय क प्रकाश करने के लिये साक्षीमे ज्ञान की आवश्यकता होगी अर्थात् साक्षी विपयोका जो प्रकाश करता है वह उपलम्भ यानी ज्ञान के द्वारा करता है, उसी प्रकार ज्ञान के प्रत्यक्ष मे भी अन्य ज्ञानकी आवश्यकता होगी अर्थात् एक विज्ञान दूसरे विज्ञान से ज्ञात हो कर ही विपय-ज्ञान के प्रत्यक्ष करने का योग्य होगा" ऐसा कहने से एक विज्ञानम दूसरे विज्ञानकी आवश्यकता है, पुनः दूसर में तीसर विज्ञानकी आवश्यकता होगी।

इस प्रकार प्रत्येक विज्ञान के प्रकाश करने के लिये अपर एक विज्ञान की आवश्यकता और फिर उसक प्रकाश के लिये फिर अन्य विज्ञान की आवश्यकता होने से अनवस्था दोप हो जाता है क्योंकि कोई भी अप्रकाशित विज्ञान किसी विज्ञानका प्रकाश नहीं करेगा और उस अप्रकाशित विज्ञान का प्रकाश करने के लिये एक एक विज्ञान के आवश्यकता होगी इस प्रकार की विज्ञान-धाराका कहीं भी अन्त नहीं होने के कारण अनवस्था दोप हो जानेके भयसे अपने स्वरूप मे ही

वृत्ति (क्रिया) मानी जाती है। जैसे एक प्रदीप मे दूसरे प्रदीपकी आवश्यकता नहीं होती है अर्थात् दीपका अपने आप प्रकाश होता है किन्तु दीपको प्रकाशित करनेके लिये अन्य दीपकी अवश्यकता नहीं होती है उसी प्रकार ज्ञानके लिये भी दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होगी। जैसे एक दीप से अन्य दीप समान है, वैसे एक विज्ञान से दूसरे विज्ञान भी समान हैं अतः विज्ञानवादमें भास्य-भासक,भाव दोष नहीं होता है।

साराश यह कि अन्तःकरण-वृत्तिरूप जो विज्ञान है वह नीलादि-विषय का ज्ञान है, उतने ही स्वीकार करने से उसमे प्रतिबिम्बित जो विज्ञानसाक्षी है वह विज्ञानविषयक दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता है क्योंकि वह स्वयं भी तद्रूप ही है अतः अनवस्था दोष नहीं होता है।

यह सत्य है कि अप्रत्यक्ष जो उपलम्भ (ज्ञान) है उससे विषय का प्रत्यक्ष नहीं होता है किन्तु उपलब्धा को यानी प्रमाता (कर्त्ता) को ज्ञानके प्रत्यक्षके लिये अन्य ज्ञानकी जरूरत नहीं पड़ती है। इन्द्रिय-अर्थके संनिकर्षसे अन्तः करणका विकार विशेष जो ज्ञान है उसके केवल उत्पन्न होने से ही विषय और ज्ञान दोनोंका प्रत्यक्ष प्रमाता (साक्षी) को हो जाता है।

अर्थका यानी विषयका विलीन स्वभाव है यानी प्रकाश स्वभाव नहीं है अतः उसके प्रत्यक्ष होनेके लिये अन्त.करणके एक प्रकारका विकार-

स्वरूप अनुभव (ज्ञान) की अपेक्षा प्रमाता को होती है किन्तु अनुभव के प्रत्यक्ष के लिये अन्य अनुभव की अपेक्षा नहीं होती है ।

यद्यपि अनुभव भी विषय की तरह जड़ ही है किन्तु वह स्वच्छ है अर्थात् चैतन्यरूप विम्वका ग्रहण करने की स्वतः उसमें शक्ति है अतः वह अपने प्रकाशके लिये दूसरे अनुभवकी अपेक्षा नहीं करता है इस लिये अनवस्था दोष विज्ञानवाद में नहीं होता है ।

तात्पर्य यह कि स्वप्रकाशरूप साक्षी का जब अन्तःकरणमें प्रतिविम्ब पड़ता है तब स्वतः अन्तःकरणका स्वच्छ परिणाम हो जाता है और वह परिणाम साक्षी के प्रतिविम्बका स्वतः आधार बन जाता है और साक्षीके प्रतिविम्वका आधार होना ही उसकी प्रत्यक्षता है अतः उसके लिये अन्य परिणामकी आवश्यकता नहीं है। यदि अनुभवका प्रत्यक्ष अन्य अनुभव से होता तो अनुभव उत्पन्न होने पर भी कभी प्रकाशित नहीं होता, किन्तु ऐसा नहीं होता है ।

जिस प्रकार नीलादि पदार्थ उत्पन्न हो जाता है किन्तु जीव को कभी प्रत्यक्ष नहीं भी होता है, उस प्रकार अनुभव (ज्ञान) उत्पन्न हो जाता और जीवको कभी प्रत्यक्ष नहीं होता है, यह संभव नहीं क्योंकि नित्य साक्षी यानी जीव तो अनुभव होनेसे ही सिद्ध होता है ।

"अनुव्यवसाय यानी अयं घटः" इस अनुभवस्वरूप ज्ञान होनेके पश्चात् "घटमहं जानामि— मैं घटको जानता हूं" इस प्रकारका जो अनुव्यवसाय ज्ञान है उससे अनुभवका प्रत्यक्ष होता है यह भी नहीं, क्योंकि वह भी अप्रत्यक्ष हो कर अनुभवका प्रकाश नहीं करेगा

और दूसर अनुभवसे उसका प्रत्यक्ष माननेसे पूर्ववत् अनवस्था दोष हो जायगा।

छेदनका कर्त्ता छेदनरू। क्रियाक द्वारा छ्य यानी छेदनका विषय जो वृक्षादि है उसमे व्याप्त यानी सम्बद्ध होता है किन्तु छेदन क्रिया ही अन्य छेदन क्रिया के द्वारा विषय मे सवद्ध नहीं होती है और छदन क्रिया भी स्वत छदन का कर्त्ता नहा ह किन्तु दवदत्त आदि छेदनका कत्ता होता है।

पाचक (पाक-कत्ता) पाक क्रियाक द्वारा पाक क विषय तण्डुल आदि म सवद्ध होता हे किन्तु पाक कियाम अन्य पाक क्रियाक द्वारा पाक कत्ताका सवन्ध नहा होता है, पाक क्रिया भी पाकका कत्ता नहा है किन्तु दवदत्त आदि पाक-क्रिया का कत्ता हे।

इसी प्रकार प्रमाता जीव भी प्रमा क द्वारा नील आदि प्रमेय पदार्थम सम्बद्ध होता हे किन्तु प्रमा म अन्य प्रमाक द्वारा सवद्ध नहा हाता ह यानी जस प्रमाक द्वारा प्रमयमें प्रमाताका सवन्ध होता है, वस प्रमाम अन्य प्रमाके द्वार प्रमाताका सवन्ध नहीं होता ह, प्रमा कभा प्रमाता नहा है यानी ज्ञान कभो ज्ञानका कर्त्ता नहा है किन्तु जीव ही ज्ञान का कर्त्ता होता है।

साराश यह कि अनुभविताकी यानी प्रमाता की व्याप्ति अथात् सम्बन्ध जो अनुभवम होता है उसमे अनुभवान्तरकी यानी अन्य अनुभवकी जैसे अपेक्षा नहा होती ह वस क्रियामानम कत्ताका जो सम्बन्ध होता है उसम अन्य क्रियाकी अपक्षा नहीं होती ह।

प्रश्न— एक ज्ञानमें अन्य ज्ञानकी अपेक्षा न हो किन्तु एक प्रमाताको अपने प्रकाशके लिये अन्य प्रमाता के आश्रित जो प्रमा है उसकी अपेक्षा होती है और इस क्रमसे भी पुनः अनवस्था दोष हो जाता है अर्थात् साक्षी का ज्ञान अन्य साक्षी के ज्ञानके द्वारा हो जाता है ।

समाधान— प्रमाता कूटस्थ यानी निर्विकार नित्य चैतन्यस्वरूप है अर्थात् जीवमें प्रमाकी अपेक्षा का संभव ही नहीं है जिससे प्रमाताको अन्य प्रमाताके आश्रित प्रमाकी अपेक्षा होनेसे अनवस्था दोष होता। साक्षी स्वप्रकाशरूप है यानी उसका अपने आप प्रकाश होता है उसके प्रकाशके लिये अन्यके प्रकाशकी जरूरत नहीं है। दोनों विज्ञान समान होने से विज्ञान वादमें ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं हो सकता है ।

ग्राह्य-ग्राहकभाव की सिद्धि

दोनों विज्ञानोंकी समानता रहने से ग्राह्य-ग्राहक भाव न हो, किन्तु ज्ञाता और ज्ञानके वैषम्य रहनेसे यानी समानता नहीं रहने से ग्राह्य-ग्राहक भाव होगा। ज्ञानका जो ग्राह्यत्व है वह बाह्य पदार्थकी तरह नहीं है अर्थात् ग्राहककी यानी ज्ञान-कर्ताकी क्रिया के द्वारा जो फल होता है उसका आधार जैसे बाह्य पदार्थ होता है उस प्रकार ग्राहककी क्रियाके फल-विशिष्ट ज्ञान नहीं होता है क्योंकि एक फलमें अन्य फल नहीं रहता है अर्थात् अन्तःकरण-गत ज्ञान परिणामरूप फलमें आकाशकी तरह स्वाभाविक जो साक्षी चैतन्य है उसके सिवाय परिणामान्तरकी अपेक्षारूप यानी ज्ञानान्तरकी अपेक्षास्वरूप फला-

न्तर यानी अन्य फल नहीं होता है। चैतन्यकी अभिव्यक्तिस्वरूप फल तो अन्तः करण-परिणामरूप फलमें रहता ही है किन्तु अन्तः-करणका परिणामरूप फल अन्तःकरण परिणामरूप फलमें नहीं रहता है। पूज्य वार्त्तिक कारने भी जैसा कहा है—

> वियद्वस्तुस्वभावानुरोधादेव न कारकात्।
> वियत्संपूर्णतोत्पत्तौ कुम्भस्यैवं दशा धियाम्॥

घटकी उत्पत्ति होने पर उसकी जो वियत्-संपूर्णता यानी आकाशसे परिपूर्णता है वह वियद्वस्तुके स्वभावके अनुरोधसे ही होती है किन्तु कारकसे यानी किसी कारणान्तरसे नहीं होती है, इसी प्रकार ज्ञानकी दशा यानी संपूर्णता भी दृक् वस्तुके अर्थात् साक्षीके स्वभावके अनुरोधसे ही होती है।

साराश यह कि जिस प्रकार एक घट उत्पन्न होनेसे उसमें आकाश भी भर जाता है किन्तु आकाशकी उत्पत्ति नहीं होती है। सर्वत्र व्यापक आकाशका यह स्वभाव ही है कि अपने अवच्छेदक यानी आवरण करने वाले पदार्थकी उत्पत्ति होनेसे ही उससे वह अवच्छिन्न यानी आवृत हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानकी उत्पत्ति होनेसे ही व्यापक साक्षी उसमें भर जाता है यह साक्षीका स्वभाव ही है कि वह उस ज्ञानरूप अवच्छेदकसे अवच्छिन्न हो जाता है।

"न संविद्यते फलत्वात्—संवित् स्वयं फल है अतः अन्तःकरण-परिणामरूप ज्ञानसे वह ज्ञेय (ग्राह्य) नहीं होता है" किन्तु प्रमाताके प्रति, संवित् (ज्ञान) का ग्राह्यत्व स्वतः प्रकाश रूपसे होता है।

प्रश्न—साक्षी यानी प्रमाताको जो संवित् का प्रत्यक्ष होता है वह यदि अन्तःकरणके परिणामके बिना ही होता है तो अर्थका यानी विषयका भी प्रत्यक्ष अन्तःकरणके परिणामके बिना ही क्यों नहीं होता है ? व्यापक साक्षीका सम्बन्ध संवित् और अर्थ दोनोंमे समान-रूपसे विद्यमान है क्योंकि अविद्यावच्छिन्न जो जीव है वही साक्षी है और वह विषय प्रदेशमें भी रहता ही है अतः विषय (अर्थ) में भी साक्षीका सम्बन्ध विद्यमान है।

समाधान—अन्तःकरणके अर्थाकार परिणामरूप संवित् उत्पन्न होनेपर उस संवित्में साक्षीकी अभिव्यक्ति होती है यानी उस स्वच्छ परिणाममें साक्षीका प्रतिबिम्ब पड़ता है उस अभिव्यक्तिरूप अनुभवसे अर्थ (विषय) प्रगट होता है और संवित् में प्रतिबिम्ब जो केवल स्वरूप अनुभव है उससे संवित् प्रगट होती है।

सरांश यह कि साक्षीका स्वरूप यानी अपना रूप जो अनुभव है वह यद्यपि सर्व-व्यापी है तो भी अविद्यासे आवृत (ढका हुआ) रहनेके कारण सर्वत्र भासित नहीं होता है।

जैसे स्वच्छ दर्पण (काच) में मुख भासित होता है उसी प्रकार स्वच्छ स्वभावविशेष वाला जो अन्तःकरण है उसी में साक्षी प्रतिबिम्बित होता है। अन्तःकरण की वृत्ति भी स्वच्छ और अन्तः-करणके समीप में ही रहती है इस लिये वह स्वभावतः प्रगट है, अर्थ (विषय) तो अन्तःकरणके प्रति व्यवहित है यानी अन्तः-

करणके सन्निहित (समीपम) नहीं है अत उसका स्वभाव नहीं है कि चैतन्यक यानी साक्षीके प्रतिनिम्बको वह ग्रहण कर सके ।

सम्बन्धकी समानता रहन पर भी स्वभाव विशेपसे कोइ पदार्थ रिसी का ही अभिव्यञ्जक होता हे और किसी का नहीं होता है यही दखा जाता है जैस नेत्रका प्रभाका रूप और वायु दोनों से समा नरूपस सबन्ध है किन्तु चक्षुकी प्रभा तो रूप आदिका ही अभिव्य-ञ्जक होता हे और वायु आदिका अभिव्यञ्जक नहीं होता है ।

साराश यह कि नेत्रकी प्रभास रूपका भी सबन्ध है और वायुका भी सबन्ध है किन्तु उसका यही स्वभाव है कि उसम रूपका तो प्रति निम्व पडता है और वायुका प्रतिविम्ब नहा पडता है, इसी प्रकार अन्त करणकी वृत्तिस और विषयस साक्षीक सबन्ध रहने पर भी उक्त वृत्तिका यह स्वभाव है कि उसम साक्षीका प्रतिविम्ब पडता है और विषयका वैसा स्वभाव नहीं है।

तात्पर्य यह कि व्यापक साक्षी भी जब स्वच्छ अन्त करण से अवच्छिन्न (सबद्ध) होता है यानी जब उसका अन्त करणस सबन्ध होता है तब वह अनावृत अर्थात् भासित होन लगता है और जब विषयावच्छिन्न यानी विषयस आवृत (सबद्ध) होता है यानी जब उसका घट, पट आदि विषयोंस सबन्ध होता है तब वह भासित नहीं होता है ।

दृष्टान्त म यद्यपि चक्षुकी प्रभा एक व्यञ्जक है, उसके व्यग्य-कोटिम रूप और वायु ये दोनों में एक व्यग्य और एक अव्यग्य

दिखाया गया है और दार्ष्टान्तिकमे व्यंग्य ही साक्षी चैतन्य एक है, उसके व्यञ्जक-कोटिमे ही अन्तःकरण तथा घट इन दोनोंमे एक व्यंजक और एक अव्यंजक दिखाया जाता है तो भी वह दृष्टान्त हो सकता है क्योंकि उतने ही अंशमें दृष्टान्त है, सर्वात्मना दृष्टान्तकी समानता तो 'दर्पण-मुख' इसीमे है क्योंकि घट और दर्पण दोनोंके मुखके सान्निध्य रहने पर भी स्वच्छ दर्पण ही मुखका व्यजक होता है, घट उसका व्यंजक नहीं होता है ।

"नाम्याः कर्मभावो विद्यते—इस संवित्का कर्मभाव नहीं होता है यानी संवित्में परिणाम क्रिया-जन्य फल नहीं होता है । "

प्रश्न— जो प्रकाशित होता है वह अन्यके द्वारा प्रकाशित होता है जैसे ज्ञान और अर्थ अन्यके द्वारा प्रकाशित है । साक्षी भी प्रकाशित होता है, साक्षी और ज्ञानमे कुछ भी पार्थक्य नहीं है। अनुमान भी है— "आत्मा ज्ञेयः प्रकाशमानत्वात् घटवत् ।"

समाधान— आत्मा यानी साक्षी सदैव असन्दिग्ध है अर्थात् उसका कभी सन्देह नहीं होता है और वह सदैव अविपर्यस्त है यानी उसका कभी भ्रम भी नहीं होता है, वह नित्य प्रत्यक्षस्वरूप है, इस प्रकारका जो आत्माका स्वरूप है वह आत्माके नित्य प्रकाश-स्वरूप होनेसे ही सिद्ध हो सकता है ।

प्रश्न— आत्माके शश्वत् असन्दिग्ध रहने पर यानी एक आत्माको अपने अस्तित्वके विषयमे जब कभी सन्देह उत्पन्न नहीं होता है तो अपनेसे भिन्न आत्माके अस्तित्व के विषयमें सन्देह-ध्वंस

यानी सन्देहकी निवृत्ति कैसे हो सकती है क्योंकि जब आत्मामें सन्देहकी उत्पत्ति ही नहीं होती है तब निवृत्ति किसकी होगी ?

समाधान— सब लोगोंके अनुभव-सिद्ध सुख आदिका अनुभव करने वाला जो साक्षी है, किसीके कहने मात्रसे उसके नास्तित्वका यानी उसके नहीं रहनेका सन्देह किसी को भी उत्पन्न नहीं होता है जिससे सन्देहकी निवृत्ति करनी पड़ती। सन्देहकी उत्पत्ति हो, तो उसकी निवृत्ति हो, । आत्मामे सन्देहकी निवृत्ति नहीं होती है किन्तु सन्देह की अनुत्पत्ति यानी सन्देहकी उत्पत्ति ही नहीं होती है, जैसे प्रत्यक्षरूप से जो घट दृष्ट हो रहा है उसमें नास्तित्वका किसीको सन्देह उत्पन्न ही नहीं होता है ।

अनुभव असंभव हो जाता है यानी आत्माकी सार्वजनिक असन्दिग्धता, अभ्रान्तता और नित्यप्रत्यक्षता के अनुरोधसे आत्मा ज्ञेय यानी पर-प्रकाश्य कभी साबित नहीं हो सकता है किन्तु आत्मा स्वप्रकाश है यह प्रमाणों के द्वारा सिद्ध होता है।

प्रदीप की तरह विज्ञान अन्य किसीके द्वारा प्रकाशित नहीं होता है किन्तु विज्ञान स्व-प्रकाश है ऐसा जो विज्ञानवादीका कहना है वह घने प्रस्तरके मध्यमें सहस्र प्रदीपके प्रकाश की तरह किसी प्रमाणसे ज्ञेय नहीं है।

•यदि किसी ज्ञाताके प्रति उस विज्ञानका प्रकाश नहीं होता है यानी कोई उसको जान नहीं सकता है तो ऐसे स्वयं प्रकाश ज्ञानसे क्या लाभ है अथवा उसके अस्तित्वका ही क्या नियामक है ?

• 'विज्ञान ही ज्ञाता है' यह भी नहीं, क्योंकि फल कभी कर्त्ता या कर्म नहीं होता है अतः जैसे द्रष्टा अन्य व्यक्ति अपने चक्षु आदि इन्द्रियके द्वारा प्रदीपके प्रकाश को देखता है यानी प्रदीपका द्रष्टा प्रदीपसे भिन्न होता है, वैसे विज्ञानका भी अन्य ज्ञाता आवश्यक होता है और ऐसा होनेसे सिद्ध-साधन ही हो जाता है।

यदि साक्षीके स्थान में विज्ञान को ही मानें तो नाममात्र में विवाद रह जाता है, और पदार्थ में किसी प्रकारका विवाद नहीं रहता है। नाम का विवाद कुछ भी विवाद नहीं है तब वेदान्तमत की स्थापना और विज्ञानवादका उच्छेद ही हो जाता है।

बाह्यार्थवाद की सिद्धि

बाह्य अर्थ क खण्डन करते हुए विज्ञानवादीने जो यह आक्षेप किया था कि जैस स्वप्न कालमे घट, पट आदि पदार्थ नहीं रहते हैं, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था म भी जो घट, पट आदि का ज्ञान होता है वह बाह्य अर्थ क विना ही होता है यानी स्वप्न–ज्ञान की तरह जाग्रत् ज्ञान भी आन्तर ही है क्योकि "वह भी ज्ञान ही है" यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि स्वप्न और जाग्रत् ज्ञान म समानता नहीं है, दोनो का वैधर्म्य (विभेद) है। स्वप्नका जो ज्ञान है वह वाधित है और जाग्रत् का ज्ञान वाधित नहीं है। जाग्रत ज्ञान वाधित नहीं ह यह विज्ञानवादी को भी मानना ही पडता है और उस जाग्रत् ज्ञानस स्वप्न ज्ञान वाधित हो जाता है। स्वप्नमे किसीको महाजनका समागम होता है,उठने पर वह समागम नष्ट हो जाता है। "मुझे महाजनका समागम नहीं हुआ था किन्तु मेरा चित्त निद्रा-अवस्था म था इस लिये वह भ्रान्ति हुई थी" इस प्रकार सार्वजनिक प्रत्यक्ष विद्यमान है।

स्वप्न प्रत्यय की तरह यदि जाग्रत प्रत्यय भी वाध्य हो तो वह स्वप्न प्रत्यय का वाधक नहीं हो सकता है क्योंकि जो वाध्य होता है वह वाधक नहीं हो सकता ह और स्वप्न प्रत्यय क वाधक नहीं रहने से स्वप्न प्रत्यय मिथ्या नहीं होता तब 'स्वप्नवत्' यह दृष्टान्त साध्य स विकल हो जाता है यानी साध्य जो मिथ्यात्व है वह उक्त

पद्धति से दृष्टान्त मे यानी स्वप्न-प्रत्यय मे ही नहीं रहता है अत बाध अबाधरूप वैधर्म्य के रहने के कारण स्वप्न-प्रत्यय के दृष्टान्त से जाग्रत् प्रत्यय निरालम्ब नहीं कहा जा सकता है और स्वप्न दर्शन जो है वह स्मृति है क्योंकि सस्कार मात्र से उत्पन्न जो विज्ञान है वह स्मृति कही गयी है ।

सोए हुए पुरुष की अन्य सामग्री नहीं रहने के कारण सस्कार मात्र अवशिष्ट रहता है, उसी सस्कार से स्मृति होती है और वह स्मृति भी निद्रारूप दोपसे विपरीत हो जाने के कारण, जो पिता आदि वर्त्तमान नहीं हैं, उनको भी वर्त्तमानरूप स भासित करती है अत स्मृति से उपलब्धि (अनुभव) की विशेपता निश्चित होती है।

स्मृति और उपलब्धि का प्रत्यक्ष अन्तर (भेद) का अनुभव होता है क्योंकि उपलब्धिम अथ (विषय) का सप्रयोग (सन्निकर्ष) रहता है और स्मृतिमे अर्थ का विप्रयोग यानी वियोग रहता है। जैसे-"इष्ट पुत्र स्मरामि नोपलभे, उपलब्धुमिच्छामि—यानी इष्ट पुत्रका स्मरण करता हू, साक्षात्कार नहीं करता हू किन्तु अनुभव (साक्षात्कार) करने की इच्छा करता हू ।"

इस प्रकारकी विवेचना रहनेसे यह अनुमिति नहीं की जा सकती ह कि— "जागरितोपलब्धि मिथ्या, उपलब्धित्वात् स्वप्नोपलब्धि वत्—यानी जाग्रत् की उपलब्धि (प्रतीति) मिथ्या है, उपलब्धि

होनेके कारण, स्वप्न की उपलब्धि की तरह।" 'अपने अनुभवका अपलाप कोई भी बुद्धिमान् पुरुष नहीं कर सकता है।

साराश यह कि जाग्रत् प्रत्यय के स्वतः प्रामाण्य सिद्ध होने-पर अनुभव-सिद्ध जो यथार्थत्व है वह अनुमान के द्वारा अन्यथा यानी मिथ्या कभी नहीं किया जा सकता है।

स्वप्न प्रत्यय के साधर्म्य से जाग्रत्-प्रत्यय की स्वतः निरालम्बता नहीं कही जा सकती क्योंकि जो जिसका स्वत. धर्म है, अन्य के साधर्म्य से उसका संभव नहीं हो सकता। स्वप्न और जाग्रत का महान् अन्तर है यह दिखा दिया गया है।

यः जो आक्षेप किया गया था कि "वाह्य अर्थ के नहीं रहने-पर भी वासना की विचित्रता से ज्ञानका वैचित्र्य होगा" यह भी ठीक नहीं क्योंकि वासना भी अर्थ-उपलब्धि के अधीन ही देखी जाती है। आश्रय के नहीं रहने से लौकिक वासना की सिद्धि ही नहीं हो सकती है क्योंकि लोगों में विपय के साथ ही वासना का अन्वय-व्यतिरेक दृष्ट होते हैं। अथकी अपेक्षा से रहित जो वासना है उसमें अन्वय-व्यतिरेक नहीं है।

"क्षणिक जो आलय विज्ञान है वही वासना का आधार होगा" यह भी नहीं, क्योंकि एक वार उत्पन्न होने वाले जो दो पदार्थ हैं, उनका परस्पर आधार-आधेय भाव नहीं वनता है।

वासना और आलय विज्ञान ये दोनों जब युगपत् उत्पन्न होते हैं तब उक्त दोनों का आधार-आधेय भाव कैसे कहा जा सकता

है और पूर्व क्षण में उत्पन्न जो आधार है उसकी सत्ता यदि आधेय की उत्पत्ति समय तक मानी जाय तो क्षणिकत्व की हानि हो जाती है।

संस्कारविशेष का नाम वासना है और संस्कार आश्रय के विना नहीं रहते हैं यही लोगों में दृष्ट है और यहां वासना का आश्रय कोई भी नहीं है क्योंकि प्रमाणोंसे उसकी उपलब्धि नहीं होती है।

यद्यपि आलय विज्ञान वासनाका आश्रय स्वरूप से ही माना गया है तथापि क्षणिकत्व के स्वीकार करने से अस्थिरस्वरूप जो आलयविज्ञान है वह भी प्रवृत्ति विज्ञान की तरह वासनाओंका आधार नहीं हो सकता है।

भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीन कालोंसे सबन्ध रखने वाला तथा सब विषयों का ज्ञाता जब एक कोई स्थिर पदार्थ ही नहीं माना जाता है तब देश-काल निमित्त की अपेक्षा से जो वासना उत्पन्न होती है उसका आधार होना, पुन उस वासना से जो स्मृति उत्पन्न है उसका आधार होना किसी एक क्षणिक पदार्थका कैसे हो सकता है?

जिस आश्रय मे वासना है उसी आश्रय म वासना के द्वारा समय पा कर स्मृति उत्पन्न होती है। जब किसी आलयविज्ञानरूप आश्रय की एक क्षण से अधिक काल की सत्ता नहीं मानी गयी है तब स्मृति कैसे क्षणिक पक्षमें हो सकती है?

विज्ञानवादीने भी सब पदार्थ को बाह्यार्थवादी की तरह क्षणिक ही माना है अतः क्षणिकत्व-प्रयुक्त जो दोप बाह्यार्थवादमें दिखाये गये हे वे सबके सब विज्ञानवादमें भी समान ही हैं अतः बाह्यार्थवाद और विज्ञानवाद दोनों ही समीचीन युक्तियों से रहित है, कथमपि मान्य नहीं है।

विज्ञानवादी का रहस्य

विज्ञानवादी बौद्ध आत्मख्यातिवादी कहे जाते हैं क्योंकि उन्होंने आत्मख्याति को माना है। उनके मतमें ज्ञानसे अतिरिक्त विषय की सत्ता नहीं मानी गयी है।

इसका रहस्य यह है कि कोई भी विषय जब तक ज्ञानमें आरूढ़ नहीं होता है तब तक उसका प्रकाश ही नहीं होता है इससे यही ज्ञात होता है कि ज्ञान ही वस्तुतः ज्ञेय (विषय) है, ज्ञानसे भिन्न विषय नहीं है। अन्तर्ज्ञेय ज्ञान ही बाह्य आकारमें प्रकाशित होता है किन्तु वस्तुतः वह बाह्य पदार्थ नहीं है।

यदन्तर्ज्ञेयरूपन्तु बहिर्वदवभासते।
सोऽर्थोविज्ञानरूपत्वात्तत्प्रत्ययतयापि च॥

(तत्त्व पञ्जिकाके पृष्ठ ५८२,दिगनागका वचन)

कल्पित बाह्य पदार्थ में ही अन्तर्ज्ञेय पदार्थ का भ्रम होता है। अन्तर्ज्ञेय वह ज्ञान अथवा बुद्धि ही आत्मा है इस प्रकार सर्वत्र कल्पित बाह्य पदार्थ में ही वस्तुतः आत्मा का ही भ्रम होता है इसी लिये इस भ्रमको आत्मख्याति कहते हैं।

जसे शुक्तिमे जा रजत-भ्रम होता है वह शुक्तिमे कल्पित बाह्य पदार्थ है, क्योकि वहा आन्तर अर्थात अन्तर्ज्ञेय रजत का ही भ्रम होता ह। यह रजत ज्ञानका ही आकारविशेष है यानी ज्ञान से भिन्न पदार्थ नहीं है इस प्रकार वह ज्ञानस्वरूप होने से आत्मा वा आत्मा का धर्म है अतः वह आन्तर अथवा अन्तर्ज्ञेय स्वरूप है यही निश्चित होता है।

वह बाह्य नहीं होने पर भी बाह्यवत् प्रकाशित होने के कारण बाह्य पदार्थ कहा जाता है, वास्तव मे सर्वत्र अन्तर्ज्ञेय विज्ञान का ही ज्ञान होता है, उससे भिन्न कोई भी ज्ञेय विषय नहीं है।

सारांश यह कि सर्वत्र ही अन्तर्ज्ञेय आत्मस्वरूप विज्ञान का ही वस्तुतः भ्रम होने के कारण उसे आत्मख्याति कहते हैं।

आत्मख्याति वादमे कोई भी ज्ञान यथार्थ नहीं रहने के कारण प्रमाण की भी सत्ता नहीं मानी जाती है, क्योंकि जब एक भी प्रमा (सच्चा ज्ञान) नहीं है तब उसके साधक प्रमाण की सत्ता कैसे रह सकती है ? अतः विज्ञानवादमे प्रमाण-प्रमेय भाव भी काल्पनिक ही है, वास्तव नही है किन्तु विज्ञान की सत्ता मान्य है। वह विज्ञान स्वतः प्रकाशस्वरूप है।

अनादि सस्कारो की विचित्रता से अनादिकाल से ही असंख्य विचित्र विज्ञान की उत्पत्ति होती रहती है। प्रत्येक विज्ञान एक क्षण मात्र रहता है। "सर्वं क्षणिकम्" यह बौद्धों का सर्व-संमत सिद्धान्त है।

पूर्व क्षणमे उत्पन्न विज्ञान पर क्षणमें दूसरे विज्ञान को उत्पन्न करके उसी पर क्षण मे स्वय विनष्ट हो जाता है, इस प्रकार अनादि काल से ही विज्ञान का प्रवाह चल रहा है। उसमे "अह, मम— मैं और मेरा" इस प्रकारका विज्ञानसन्तानका नाम आलय विज्ञान है और वही आत्मा है।

उससे भिन्न समस्त विज्ञान का नाम प्रवृत्ति विज्ञान है वही जगत है। जैसे नील, पीत और घट पट आदि आकार के विज्ञान प्रवृत्ति विज्ञान हैं। आलय विज्ञान से प्रवृत्ति विज्ञान तरङ्ग उत्पन्न होता है। 'ओघान्तरजलस्थानीयादालयविज्ञानात् प्रवृत्तिविज्ञानतरङ्ग उत्पद्यते।"

(लङ्कावतार सूत्र)

वह समस्त विज्ञान और सर्व धर्म का मूल स्थान है अत उसका नाम आलय विज्ञान है, वही विज्ञाता है 'विजानाति इति विज्ञानम्'

(त्रिंशिकाविज्ञप्ति कारिका का भाष्य)

विज्ञानवादी बौद्धाचार्य वसुबन्धुने विज्ञान के स्वरूप की व्याख्या करते हुए अन्यत्र सूक्ष्म विचार किया है। उन्होने विपाक, मनन और विषय-विज्ञप्ति के भेद से विज्ञान के तीन प्रकार का परिणाम कह कर आलय विज्ञान को "विपाक परिणाम" कहा है।

विपाको मननाख्यश्च विज्ञप्तिर्विषयस्यच ।
तत्रालयाख्यविज्ञानविपाक सर्वबीजक ' ॥

(वसुबन्धुकृत त्रिंशिका विज्ञप्ति कारिका)

आलयाख्यमिथ्यालयविज्ञानसज्ञक यद्विज्ञान स विपाकपरि-

णामः। तत्र सर्वसांक्लेशिकधर्मबीजस्थानत्वात् आलयः। आलयः स्थानमितिपर्यायौ, अथवा आलीयन्ते उपनिबध्यन्तेऽस्मिन् सर्वे धर्माः कार्यभावेन इति आलयः। (स्थिरमति कृत भाष्य)

अथ खलु भगवान् तस्यां वेलायां इमा गाथा अभाषत—

दृश्यं न विद्यते चैत्तं चित्तदृश्यात् प्रमुच्यते।
देहभोगप्रतिष्ठानमालयं ख्यायते नृणाम्॥

(लङ्कावतार सूत्र ५६ पृष्ठ)

"एवमेव महामते प्रवृत्तिविज्ञानानि आलयविज्ञानजातिलक्षणा-न्यन्यानि स्युः।" (लङ्का० ४५ पृष्ठ)

बुद्धदेवने अपने शिष्योंके अधिकार और बुद्धिके अनुसार भिन्न भिन्न रूपसे उपदेश किया है।

'योगाचार' ने विज्ञानवादको ही उनका अभिमत तत्त्व समझ कर उसीका प्रचार किया है। 'माध्यमिक' ने शून्यवादको बुद्धदेवका अभिमत तत्त्व समझ कर उसका ही प्रचार किया है। 'सौत्रान्तिक' और 'वैभाषिक' ने ज्ञान-भिन्न बाह्य पदार्थ की भी सत्ता है यही बुद्धदेवका अभिमत समझा अतः तदनुसार ही प्रचार किया है।

बाह्य पदार्थ को मानने वाले इन दोनोंमें भी कुछ विभेद रहता है। 'सौत्रान्तिक' के मतमें बाह्य पदार्थका प्रत्यक्ष नहीं होता है किन्तु बाह्य पदार्थ अनुमेय होता है और 'वैभाषिक' के मतमें परमाणु पुञ्ज मात्र होने पर भी बाह्य पदार्थका प्रत्यक्ष होता है, बाह्य पदार्थके प्रत्यक्ष होनेकी अनेक युक्तियोंका प्रदर्शन किया गया।

उक्त दोनों मतमें प्रत्यक्ष या अनुमेय किसी भी रूपमें वाह्य पदार्थका अस्तित्व स्वीकार किया गया है अतः सौत्रान्तिक और वैभाषिक दोनों ही 'सर्वास्तिवादी' कहे जाते हैं।

सर्वास्तिवादी बौद्धसम्प्रदाय भी विज्ञानवादी की तरह आत्मख्यातिवादी है।

इसका यह रहस्य है कि वाह्यार्थवादी या सर्वास्तिवादी के मतमें भी वाह्य शुक्ति प्रभृति द्रव्यम आरोप्य रजत आदि भी ज्ञानाकार ही है अर्थात् भ्रमस्थल में शुक्ति प्रभृति पदार्थमें ज्ञानाकार रजत आदिकी ही ख्याति या भ्रम होता है। इस भ्रमका शुक्तिप्रभृति अधिष्ठान होता है। विज्ञानवादी से विशेषता यही है कि शुक्ति प्रभृति वाह्य पदार्थ उस के मत मे विज्ञान से भिन्न पदार्थ हैं और सत् हैं किन्तु जिस प्रकार ज्ञानाकार रजत आदि का ही विभ्रम विज्ञानवाद में होता है उसी प्रकार ज्ञानाकार रजत आदिका ही विभ्रम वाह्यार्थवादीके मतमें भी होता ह अतः वह भी आत्मख्यातिवादी कहे जाते हैं।

तत्रार्थशून्यं विज्ञानं योगाचाराःसमाश्रिताः।
तत्राप्यभावमिच्छन्ति ये माध्यमिकवादिनः॥

(मीमांसा-श्लोकवार्तिक निरालम्ब वाद १४)

विज्ञानवादी बौद्धाचार्योंके कुछ नाम इस प्रकार हैं—

वसुबन्धु, दिग्नाग, स्थिरमति, धर्मकीर्त्ति, शान्तरक्षित, और कमलशील आदि।

विज्ञानवादका खण्डनसमुच्चय

विज्ञानवादमे ज्ञेय अथवा विषय जब ज्ञानके ही आकारविशेष माने जाते हैं तब ज्ञानके स्वरूपसे ही विषयों की सत्ता रहेगी किन्तु बाह्यरूप से उसकी सत्ता नही रह सकती है अर्थात् बाह्य पदार्थ नही है, वह सवथा अलीक है यहा माना जाता है और ऐसा मानने से ज्ञानाकार पदार्थ अर्थात् अन्तर्ज्ञेय पदार्थ बाह्यवत् प्रकाशित होता है यह नहीं कहा जा सक्ता क्योंकि बाह्य पदार्थ बन्ध्या पुत्र की तरह अलीक होने से वह उपमान कैसे हो सकता है यानी जब बाह्य ही नहीं तब "बाह्यवत्" प्रकाशित होता है यह कैसे कहा जा सकता ?

कहने का तात्पर्य यह कि "देवदत्त वन्ध्या-पुत्र को तरह प्रकाशित होता है" इस कथनका जेसे व्याघात है यानो उक्त प्रकारका कथन नहीं हो सकता, वैसे ही "वहिर्वत् प्रकाशित होता है" यह कथन भी व्याहत है।

विज्ञानवादीने बाह्य पदार्थका अस्तित्व नहीं माना है, वाह्य स्वरूप से पदार्थ को अलीक कहा है और अन्तर्ज्ञेय पदार्थ (ज्ञान) वहिर्वत् प्रकाशित होता है, यह भी कहा है। उसके इस प्रकार के कथन में सामञ्जस्य नहीं रहने के कारण "वदतोव्याघात" दोष हो जाता है।

फिर भी विषयों के वैचित्र्य के विना ज्ञान का वैचित्र्य नहीं

हो सकता यानी घटज्ञान पटज्ञान इस प्रकार जो भिन्न भिन्न ज्ञान होता है उसका कारण घट-पट आदि भिन्न भिन्न विषय का रहना है इस का समाधान करते हुए विज्ञानवादीने कहा है कि "अनादि संस्कार की विचित्रता रहने के कारण ज्ञान की विचित्रता (भिन्न भिन्न ज्ञान) होती है" किन्तु विषय की विचित्रता के विना तत्-तत् विषयों में यानी उस उस विषय में संस्कार की विचित्रता भी नहीं हो सकती है अतः उक्त कथन ठीक नहीं।

"प्रति क्षण में यानी क्षण क्षण में तत्-तत् आकार में अर्थात् उस उस विषयाकार में विज्ञान की ही उत्पत्ति है और वह घट-पटादि विषय विज्ञानका ही परिणाम है" यह भी असंभव है क्योंकि इस प्रकार के क्षणिक विज्ञान की उत्पत्ति मानने मे कुछ भी कारण नहीं है। जो विज्ञान द्वितीय क्षण मे ही विनष्ट होगा वह इस समय यानी प्रथम क्षण में दूसरे विज्ञान का उपादान कारण नही हो सकता क्योंकि उपादान कारण का नियम है कि अपने कार्य काल मे भी रहे और कार्य होने के अव्यवहित पूर्व क्षणमें भी रहे। केवल एक क्षण रहने वाला विज्ञान कैसे किसीका उपादान कारण माना जा सकता है ?

फिर भी विज्ञानवाद में आलय विज्ञानसन्तान को आत्मा मानने से किसी विषय का स्मरण नहीं होगा क्योंकि ऐसा नियम है जो व्यक्ति अनुभव करता है वही कभी अपने अनुभूत पदार्थ का स्मरण करता है।

यहां जो विज्ञानस्वरूप आत्मा किसी विषयका अनुभव करता है, वह द्वितीय क्षणमें ही विनष्ट हो जाता है तब वह अपने अनुभूत पदार्थ का कभी स्मरण कैसे कर सकता है और उसके अनुभूत पदार्थका स्मरण अपर विज्ञान तो कर ही नहीं सकता है।

आलय विज्ञान सन्तान को स्थायी पदार्थ मानने से बौद्धों के "सर्वं क्षणिकम्" इस सिद्धान्त का व्याघात हो जाता है।

फिर भी विज्ञानवाद में ज्ञान से भिन्न विषय की सत्ता नहीं मानने से ज्ञान का ही ज्ञान होता है यही कहना पड़ेगा और ऐसा कहने से ज्ञान होने के पश्चात् "मैंने ज्ञान को जाना है" इस प्रकार का ज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न होता है? और सर्वत्र ही कल्पित वाह्य पदार्थ में अन्तर्ज्ञेय पदार्थ अथवा ज्ञानाकार वाह्यवत् प्रकाशित होता है यह कहने से समस्त वाह्य पदार्थों की काल्पनिक अथवा व्यावहारिक सत्ता अवश्य मान्य हो जाती है किन्तु वैसा मानने से विज्ञानवादी का यह कहना कि "ज्ञान और ज्ञेयका अभेद है यानी ज्ञानसे भिन्न विषय नहीं है, किन्तु ज्ञान ही घट-पट आदि विषयाकार होता है" सर्वथा निर्मूल है क्योंकि ज्ञानकी उपलब्धि से पृथक् ज्ञेय (विषय) की उपलब्धि होती है।

ज्ञान से विभिन्न आकार से ज्ञेय का प्रकाश होता है। ज्ञान क्रिया का कर्मकारक ज्ञेय या विषय होता है अतः ज्ञेय से ज्ञान भिन्न पदार्थ है। क्रिया और उसका कर्मकारक कभी एक पदार्थ नहीं हो सकता है, जिस प्रकार छेदन क्रिया और छेद्य द्रव्य एक

पदार्थ नहीं होता है। ज्ञेय या विषय की सत्ता के विना ज्ञान की ही सत्ता नहीं हो सकती है क्योंकि निर्विषयक ज्ञान ही नहीं होता है।

"समस्त बाह्य पदार्थ पारमार्थिक विज्ञानसे अभिन्न है" ऐसा नहीं कहा जा सकता किन्तु उन से भिन्न ही कहा जा सकता क्योंकि काल्पनिक और पारमार्थिक पदार्थका परस्पर अभेद असभव है। असत और सत पदार्थ के अभेद होने का कभी सभव नहीं।

फिर भी विज्ञानवाद मे स्वप्न ज्ञानको दृष्टान्त करके, ज्ञानत्व हेतु के सहारे जाग्रदवस्था के समस्त ज्ञानको भ्रमात्मक सिद्ध करना असभव है क्योंकि जाग्रदवस्था क समस्त ज्ञान स्वप्नादि ज्ञान के सदृश नहीं ह और स्वप्नादिज्ञान भी भ्रम होने से सवथा असत् विषयक-ज्ञान नहीं है, अतः उसको दृष्टान्त रख कर जाग्रद-वस्था के समस्त ज्ञान को असत्विषयक कहना युक्तिशून्य है।

फिर भी विज्ञानवाद मे समस्त ज्ञान को सव अवस्थाओंमें भ्रमात्मक मानने और ससार म एक भी यथार्थ ज्ञान नहीं मानने से भ्रमज्ञान हो नहीं सक्ता क्योंकि यथार्थज्ञान अथवा तत्त्वज्ञान होने से ही पहले के भ्रमात्मक ज्ञान का भ्रमत्व निश्चित होता है। समस्त ज्ञान की भ्रमात्मकता सिद्ध नहीं हो सकती है।

यथार्थ ज्ञान नहीं रहने से प्रमाण का भी अस्तित्व नहीं रह सकता क्योंकि यथार्थ ज्ञान के साधन को हा प्रमाण कहत हैं उस

प्रमाण के विना किसी सिद्धान्त की स्थापना करनेसे विना प्रमाण के विपरीत पक्षकी भी स्थापना हो जा सकती है।

विज्ञानवादीने अन्य-संमत प्रमाण पदार्थको ले कर अनुमान के आश्रय से जो अपने सिद्धान्त की स्थापना की है उसका कुछ प्रामाण्य नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष-विरुद्ध अनुमान के प्रामाण्यको कोई नहीं स्वीकार करता है। जब ज्ञानसे पृथक्रूपसे बाह्य पदार्थका प्रत्यक्ष होता है, तब अनुमान के द्वारा उसकी असत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती।

फिर भी विज्ञानवाद मे चक्षु:संयोग होने के पश्चात् जिस द्रव्यमे स्थूलत्वका प्रत्यक्ष होता है उसको क्षणिक मानने से स्थूलत्व-के प्रत्यक्ष काल-पर्यन्त उसके अस्तित्व ही नहीं रहनेके कारण उसमें स्थूलत्व का प्रत्यक्ष होना असंभव हो जाता है अतः "सर्वं क्षणिकम्" यह सिद्धान्त सर्वथा अयुक्त है।

फिर भी विज्ञानवादमे बाह्य शुक्तिमें ज्ञानाकार रजत का ही भ्रम माना गया है। वह बाह्य शुक्ति भी तो इस मतमे वस्तुतः ज्ञान से भिन्न पदार्थ नहीं है, वह भी ज्ञान का ही आकार विशेष है, तब तो वस्तुतः एक ज्ञान पदार्थ में ही अपर ज्ञान पदार्थ के भ्रम होने से और उसमे किसी प्रकार के बाह्य संबन्ध नहीं रहने पर 'बाह्यवत् प्रकाश होता है" यह कैसे संभव हो सकता है और ऐसा होने से सर्वत्र ज्ञानस्वरूप सत् पदार्थ ही अपर ज्ञान पदार्थ के भ्रम का अधि-ष्ठान हो जाता है और यह विज्ञानवादीको भी मान्य नहीं है।

वाह्य प्रतीति के अपलाप करनेमें अक्षम होते हुए उन्होने कल्पित वाह्य पदार्थ में ही ज्ञान का आरोप (भ्रम) माना है, उनके मत मे कल्पित वाह्य शुक्ति तो ज्ञान से भिन्न रूपमे असत् है। उसी कल्पित वाह्य शुक्ति में रजताकार ज्ञान अथवा ज्ञानाकार रजतके भ्रम होनेसे उस रजत का वाह्यवत् प्रकाश होता है, किन्तु वाह्यत्वरूपसे वाह्य पदार्थ यदि सर्वथा असत् अथवा अलीक रहे तो "वाह्यवत् प्रकाश होता है" इस कथनका ही व्याघात हो जाता है।

"वाह्यवत् प्रकाशित होता है" ऐसा कहने से वाह्य पदार्थ की सत्ता स्वीकृत हो जाने से विज्ञानवादी की अपनी ही प्रक्रिया से अपने सिद्धान्त का विनाश हो जाता है। फिर भी विज्ञानवाद में भ्रमका जो अधिष्ठान होता है अर्थात् जिस पदार्थ में किसी पदार्थ का भ्रम होता है उस पदार्थके साथ अपर पदार्थ अर्थात् आरोप्य पदार्थके सादृश्य के विना सादृश्यमूलक भ्रम नही हो सकता है इसी लिये शुक्तिमें रजत-भ्रमकी तरह मनुष्य आदिका भ्रम नही होता है किन्तु विज्ञानवादीके मतमें कल्पित वाह्य शुक्ति, जो असत् है उसे ही रज-ताकार ज्ञानरूप सत् पदार्थ के भ्रमका अधिष्ठान माननेसे, असत् और सत् पदार्थका किसी तरहका सादृश्य नही रहने के हेतु उक्त रूप भ्रम नही हो सकता है।

"कल्पित वा असत् वाह्य शुक्ति से रजताकार ज्ञान का किसी रूप से किञ्चित् सादृश्य रहता है" ऐसा मानने से कल्पित समस्त विषयों से उसका किसी रूपका सादृश्य स्वीकृत हो जाता है तव

शुक्ति में रजत-भ्रम की तरह मनुष्य आदिके भ्रम होने का भी प्रसङ्ग हो जाता है, क्योंकि ज्ञानाकार मनुष्य आदि का भी उस कल्पित बाह्य शुक्तिमें क्यों नहीं भ्रम होगा ?

'भिन्न भिन्न विज्ञान भिन्न भिन्न विषयाकार में ही उत्पन्न होता है, विज्ञान का इसी प्रकार का परिणाम स्वभाव सिद्ध है" यह नहीं कहा जा सकता अर्थात सवविषयाकारमें समस्त विज्ञानोंकी उत्पत्ति नहीं होती है, अत. विज्ञान के स्वभावानुसार शुक्ति में रजताकार ज्ञान ही की उत्पत्ति होती है, सर्पाकार ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है, ऐसा माननेसे विज्ञानवादमें उक्त रूप भ्रममें विज्ञानका स्वभाव अथवा शक्ति विशेष नियामक है, सादृश्य आदि अन्य कुछ भी नियामक नहीं है, यही मानना पडता है किन्तु ऐसा माननेसे उस स्वभावकी स्वतन्त्र सत्ता और उसका कुछ नियामक है अथवा नहीं ? यह कहना पडेगा।

विज्ञान का स्वभाव भी यदि अपर विज्ञानरूप ही हो तो उस विज्ञान का भी स्वभावविशेष स्वीकार करने से उसका भी कुछ नियामक है ऐसा कहना होगा इस प्रकार अनन्त विज्ञान के अनन्त स्वभाव अथवा शक्ति की कल्पना करने से इस कल्पना-शक्ति के बल पर व्यथ विचार करना विज्ञानवादी की केवल कल्पना मात्र है, अतः विज्ञानवाद युक्तिशून्य है ।

चित्त मनो विज्ञानं विज्ञप्तिश्चेति पर्यायाः—यानी चित्त मन, विज्ञान और विज्ञप्ति ये चार शब्द पर्याय-वाचक हैं यानी समानार्थक हैं।

विज्ञानवादी बौद्ध-सम्प्रदाय के मतमें विज्ञान को ही चित्त कहते हैं। विज्ञानवादी का यह अभिप्राय है कि स्वप्न अवस्था में जिन विषयों का ज्ञान होता रहता है, वे विषय जिस प्रकार चित्त से यानी ज्ञान से भिन्न पदार्थ नहीं हैं, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में भी जो विषय ज्ञात होते हैं, वे भी ज्ञान से भिन्न पदार्थ नहीं हैं अर्थात् ज्ञान से भिन्न ज्ञेयकी सत्ता किसी अवस्थामें नहीं है। "न चित्तव्यतिरेकिणो विषया ग्राह्यत्वात् वेदनादिवत्, यथा वेदनादि ग्राह्यं न चित्तव्यतिरिक्तं, तथा विषया अपि, वेदना-सुख-दुःखौ, चित्तं विज्ञानमिति।'

(न्याय वार्तिक)

अर्थात् चित से भिन्न पदार्थ विषयसमूह नहीं है, क्योंकि व ग्राह्य यानी ज्ञेय हैं, जैसे वेदना आदि, 'वेदना' शब्दका अर्थ सुख-दुःख होता है। 'चित्त' शब्दका अर्थ विज्ञान है।

तात्पर्य यह कि जिस प्रकार सुख, दुःख आदि ज्ञेय पदार्थ वस्तुतः विज्ञान से भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार अन्य विषय भी ज्ञानसे भिन्न नहीं हैं क्योंकि विज्ञान से अतिरिक्त हो कर ज्ञेय पदार्थकी सत्ता ही नहीं है ?

उक्त प्रकार के बौद्धों के अनुमान का खण्डन "उद्द्योतकर" ने इस प्रकार किया है कि सुख और दुःख से ज्ञान भिन्न पदार्थ है, क्योंकि सुख और दुःख ग्राह्य पदार्थ हैं। ज्ञान उसका ग्रहण है अतः

पड़ेगा क्योंकि जिस विषय का यथार्थ ज्ञान सर्वथा अलीक है उस विषयका भ्रमात्मक ज्ञान हो ही नहीं सकता है । जब कहीं सच्चे रूपका ज्ञान होता है तभी मिथ्या रूपका भी ज्ञान हो सकता है ।

बौद्धोंके अभिप्रेत ज्ञानका भ्रम नहीं कहा जा सकता, । उस प्रकार उभय पक्ष-समत कोई दृष्टान्त भी नहीं है किन्तु जो चित्तसे यानी ज्ञान से भिन्न पदार्थ की सत्ता नहीं मानते हैं, उनका स्वपक्ष-साधन और पर पक्ष खण्डन भी सम्भव नहीं, क्योंकि वे अपने ज्ञानके द्वारा दूसरों को कुछ भी नहीं समझा सकते। उनके 'चित्त यानी ज्ञानविशेष को दूसरा नहीं समझ सकता, जैसे दूसरके स्वप्न बिना कहने से दूसरा नहीं समझ सकता है।

यदि यह कहा जाय कि स्व-पक्षसाधन और पर-पक्षखण्डन, काल मे जिन शब्दोंका प्रयोग किया जाता है, उस समय उस प्रकार के शब्दाकार चित्त के द्वारा ही दूसरों को ज्ञान हो जाता है।

"शब्दाकार चित्त दूसरों का अज्ञेय नहीं रहता है" यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'शब्दाकार चित्त" इस वाक्यमें 'आकार' से तात्पर्य किसी सत्य पदार्थके सादृश्यके अनुरोधसे उससे भिन्न पदार्थ में भी उसका ज्ञान होना है और विज्ञानवादी के मतमे शब्द नाम के किसी बाह्य विषय की सत्ता नहीं रहने से 'शब्दाकार चित्त' यह भी कैसे कहा जा सकता ?

यदि कोई शब्द पदार्थ सत्य होता और किसी• विज्ञान में उस

ग्राह्य-ग्रहण भाव वशतः सुख-दुःख और उनका ज्ञान यह एक पदार्थ नहीं हो सकते। ग्राह्य और ग्रहण अभिन्न यानी एक पदार्थ है, इसमें कुछ भी दृष्टान्त नहीं है, कर्म और क्रिया एक ही पदार्थ नहीं हो सकते।

सुख दुःखका ग्रहण (ज्ञान) रूप जो क्रिया होती है, उस क्रियाका कर्म सुख और दुःख है अतः सुख-दुःख को ग्राह्य कहते हैं। जो ग्रहण का कर्म है वह ग्राह्य है।

ऐसा कहीं दृष्टान्त नहीं है कि कोई भी क्रिया और उसका कर्म एक पदार्थ होता हो। एकमात्र विज्ञान को ही सत् पदार्थ मानने वाले बौद्ध किस प्रकार विज्ञान के भेद का प्रतिपादन कर सकते हैं? क्योंकि विज्ञान मात्रको पदार्थ मानने से यानी विज्ञान से भिन्न बाह्य अथवा आध्यात्मक किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं माननेसे विज्ञान-भेदका हेतु कोई भी बाह्य या आध्यात्मिक पदार्थ नहीं रहनेसे विज्ञान का भेद कैसे हो सकता है?

यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार केवल भावना के भेद से स्वप्नका भेद होता है, उसी प्रकार सिर्फ भावना (वासना) के भेदसे ही विज्ञान का भी भेद होगा, यह भी युक्ति-युक्त नहीं है क्योंकि तब वैसा मानने से भावना का विषयस्वरूप भाव्य पदार्थ और भावक पदार्थ का भेद मानना ही पड़ेगा क्योंकि भाव्य और भावक एक पदार्थ नहीं होता है किन्तु स्वप्न-ज्ञान की तरह समस्त ज्ञान को भ्रम मानने से उस के विपरीत यथार्थ ज्ञान अवश्य मानना

पड़ेगा क्योंकि जिस विषय का यथार्थ ज्ञान सर्वथा अलीक है उस विषयका भ्रमात्मक ज्ञान हो ही नहीं सकता है। जब कहीं सच्चे सर्पका ज्ञान होता है तभी मिथ्या सर्पका भी ज्ञान हो सकता है।

बौद्धोंके अभिप्रेत ज्ञानका भ्रम नहीं कहा जा सकता,। उस प्रकार उभय पक्ष-संमत कोई दृष्टान्त भी नहीं है किन्तु जो चित्तसे यानी ज्ञान से भिन्न पदार्थ की सत्ता नहीं मानते हैं, उनका स्वपक्ष-साधन और पर-पक्ष खण्डन भी सम्भव नहीं, क्योंकि वे अपने ज्ञानके द्वारा दूसरों को कुछ भी नहीं समझा सकते। उनके 'चित्त यानी ज्ञानविशेष को दूसरा नहीं समझ सकता, जैसे दूसरेके स्वप्न बिना कहने से दूसरा नहीं समझ सकता है।

यदि यह कहा जाय कि स्व-पक्षसाधन और पर-पक्षखण्डन, काल में जिन शब्दोंका प्रयोग किया जाता है, उस समय उस प्रकार के शब्दाकार चित्त के द्वारा ही दूसरों को ज्ञान हो जाता है।

"शब्दाकार चित्त दूसरों का अज्ञेय नहीं रहता है" यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'शब्दाकार चित्त" इस वाक्यमें 'आकार' से तात्पर्य किसी सत्य पदार्थके सादृश्यके अनुरोधसे उससे भिन्न पदार्थ में भी उसका ज्ञान होना है और विज्ञानवादी के मतमें शब्द नाम के किसी बाह्य विषय की सत्ता नहीं रहने से 'शब्दाकार चित्त' यह भी कैसे कहा जा सकता ?

यदि कोई शब्द पदार्थ सत्य होता और किसी• विज्ञान में उस

शब्द का सादृश्य रहता तो तत्प्रयुक्त विज्ञान विशेष को "शब्दाकार चित्त" कहा जाता किन्तु विज्ञानवादी यह कैसे कह सकता ?

फिर भी विज्ञान से भिन्न विषय की सत्ता नहीं मानने से स्वप्नावस्था और जाग्रदवस्था का भी भेद नहीं हो सकता है, क्योंकि विज्ञान वादी के मतमे जैसे स्वप्नावस्था मे विषयो की सत्ता नहीं है वैसे जाग्रदवस्था मे भी विषयो की सत्ता नहीं है, तब यह स्वप्नावस्था है और यह जाग्रदवस्था है यह कैसे जाना जा सकता है ?

उनकी विभिन्नता का सपादक कोई भी हेतु नहीं है, उन दोनों अवस्थाओंके वैलक्षण्य के सपादक किसी हेतु के स्वीकार करने से विज्ञान से भिन्न विषय की सत्ता स्वीकार करनी ही पडती है ।

'उद्द्योतकर' ने यह भी कहा है कि यदि स्वप्नावस्थामे और जाग्रदवस्थामे कुछ भी भेद नहीं माना जाय क्योकि बौद्धमतमे जैसे स्वप्नके विषय की सत्ता नहीं है वैसे जाग्रत के भी विषयकी सत्ता नहीं है, तो धर्माधर्मकी व्यवस्था भी नहीं हो सकती है, अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न-अवस्थामे अगम्यागमन आदि दुराचार करनेसे कुछ भी अधर्म नहीं होता है उसी प्रकार जाग्रदवस्थामे भी अगम्यागमन आदि दुराचार करनेसे पाप नहीं लगेगा क्योकि स्वप्न अवस्थाकी तरह जाग्रदवस्था भी विषय-शून्य है क्योंकि विज्ञानवादी के मतमे जाग्रदवस्था मे भी अगम्यागमन आदि कोई बाह्य पदार्थ वस्तुत नहीं है ।

यदि यह कहा जाय कि "स्वप्न-अवस्था मे निद्राके उपधान और जाग्रदवस्था मे निद्रा के अनुपधान-प्रयुक्त उन दोनों अवस्थाओंका

भेद होगा या ज्ञानकी स्पष्टता और अस्पष्टता रहनेसे उक्त दोनों अवस्थाओं का भेद हो सकेगा" यह भी नहीं क्योंकि निद्राका उपधान चित्तकी विकृतिका हेतु है यह कैसे जाना जा सकता और विषयकी सत्ता नहीं माननेसे ज्ञानकी स्पष्टता या अस्पष्टता ही किस प्रकार जानी जा सकती ?

यदि यह कहा जाय कि विषय की सत्ता नहीं रहने पर भी विज्ञानका भेद देखा जाता है, जैसे-कोई प्रेत विष्टा (मैला)से परिपूर्ण नदीका दर्शन करता है और कोई प्रेत उसको रुधिर पूर्ण (खूनसे भरा) देखता है। वहा वस्तुतः नदी नहीं है, विष्टा भी नहीं है अत' यह मानना पड़ता है कि वाह्य पदार्थ के नहीं रहने पर भी विज्ञान ही भिन्न भिन्न आकार से उत्पन्न होता है। भिन्न भिन्न विज्ञान सिद्ध करनेमें वाह्य पदार्थ की सत्ता आवश्यक नहीं है, विज्ञान ही तदाकार यानी उस रूपका ही जाता है, यह भी नहीं क्योंकि "उस रूपका" यह क्या ? और कैसे "उस रूपका" हो जाता है ? जब वाह्य पदार्थ अलीक है।

'जलाकार और नद्याकार ही विज्ञान उत्पन्न होता है' ऐसा कहने पर भी यह जल और नदी क्या वस्तु है ?

रुधिर या जल आदि किसी भी वाह्य पदार्थकी बिलकुल सत्ता ही नहीं रहने से 'रुधिराकार' या 'जलाकार' ऐसे वाक्यों का प्रयोग ही नहीं किया जा सकता है और देश आदि का नियम भी नहीं रह सकता है यानी प्रेत गण कहीं पर विष्टा-परिपूर्ण नदीको देखता है,

कहीं जल-पूर्ण, इसका कुछ नियामक नहीं है। सब स्थानोंमे विष्ठासे परिपूर्ण नदी का दर्शन यानी तदाकार विज्ञान ही उत्पन्न हो सकता है।

विज्ञानवादी के मतमें क्रिया और कारक का कुछ भी भेद नहीं माना जाता है 'भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते"— यानी जो उत्पत्ति है वही क्रिया है और वही कारक भी है" 'योग दर्शन' के व्यास भाष्यमें भी विज्ञानवाद के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है—"क्षणिक वादिनो यद् भवनं सैव क्रिया तदेव च कारकमित्यभ्युपगमः" (योगदर्शन भाष्य ४ । २० ।) विज्ञानवादमें विज्ञान का प्रकाशक कोई अन्य पदार्थ नहीं है, क्योंकि प्रकाश्य और प्रकाशक तथा प्रकाश क्रिया वहां एक ही पदार्थ है अतः विज्ञानसे भिन्न बुद्धि-बोध्य या अनुभाव्य अन्य पदार्थ भी नहीं है।

ग्राह्य और ग्राहक की अर्थात् प्रकाश्य और प्रकाशक की पृथक् सत्ता नहीं रहने से वह विज्ञान या बुद्धि स्वयं प्रकाशित होती है अतः वह स्वप्रकाश है। बुद्धि अथवा विज्ञानका अपर अनुभव भी नहीं है जिससे वह प्रकाशित हो, इसी सिद्धान्तके ऊपर विज्ञानवाद प्रतिष्ठित है, यह स्वीकार नहीं करनेसे विज्ञानवादकी स्थापना ही नहीं की जा

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः ।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये ॥

यानी बुद्धि या विज्ञान के द्वारा किसी भी अन्य पदार्थ का प्रकाश (भान) नहीं होता है और उस बुद्धि या विज्ञान का दूसरा अनुभव (भान) भी नहीं होता है यानी उसका भी किसी इन्द्रिय आदिके द्वारा ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि वास्तवमें न तो कोई प्रकाश्य है और न कोई प्रकाशक है। वह विज्ञान स्वयं ही प्रकाशित होता है क्योंकि वह प्रकाश स्वरूप है।

'सहोपलम्भ' नियम से नील और उसका ज्ञान इन दोनों का अभेद ही जाना जाता है, यानी विषय और उसका ज्ञान इन दोनों मे भेद नहीं है यही निश्चित होता है और जो भेद प्रतीत होता है वह भ्रान्ति है। जैसे एक चन्द्रमामे कभी दो चन्द्रमा का ज्ञान होने• लगता है" इसका खण्डन 'उद्योतकर' ने विशदरूप से इस प्रकार किया है—"नहि कर्म च क्रिया च एकं भवतीति— यानी कर्म और क्रिया एक पदार्थ नहीं हो सकते हैं अतः ग्रहणक्रिया और उसका कर्म कारक ग्राह्य (विषय) एक पदार्थ नहीं हो सकते।

'सहोपलम्भनियमात्' इत्यादि कारिकासे यह कहा जाता है कि नील ज्ञानमे नील और तद्विषयक जो ज्ञान है, उन दोनोंमें भेद नहीं है। ज्ञानाकार विशेष ही नील है, इस प्रकार जहां कहीं भी जो कुछ ज्ञान के विषय हैं वे सब के सब ज्ञान के ही आकारविशेष हैं। ज्ञानसे पृथक् विषय की सत्ता नहीं है। ज्ञानके बिना विषय असत्

है, इस का हेतु सहोपलम्भनियम, है क्योंकि ज्ञानके साथ ही ज्ञेयकी उपलब्धि होती है, ज्ञान की उपलब्धि के विना ज्ञेय यानी विषयकी उपलब्धि नहीं होती है।

विज्ञानवाद में 'सहोपलम्भ' हेतु के आधार पर ज्ञान से अतिरिक्त ज्ञेय की सत्ता नहीं है यह माना जाता है– यानी ज्ञान और ज्ञेय का अभेद सिद्ध किया जाता है, किन्तु वह हेतु विरुद्ध है क्योंकि ज्ञान और ज्ञेयके भेद नहीं रहनेसे 'सह' शब्दका अर्थ जो साहित्य (साथ रहना) है, वह युक्ति-युक्त नहीं होता है। भिन्न भिन्न पदार्थका ही साहित्य हो सकता है अतः उक्त हेतु से तो ज्ञान और ज्ञेय के भेद ही कहा जाता है, इसलिये वह विरुद्ध हेतु कहा जाता है किन्तु 'तत्त्व संग्रह' में शान्तिरक्षितने 'सह' शब्द का प्रयोग नहीं कर के जिस भावमें उक्त हेतु का प्रकाश किया है उस से यही ज्ञात होता है कि उनके मतमें नील और ज्ञान की उपलब्धि एक ही है। एक उपलब्धि ही "सहोपलम्भ" है। सर्वत्र ज्ञानकी उपलब्धि ही विषयकी उपलब्धि है। ज्ञान की उपलब्धि-भिन्न विषयकी पृथक् उपलब्धि नहीं होती है वही 'सहोपलम्भनियम' है।

इस नियम से ज्ञान और ज्ञेय का भेद नहीं है यही सिद्ध होता है किन्तु भ्रमसे जैसे कोई एक चन्द्रमाको दो चन्द्रमा देखते हैं यानी जिस प्रकार चन्द्रमा के भेद नहीं रहने पर भी भेद देखा जाता है, वैसे ही ज्ञान और ज्ञेय के भेद नहीं रहने पर भी भ्रमसे भेद देखा जाता है जैसा कहा है—

यत्संवेदनमेव स्यात् यस्य संवेदनं ध्रुवम्।
तस्मादव्यतिरिक्तं तत् ततोऽन्यन्न विभिद्यते ॥
यथा नीलधियः स्वात्मा द्वितीयो वा यथोडुपः।
नीलधीवेदनं चेदं नीलाकारस्य वेदनात् ॥
("तत्त्व संग्रह" पृष्ठ ५६७)

"नह्यत्रैकेनैवोपलम्भ एकोपलम्भ इत्ययमर्थोऽभिप्रेतः। किं तर्हि, ज्ञानज्ञेययोः परस्परमेक एवोपलम्भो न पृथगिति, य एव हि ज्ञानोपलम्भः स एव ज्ञेयस्य, य एव ज्ञेयस्य स एव ज्ञानस्येति यावत्।"
(कमलशीलके तत्त्वसंग्रहपंजिका में ५६८ पृष्ठ में कथित है।)

सारांश यह कि यहां "सह" शब्द का अर्थ एक वा अभिन्न है। साहित्य नहीं है, किन्तु यह भी समीचीन नहीं क्योंकि ज्ञान और विषय की जो एक उपलब्धि कही जाती है वह असिद्ध है। आखिर वह संदिग्धासिद्ध हेतु हो जाता है क्योंकि वह उभय पक्ष की संमत हेतु नहीं है, इस लिये उसके द्वारा ज्ञान और ज्ञेय के अभेदका निश्चय नहीं किया जा सकता अतः उक्त हेतु से अभेद सिद्ध नहीं हो सकता है।

इस प्रकार विज्ञानवाद में कुछ भी समीचीन युक्ति नहीं रहने के कारण विज्ञानवाद कथमपि मान्य नहीं है।

विज्ञानवादका खण्डन समाप्त

शून्य वाद

सर्वशून्यतावादी या सर्वासत्त्ववादी बौद्ध सम्प्रदाय ही बुद्धदेव का अभिलषित था यही बौद्धों के अधिकतर ग्रन्थों से निश्चित होता है ।

बुद्धदेवके शिष्यों की योग्यता और विभिन्न रुचिके अनुसार भिन्न भिन्न रूप से 'देशना' अर्थात् उपदेश करने पर भी उनका अभिलषित अद्वितीय शून्य ही तत्त्व है । यही उपदेश अभिन्न (एक) अर्थात् अन्तिम उपदेश है अतः वही उनका अपना सिद्धान्त है । जैसे कहा है—

देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगा ।
भिन्नाऽपि देशनाऽभिन्ना शून्यताद्वयलक्षणा ॥

किन्तु शून्यवादको अति हेय समझ कर शङ्कराचार्यने खण्डन करना भी छोड दिया है और वात्स्यायनने भी छोड दिया है । शून्यवादका मत इस प्रकार है—

पूर्वोक्त पद्धति से विज्ञान और बाह्य अर्थ स्थूल-सूक्ष्म कुछ भी नहीं होने के कारण असंभव हो जाता है विषय और ज्ञान सत्रूप से नहीं कहे जा सकते और असत्रूपसे भी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि असत् पदार्थका भान ही नहीं होता है ।

जैसे शश-शृङ्गका भान नहीं होता है । उभयरूपसे भी अर्थ और ज्ञानका निर्वचन नहीं हो सकता है यानी सत्-असत् स्वरूप भी अर्थ-ज्ञान

नहीं कहे जा सकते क्योंकि परस्परविरोध रहनेसे एक पदार्थ सत् और असत् दोनों नहीं हो सकता है।

अनुभय रूपसे यानी सत् भी नहीं, असत् भी नहीं, इस रूपसेभी ज्ञान और अर्थ नहीं कहे जा सकते क्योंकि एक के निषेध होने से ही उसके विरोधी दूसरे की सत्ता अनिवार्य हो जाती है।

इस प्रकार अन्वेषण करने से यानी सत् रूपसे, असत् रूपसे, सत्-असत् रूपसे और अनुभय रूपसे, भी जब किसी भी ज्ञान या किसी भी अर्थका अस्तित्व कायम नहीं होता है तब 'विचारासहत्व' यानी शून्यवाद ही समस्त पदार्थोंका तत्त्व है यही निश्चित होता है। जैसा कहा गया है—

> इदं वस्तुबलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः।
> यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विविच्यन्ते तथा तथा॥

यानी यह वस्तु की सामर्थ्यसे सिद्ध है, जिसे विद्वान् लोग कहते हैं। जैसे जैसे अर्थका चिन्तन करते हैं, वैसे वैसे अलग होते हैं यानी किसी भी पक्षमें व्यवस्थित नहीं होते हैं।

द्वारा स्थिर नहीं होते हैं" यह व्यवस्था सब प्रमाणों से विप्रतिषिद्ध है अर्थात् सब प्रमाणों से विरुद्ध होने से उक्त व्यवस्था ठीक नहीं है ।

यदि यह कहा जाय कि प्रमाणों की तात्त्विकता (पारमार्थिकता) विचारों के द्वारा हटायी जाती है किन्तु व्यावहारिकता नहीं हटायी जा सकती है अत भिन्न भिन्न विषय होने से सब प्रकार के प्रमाणो का प्रतिषेध नहीं होता है ।

प्रमाण तो अपने विषयों मे प्रवर्त्तमान (रहता हुआ) "यह तत्त्व है" इस प्रकार साबित कर देता है । अन्य से बाध होने से उस की अतात्त्विकता ज्ञात होती है ।

प्रमाणों का व्यावहारिक प्रामाण्य है, तात्त्विक नहीं है इस रूप से प्रमाणों की प्रवृत्ति नहीं होती है किन्तु उस विषय के विपरीत तत्त्व को दिखाते हुए बाधक के द्वारा उसका अतात्त्विकत्त्व दिखाया जाता है । जैसे-यह शुक्तिका है, रजत नहीं है । यह मरीचि (सूर्य-किरण) है, जल नहीं है । एक चन्द्र है, दो चन्द्र नहीं हैं इत्यादि ।

इस प्रकार यहा भी समस्त प्रमाणों के द्वारा विपरीत तत्त्वान्तर यानी अन्य विपरीत तत्त्व की व्यवस्था हो जाने से उन प्रमाणो का अतात्त्विकत्त्व (अयथार्थत्व) बाधक प्रमाण से दिखाया जाता है किन्तु जिसकी व्यवस्था ही नहीं की गयी है ऐसे अन्य तत्त्व से प्रमाण का बाध नहीं हो सकता है।

"विचारासहत्व वस्तु के तत्त्वकी व्यवस्था करता हुआ बाधक होता है अत. प्रमाणों का अतात्त्विकत्व ज्ञात होता है" यह भी

नहीं, क्योंकि यह 'विचारासहत्व' वस्तु क्या है जो तत्त्व माना जाता है, वह क्या वस्तु है ? परमार्थत सत् आदि मे से ही कोई है और वह विचारासह है ? अथवा विचारासह होने के कारण निस्तत्त्व यानी तत्त्व ही नहीं है ?

प्रथम विकल्प तो असभव है क्योंकि 'विचारासहत्व यदि कोई वस्तु भूत धर्म है तो वह धर्म परमार्थत सत, असत्, सदसत् अथवा अनुभय है तब सत्त्व, असत्त्व, सदसत्त्व या अनुभयात्मकत्व इनमेसे एक पक्ष के भी परिग्रह करने से यानी इनमें से कोई एक धम 'विचारासहत्त्व' होने से वस्तु हो जाता है और तब 'विचारासह'• ह ऐसा कहना 'वदतो व्याघात' हो जाता है।

यदि 'विचारासह' है यानी विचार म नहीं आता है तो सत् आदिमें से एक भी नहीं हो सकता है । यदि सत आदि मे से• कोई है तब कैसे विचारासह कहा जा सकता है ?

"निस्तत्त्वता ही भाव पदार्थों का तत्त्व है" यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि तब तो तत्त्वाभाव यानी तत्त्वका अभाव हो जाता है और वह भी विचारासह कहा जाता है ।

आरोपित जो है उसका निषेध होता है और आरोप तत्त्वाधिष्ठान दृष्ट होता है यानी आरोपका अधिष्ठान तत्त्व ही देखा जाता है। जब शून्यवादमें कुछ तत्त्व ही नहीं है, तब किसका किसम आरोप किया जा सकता है ।

इस प्रकार गवेषणा करनेसे यह निश्चत होता है कि निष्प्रपञ्च,

परमार्थ सत् जो ब्रह्म है वही अनिर्वचनीय प्रपञ्च रूप से आरोपित होता है।

अतात्त्विकरूप से उस आरोपित की व्यवस्था रहती है यानी वह आरोप अतात्त्विक है क्योंकि आरोपका बाध हो जाता है। बाधक रहने से भी प्रमाणों का व्यावहारिकत्व रहता है।

विशेष क्या कहा जाय, जैसे जैसे बौद्धों के ग्रन्थ और उसके अर्थ का विवेचन करते है, वैसे वैसे बालू के कूपकी तरह वह गिरता ही जाता है। उसके ग्रन्थ मे "पश्यनातिष्ठनामिद्धपोषध" आदि अशुद्ध शब्द का भी प्रयोग पाया जाता है। उसके अर्थ में भी असबद्ध प्रलाप है, जैसे–बौद्ध संप्रदायने नैरात्म्यवाद को मानते हुए भी आलय विज्ञानको समस्त वासनाका आधार मानने के हेतु आत्मा को अविनाशी माना है।

इसी प्रकार क्षणिकवादको मानते हुए भी "उत्पादाद्वा" इत्यादि बौद्धोंके सूत्रमें कारणस्वरूप धर्मकी और कार्यस्वरूप धर्मकी स्थिरताको स्वीकृत किया है अतः "सर्वं क्षणिकम्" इस सिद्धान्त का विरोध हो जाता है।

शून्यवाद मे सर्वत्र असत् के ऊपर ही असत् का आरोप होता है यानी सर्वत्र सर्वांशमे असत्का ही भ्रम होता है यही माना जाता है अतः शून्यवादी 'असत्ख्यातिवादी' कहे जाते हैं। उनके मतमें आकाश-पुष्प आदि अलीक पदार्थों का भी प्रत्यक्षात्मक भ्रम स्वीकार किया गया है।

'मध्वाचार्य' के मतमें भी जहां शुक्ति प्रभृतिमें रजत आदिका भ्रम होता है वहां रजत आदि असत् पदार्थ ही माना गया है किन्तु उनका अधिष्ठान शुक्ति आदि सत् पदार्थ है याना भ्रम-स्थलमें सत् पदार्थ में असत् पदार्थ का आरोप होता है अतः 'मध्वाचार्य' सद्उपरक्त असतख्यातिवादी कहे जाते हैं। सर्वशून्यतावादी की तरह असतख्यातिवादी नहीं हैं।

नास्तिक-शिरोमणि चार्वाकके मतमें सारे पदार्थ असत् नहीं हैं किन्तु ईश्वर प्रभृति जो अदृष्ट पदार्थ हैं, वे सब असत् हैं अतः ऐसे स्थलों में वे भी असत् ख्यातिवादी हैं।

आस्तिक संप्रदाय में भी कुछ लोगों ने असत् विषयक शाब्द-ज्ञान स्वीकार किया है। योग-दर्शन में "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" (१।९) इस सूत्रके द्वारा असत् पदार्थ का शाब्द ज्ञान स्वीकार किया गया है।

गगन-कुसुम आदि अलीक पदार्थों का शाब्द ज्ञान होता है इसे 'कुमारिलभट्ट' ने भी स्वीकार किया है। "अत्यन्तासत्यपिज्ञान-मर्थे शब्दः करोति" (श्लोकवार्तिक २।६) किन्तु नैयायिक-संप्रदायमें अलीक विषयक शाब्द ज्ञान नहीं माना गया है। नैयायिकों ने कहीं किसी रूपमें भी असत् ख्यातिका स्वीकार नहीं किया है यही प्राचीन नैयायिक-सिद्धान्त है। "व्याप्ति पञ्चक" की दीधिति टीकाके अन्त में नव्य नैयायिक 'जगदीश तर्कालङ्कार' ने लिखा है— "सदु-परागेणाप्यसतः संसर्गमर्यादया भानस्यानङ्गीकारात्" किन्तु सबके

अन्तमें उन्होंने ही "पीतः शङ्खो नास्ति" इस वाक्य-जन्य शाब्द बोधके सम्बन्ध में असत्ख्यातिका स्वीकार किया है या नहीं, यह नव्य नैयायिक गण विचार करें ।

"नासतः ख्यानं नृश्रृङ्गवत्" (सांख्य सूत्र ५।५५) उक्त सूत्रके द्वारा सांख्य-सिद्धान्त मे असत् ख्यातिका स्वीकार नहीं किया गया है ।

'सव दर्शन संग्रह' मे माधवाचार्यने उक्त शून्यवाद की व्याख्या करने के अवसर मे सत्, असत्, और सत्-असत् उभय तथा अनुभय इस चतुष्कोटि से रहित शून्यको ही 'तत्त्व, कहा है यानी सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है, सत्-असत् यह उभय प्रकार भी नहीं और सत्-असत् इस उभय प्रकारसे भिन्न भी कोई प्रकार नहीं है— "अतस्तत्त्वंसदसदुभयानुभयात्मकचतुष्कोटिविनिर्मुक्तं शून्यमेव ।"

(सर्व दर्शन संग्रहे-बौद्ध दर्शन)

'समाधिराज सूत्र' में भी शून्यवादकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है— 'अस्तीति नास्तीति उभेऽपि मिथ्या' यानी पदार्थ का अस्तित्व और नास्तित्व दोनों ही मिथ्या है ।

"आत्मानोऽस्तित्वनास्तित्वे न कथंचिदत्र सिध्यतः ।" (माध्यमिक कारिका-तृतीय खण्ड ५५) अर्थात् आत्माका अस्तित्व या नास्तित्त्व कुछ भी सिद्ध नहीं होता है इस लिये इस मतमें नास्तिता भी शून्यता नहीं है । इस प्रकार गवेषणा करनेसे समस्त पदार्थ असत् रूपसे निर्धारित नहीं होनेके कारण शून्यवादी माध्यमिक सम्प्रदायको

संवृतिः परमार्थश्च सत्यद्वयमिदं स्मृतम् ।
बुद्धेरगोचरस्तत्त्वं बुद्धिः संवृतिरुच्यते ॥
(शान्तिदेवकृत बोधिचर्यावतार)

भगवान् शंकराचार्य ने जगत् के भ्रम होने का मूल अधिष्ठान श्रुति-सिद्ध सनातन ब्रह्म को मान कर अद्वैत-वाद की सुप्रतिष्ठा दिखा दी है, उन्होंने बौद्ध सम्प्रदाय के समस्त मूल सिद्धान्तका विशदरूपसे खण्डन कर दिया है ।

बौद्धों ने समस्त जगत् को विज्ञानस्वरूप कह कर उसे अनित्य कहा है किन्तु भगवान् शंकराचार्य ने ब्रह्मको विज्ञानस्वरूप कह कर उसे नित्य और चिदानन्द स्वरूप कहा है ।

श्रुतियों और युक्तियों से बहुत प्रचुर रूप से इसका समर्थन किया है अतः शांकरमत ही सर्वोत्कृष्ट और उपादेय है यही निश्चित होता है । किसी कुतर्क करने वाले पण्डितम्मन्य का यह कहना कि भगवान् शंकराचार्यने बौद्धके विज्ञान वादकी ही अन्य रूपसे व्याख्या की है सर्वथा निर्मूल और दर्शनशास्त्र की अनभिज्ञता का परिचायक है ।

"माध्यमिक संप्रदाय का शून्य तत्त्व ही शंकर भगवान् का ब्रह्म तत्त्व है" यह कहना भी सर्वथा युक्ति-शून्य है क्योंकि शून्य-वाद में "चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं शून्यमित्यभिधीयते" ऐसा कहा गया है और शंकर भगवान् ने ब्रह्मको सत्रूप से निर्द्धारित किया है और ब्रह्म को क्षणिक नहीं माना है ।

ब्रह्म तो सदैव सत्-स्वरूपसे विद्यमान है। वह तो माध्यमिक की मिथ्या बुद्धि के अगोचर, सनातन, सत्य है।

'नागार्जुन' के समय से ही शून्यवादकी उक्त व्याख्या यानी सत्-असत् आदि चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त ही शून्य है, यह मान्य है किन्तु बहुत प्राचीन काल से यही जाना जाता है कि समस्त पदार्थोंका नास्तित्त्व ही शून्यवाद या शून्यतावाद नामसे प्रख्यात है यही न्याय भाष्यकार 'वात्स्यायन' के भाष्य की व्याख्या से भी ज्ञात होता है।

भाष्यकार ने समस्त पदार्थके नास्तित्त्व वादी नास्तिक विशेष को ही 'आनुपलम्भिक' संज्ञा रख कर उस के मतका खण्डन किया है किन्तु 'नागार्जुन'के अभिप्रेत पूर्वोक्त शून्यवादके किसी प्रकार का कथन वात्स्यायन भाष्यमें नहीं है जो भी हो, किन्तु 'नागार्जुन' प्रभृति शून्यवादीको असत् ख्यातिवादी कहना ठीक नहीं जँचता है।

बौद्ध सिद्धान्तमें शून्यवादका समर्थक "माध्यमिक कारिका" और विज्ञानवादका समर्थक 'लङ्कावतारसूत्र' है। शून्यवाद को तरह विज्ञानवादी बौद्धसम्प्रदायने भी स्वप्न, माया, गन्धर्व-नगर और मरीचिका आदि दृष्टान्तों का आश्रय ले कर अपने मतका समर्थन किया है। जैसे—

यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा।
तथोत्पादस्तथा स्थानं तथा भङ्ग उदाहृतः॥

(माध्यमिक कारिका ५७)

शून्यवादमतमें "सर्व नास्ति" सर्व अभाववाद है और वह असत् ख्याति वादी कहा जाता है किन्तु विज्ञान वादके मतमे समस्त पदार्थ निरात्मक अथवा असत् नहीं है और वह असत् ख्यातिवादी भी नहीं है किन्तु आत्मख्याति वादी है।

क्षणिकवादके खण्डनका रहस्य

क्षणिकवाद मे पहला दोष यह होता है कि बीज आदि समस्त पदार्थ के क्षणिक होने से प्रत्यभिज्ञा नहो हो सकती है। जैसे किसी बीज को पहले देख कर पाछे पुनः देखने से 'वही यह बीज है' इस रूप का जो प्रत्यक्ष होता है वह 'प्रत्यभिज्ञा' नामका प्रत्यक्ष विशेष है, उसके द्वारा यह जाना जाता है कि पूर्व दृष्ट वह बीज ही इस परजात प्रत्यक्ष का विषय होता है। वह पूर्व-अपर कालस्थायी एक ही बीज है।

प्रति क्षण मे बीज का विनाश होता है यह मानने से पूर्व दृष्ट वह बीज तो बहुत पहले विनष्ट हो जाता है तब "वही यह बीज है" इस रूप का प्रत्यक्ष नहो हो सकता है, किन्तु यह प्रत्यक्ष सब को होता है। बौद्ध सम्प्रदाय मे भी उक्त प्रकार का प्रत्यक्ष सब को होता है अतः बीज को क्षणिक मानने का जो सिद्धान्त है वह उक्त प्रकार के प्रत्यक्ष से बाधित हो जाने से अनुमान-सिद्ध नहीं हो सकता है।

प्रश्न— प्रति क्षण में बीज आदि के विनाश होने पर भी उसी क्षण मे उसके सजातीय अपर बीज आदि की उत्पत्ति होती है अतः

पूर्व दृष्ट बीज आदि नहीं रहने पर भी उसके सजातीय बीज आदि विषय मे ही प्रत्यभिज्ञा हो सकती है। जैसे पूर्व दृष्ट प्रदीप-शिखा के विनष्ट होने पर भी प्रदीप की अन्य शिखा देखने पर "वही यह दीप-शिखा है" इस प्रकार सजातीय दीप-शिखा विषय में प्रत्यभिज्ञा हो जाती है।

इसी प्रकार अनेक जगह सजातीय विषय में प्रत्यभिज्ञा उत्पन्न होती है यह सब को ही मानना पड़ता है।

समाधान—अनेक जगह सजातीय विषय मे प्रायः प्रत्यभिज्ञा उत्पन्न होती है इस मे सन्देह नहीं है, किन्तु वस्तु मात्र क्षणिक होने से सर्वत्र सजातीय विषयोंमें ही प्रत्यभिज्ञा होने लगेगी। मुख्य विषय में कहीं भी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती है।

पूर्व-दृष्ट वस्तु के स्मरण के विना उसकी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती है, और एक आत्मा के दृष्ट वस्तु का स्मरण या प्रत्यभिज्ञान दूसरी आत्मा नहीं कर सकती है।

जब विज्ञान क्षण क्षण में बदलता है तो कर्म फल का नियम और स्मृति का नियम कैसे हो सकता है? ऐसी व्यवस्था है कि एक व्यक्ति के किये कर्मका फल दूसरों को नहीं मिलता है और एक व्यक्ति के द्वारा अनुभूत पदार्थ की दूसरोंको स्मृति नहीं होती है। उक्त व्यवस्था का पालन असम्भव हो जाता है क्योंकि विज्ञान को ही आत्मा कहते हैं। जिस विज्ञान (आत्मा) ने कुछ कर्म किया या कुछ अनुभव किया उसका तो उसी क्षणमे विनाश

हो जाता है तब भविष्य में मिलने वाला जो कर्मफल है वह तथा अनुभव की स्मृति इस आत्मा को कैसे हो सकती है ?

वस्तु मात्र के क्षणिकत्व-सिद्धान्तमें संस्कार और तज्जन्य स्मरण के कर्त्ता भी जब क्षणिक है तब पूर्व-द्रष्टा आत्मा और उसका पूर्व उत्पन्न यह संस्कार द्वितीय क्षण में ही विनष्ट हो जाता है, फिर किसी प्रकार भी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती है।

पहले किसी वस्तु को देख कर उस विषयका जिस आत्माने संस्कार लाभ किया था, उस आत्मा के और उसके उस संस्कार के नहीं रहने पर पुनः उस विषय का अर्थात् उसके सजातीय विषय का स्मरण कैसे हो सकता है ?

क्षणिकवाद में एक महान् दोष यह है कि एक ही क्षणमें आत्माका जन्म उसका वस्तु दर्शन (पदार्थज्ञान) और उस विषय के संस्कार की उत्पत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि कार्य और कारण एक ही समय में उत्पन्न नहीं हो सकते हैं अतः उक्त सिद्धान्त में कार्य-कारण भाव ही नहीं हो सकता है।

प्रश्न— पूर्व पूर्व विज्ञान उत्तरोत्तर विज्ञान में अपनी वासनाएँ प्रदान कर के विनष्ट होता है और हर एक विज्ञान अपने ही सन्तान (धारा) में यानी सजातीय विज्ञान के सिलसिले में वासना प्रदान करता है, अन्य में नहीं इस लिये अव्यवस्था नहीं होती है। जैसा कहा गया है—

यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्म-वासना ।
फलं तत्रैव सन्धत्त कार्पासे रक्तता यथा ॥

अर्थ—जिस विज्ञान के सन्तान (प्रवाह) में कर्म-वासना डाली गयी है, वहां ही फल को उत्पन्न करती है, जैसे कपास म लाली, अर्थात् जिस कपासका बीज लाख से लाल कर दिया जाता है वही कपास लाल होता है ...

बीज आदि व्यक्ति का प्रति क्षण विनाश होने पर भी उनका जो 'सन्तान' (प्रवाह) है वह स्थायी रहता है ।

सन्तान

प्रतिक्षण में उत्पन्न होने वाला जो एक एक पदार्थ है, उसके प्रवाह को 'सन्तान' कहते हैं ।

इस प्रकार सन्तानी के विनाश होने पर भी उसके सन्तानका विनाश नहीं होता है । वस्तुतः उसका सन्तान ही आत्मा है । वह प्रत्यभिज्ञा-काल में रहता ही है और उस समय उसका संस्कार-सन्तान भी रहता ही है, क्योंकि सन्तानी के विनाश होने पर भी सन्तान का अस्तित्व रहता ही है ।

समाधान—बौद्धोंका जो यह 'सन्तान, कहा जाता है, प्रथम तो उसकी व्याख्या करना ही असंभव है, क्योंकि उक्त सन्तान के अन्तर्गत जो प्रत्येक सन्तानी है उससे वास्तव में वह भिन्न पदार्थ है ? अथवा अभिन्न (एक) पदार्थ है ? यदि अभिन्न पदार्थ है, तब तो प्रत्येक सन्तानी की तरह इस सन्तानके भी प्रति क्षण विनाश

होनेसे पूर्व-प्रदर्शित जो स्मरण की अनुपपत्तिरूप दोप है, वह अनिवार्य हो जाता है ।

यदि सन्तानी से अतिरिक्त (भिन्न) सन्तान पदार्थ है तब उसका स्वरूप क्या है ? यह कहना होगा ।

यदि वह पूर्व-अपर काल-स्थायी एक ही पदार्थ है तब तो क्षणिक नही हो सकता है इस लिये वस्तुमात्रका जो बौद्धों का क्षणिकत्व-सिद्धान्त है वह व्याहत हो जाता है, किन्तु स्मरण आदि व्यवस्था होनेके लिये पूर्व-अपरकालस्थायी किसी सन्तान' को आत्मा कह कर और उसके नित्यत्व स्वीकार करनेसे तो वेद-सिद्ध नित्य जो आत्मा है उसका ही नामान्तर हो जाता है ।

साराश यह कि वस्तु मात्रके क्षणिकत्व-सिद्धान्त मे किसी प्रकार से भी पूर्वोक्त सव-सम्मत प्रत्यभिज्ञा और स्मरण की उपपत्ति (सिद्धि) नहीं हो सकती है।

बौद्ध-सम्प्रदाय म समुदाय और समुदायी का भद मान कर पूर्वोक्त सन्तानीसे सन्तानका भद माना गया है । जिस प्रकार कापासके बीजको लाक्षा (लाख) के रससे लाल करक खेतमें बोनसे उसके अकुर आदिम प्रवश-कमसे उससे उत्पन्न वृक्षसे उत्पन्न कपास (रूई) भी रक्त वर्ण (लाल) ही होता है यह प्रत्यक्ष है उसी प्रकार विज्ञान सन्तानस्वरूप आत्मा मे भी पूर्व पूर्व सन्तानी के सस्कारका सक्रमण (प्रवेश) कहा जाता है ।

माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शनसग्रह' के 'आर्हत दर्शन' के

आरम्भ मे बौद्धों के उक्त सिद्धान्त का 'यस्मिन्नेव हि सन्ताने आहिता कर्मवासना' इत्यादि बौद्ध-कारिका के द्वारा उल्लेख करके जैनमतानुसार उसका समीचीन खण्डन किया है।

जैन-ग्रन्थ "प्रमाणनय-तत्त्वालोकालङ्कार" के ५५ व ! सूत्र की टीकामे जैन-दार्शनिक रत्नप्रभाचार्य ने भी उक्त कारिका को उद्धृत करके विस्तृत विचार-पूर्वक उक्त प्रकार के समाधानका खण्डन किया है।

श्रीमद्वाचस्पति मिश्र प्रभृति ने भी पूर्वोक्त दृष्टान्त का उल्लेख करके प्रकृत स्थल मे उसकी असगति दिखलायी है। वस्तुत कापास बीजको लाक्षा-रससे सिक्त करनेसे उसके द्वारा मूल परमाणुमे रक्तरूप की उत्पत्ति होनसे अकुर आदि क्रमसे रक्त रूपकी उत्पत्ति स्वीकार करके उस वृक्षसे उत्पन्न कापासमे भी रक्त रूपकी उत्पत्तिका समर्थन किया जा सकता है किन्तु परमाणु-पुञ्जसे अतिरिक्त अवयवी को जो मानते ही नहीं और परमाणु-पुञ्जको भी क्षणिक ही मानते हैं, उनके सिद्धान्तमे उक्त प्रकार कापास मे रक्त रूपकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

हो जाता है। बौद्ध दार्शनिकगणने वस्तु मात्र के क्षणिकत्व-साधन करने मे जो अनुमान दिखाया है वह प्रमाणात्मक नही होता है, क्योंकि बीज आदि पदार्थ स्थायी होनेसे ही "अर्थ-क्रियाकारी" हो सकता है।

सहकारी कारणके साथ मिल कर ही बीज आदि भी अंकुर आदि कार्योंका उत्पादन करता है, अतः बीज आदि क्रमकारी ही होता है। प्रत्येक कार्य अनेक कारणों से उत्पन्न होता है, किसी एक कारण से कोई भी उत्पन्न नहीं होता है यही सर्वत्र देखा जाता है। कार्य उत्पादकत्व ही कारणकी शक्ति है। प्रत्येक कारण मे उक्त शक्तिके रहनेपर भी कारण-समुदाय के समेलन नहीं होने पर उससे कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता है।

जिस प्रकार एक एक व्यक्ति स्वतन्त्र भावसे शिविका (डोली) का वहन नहीं कर सकता है किन्तु बहुतसे लोग मिल करके ही शिविका का वहन करते हैं तो भी प्रत्येक व्यक्ति 'शिविका-वाहक' कहा जाता है, इसी प्रकार मृत्तिका आदि सहकारी कारण-समुदायके साथ मिल कर के ही बीज भी अंकुर का उत्पादन करता है। वह सहकारी कारण-समुदाय अंकुर का जनक (उत्पादक) होता है, इसी लिये गृहमे रक्खा हुआ बीज अंकुरका उत्पादन नहीं कर सकता है।

उक्त सहकारीकारण-समुदाय तो बीजमें किसी प्रकारका शक्ति-विशेष प्रदान नहीं करता है, किन्तु उसके रहने पर ही अंकुर उत्पन्न होता है और उसके नहीं रहने पर अंकुर उत्पन्न नहीं

होता है इस प्रकार के अन्वय-व्यतिरेक के निश्चय होने से वे सहकारी कारण भी अंकुरके कारण हैं यह निश्चित होता है ।

सारांश यह कि सहकारी कारण अवश्य स्वीकार करने योग्य है। उस सहकारी को स्वीकार नहीं कर के एक मात्र कारण के स्वीकार करने से बौद्धों का कल्पित जाति विशेष (कुर्वद्रूपत्व) का अवलम्बन कर के तद्रूप से मृत्तिका आदि किसी एक पदार्थ को भी अंकुर का कारण कहा जा सकता है। उक्त प्रकार से केवल बीज को ही अंकुरका कारण कहना असंगत है।

समान रूपसे मृत्तिका आदि समस्त को ही अंकुरका कारण माननेसे गृहमें रक्खे हुए बीजसे कभी अंकुर-उत्पत्तिकी आशा भी नहीं की जा सकती है, अतः बीजकी क्षणिकत्व सिद्धि की आशा नहीं है।

पूर्वोक्त बौद्ध मत खण्डन करते हुए "न्याय वार्त्तिक"में 'उद्द्योतकर' ने अन्य प्रकार से विस्तृत विचार किया है और "सर्वं क्षणिकम्" इस प्रकार की बौद्ध सम्प्रदायकी प्रतिज्ञा, उसके हेतु और उदाहरणका सुचारुरूपसे खण्डन किया है। उक्त प्रतिज्ञाके खण्डन करते हुए उन्होंने यह भी कहा है कि उक्त प्रतिज्ञाके 'क्षणिक' शब्दका कुछ भी अर्थ नहीं हो सकता है।

यदि क्षणिक शब्द से आशुतरविनाशी कहा जाय तो बौद्ध मतमें विलम्ब-विनाशी किसी भी पदार्थ के नहीं रहने से आशुतरत्व विशेषण व्यर्थ होता है और वह सिद्धान्तसे विरुद्ध हो जाता है।

'उत्पन्न हो कर ही विनष्ट होता है' यही यदि क्षणिक शब्दका अर्थ

कहा जाय तो उत्पत्ति की तरह विनाशका भी कुछ कारण कहना होगा। एक ही क्षणमे किसी पदार्थकी उत्पत्ति और विनाशका कारण कुछ भी नहीं हो सकता है।

यदि क्षण शब्द का "क्षय" अर्थ किया जाय, तब तो 'क्षण क्षण में विनाश जिसका है' इस अर्थ मे (अस्त्यर्थ) 'क्षण' शब्द के उत्तर तद्धित प्रत्यय होने से क्षणिक शब्द बनता है, किन्तु जिस काल में क्षण है, उसी कालमे क्षय होने वाले वस्तुके नहीं रहनेसे उक्त प्रकारका प्रयोग नहीं होगा क्योंकि विभिन्न कालीन दो पदार्थों के संबन्ध में अस्त्यर्थ तद्धित प्रत्यय नहीं होता है।

यदि यह कहा जाय कि सर्वान्त्य' काल ही "क्षण" है यानी जिस के बीच मे अन्य काल-भेद का संभव नहीं है, वही "क्षण" शब्द का अर्थ है और क्षण-काल स्थायी पदार्थ ही 'क्षणिक' शब्द का अर्थ है, इस के समाधान करते हुए उद्द्योतकर ने कहा है कि बौद्ध-सिद्धान्त में काल को संज्ञा-भेद मात्र कहा गया है। वह कोई वास्तव पदार्थ नहीं माना गया है, अतः सर्वान्त्य काल भी जब संज्ञा मात्र है, वह वास्तव कोई पदार्थ नहीं है, तब वह कोई वास्तव विशेषण नहीं हो सकता है। वस्तु मात्र का क्षणिकत्व ही बौद्ध मत में वास्तव पदार्थ है, अतः उसका विशेषण सर्वान्त्य काल रूप क्षण नहीं हो सकता क्योंकि वह अवस्तु है।

बौद्ध-सम्प्रदाय के क्षणिकत्व साधन मे कोई दृष्टान्त भी नहीं है,

क्योंकि सर्व-संमत कोई क्षणिक पदार्थ नहीं है। जिस को दृष्टान्त कर के वस्तु मात्र के क्षणिकत्व का साधन किया जा सकता।

बौद्ध-मत मे अर्थ क्रियाकारित्वरूप ही सत्त्व (सत्पन) माना गया है यह भी असंगत है, क्योंकि मिथ्या (असत्य) सप-दंशन (सर्प का काटना) भी लोगों के लिये मरण-प्रद होता है, उसमें भी अर्थ क्रिया रहने से उसका भी सत्त्व मान्य हो जाता है, किन्तु जो पदार्थ मिथ्या वा अलीक है, उस को 'सत्' कह कर उसका तत्त्व सत्त्व नहीं माना जा सकता है 'अतः' बौद्ध सम्प्रदाय में अर्थ क्रियाकारित्वरूप ही सत्त्व है यह मान कर जो वस्तुमात्रका क्षणिकत्व साधन किया जाता है वह भी निर्मूल है।

यहां यह भी विचारणीय है कि उद्योतकर प्रभृति के क्षणिक पदार्थ के सर्वथा अस्वीकार करने पर भी क्षणिकत्व के विचार करने के लिये जब "शब्दादिः क्षणिको न वा" इत्यादि विप्रतिपत्ति वाक्यकी आवश्यकता होती है और 'बौद्धाधिकार' के टीकाकार भगीरथ ठाकुर, शंकर मिश्र, रघुनाथ शिरोमणि और मथुरानाथ वागीशने भी क्षणिकत्वके विषयमे इसी प्रकारके नानाविध विप्रतिपत्ति वाक्योंका प्रदर्शन किया है, तब उभय पक्ष-सम्मत क्षणिक पदार्थ मानना ही पड़ेगा किन्तु बौद्ध सम्प्रदायके क्षणिकत्वके अनुमानमें कोई दृष्टान्त ही नहीं है।

उदयनाचार्य ने "किरणावली" और "बौद्धाधिकार" ग्रन्थ में अत्यन्त विस्तृत और उपादेय विचार के द्वारा बौद्ध-संमत

क्षणभङ्ग वाद का समीचीन खण्डन किया है इसी प्रकार, 'शारीरिक भाष्य' 'भामती' 'न्यायमञ्जरी 'शास्त्रदीपिका' नाना ग्रन्थोंमें भी विस्तृत विचार-पूर्वक इस मत का खण्डन किया गया है।

"कालस्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनि' पुरुष इति चिन्त्यम्"

(श्वेताश्वतर १ । २ ।)

,'स्वभावमेके कवयो वदन्ति काल तथान्ये परिमुह्यमाना" (श्वेताश्वतर ६ । १) इस प्रकार उपनिषदुमे भी विचारके द्वारा अनेक तत्त्व-निर्णय होनेके कारण अनेक अवैदिक मतोका उल्लेख उपलब्ध होता है ।

दर्शनकार महर्षिगण ने पूर्वपक्षरूपसे उन सब मतों के समर्थन-पूर्वक उनका खण्डन करके वैदिक सिद्धान्त का निर्णय और समर्थन किया है यह निश्चित होता है ।

• 'आत्मतत्त्वविवेक के प्रारम्भ में 'उदयनाचार्य' नेभी नैरात्म्य वादके मूल सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए पहले क्षण-भङ्गवाद का ही उल्लेख किया है।

नैरात्म्य दर्शन ही मोक्षका कारण है अर्थात् विश्व क्षण-भगुर है, अथवा अलीक है। "अहम्" कोई पदार्थ नहीं है, इस प्रकारके दृढ निश्चय होने से किसी विषय में कामना उत्पन्न नहीं होती है अत' किसी कर्ममे प्रवृत्ति नहीं होनेसे धर्म और कर्मके द्वारा जीव बद्ध नहीं होता है, तब स्वत उसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है, इस प्रकार नैरात्म्य दर्शन (बौद्ध दर्शन) मोक्षका कारण होता है यह 'रघुनाथशिरोमणि' ने

'आत्मतत्त्वविवेक'की टीका मे कहा है किन्तु बुद्धदेव ने तो कर्मका उपदेश किया है। सर्वथा कर्मसे निवृत्ति वा आत्माका अलीकत्व भी उनका मत नहीं है। कर्मवाद तो बुद्धदेव का भी मान्य है।

बहुतसे विद्वानों का मत है कि वैराग्य का अवतारस्वरूप बुद्ध-देव ने मानव के वैराग्य सम्पादन के लिये और वैराग्य उत्पादन करके मानव को मोक्ष लाभ के अधिकारी बनाने के लिये ही पहले 'सर्व क्षणिक क्षणिकम्" इस प्रकार ध्यान करनेका उपदेश किया है।

ससार अनित्य है यानी विश्व क्षण-भगुर है इस प्रकारके उपदेश पा करके उक्त प्रकारके सस्कारको प्राप्त कर मानव वैराग्यके शान्तिमय मार्गमें आरुढ हो सकता है इसमे कुछ सशय नहीं, किन्तु बुद्धदेव न सिद्धान्तरूपसे जो आत्माका क्षणिकत्व माना है वह विद्वानोंके मतमें समीचीन नहीं है अत मान्य नहीं है।

क्षणिक शब्दार्थ विवेचन

सर्वापेक्षा जो अल्प काल है अर्थात् जिस काल के बीचमें और कालका भेद नहीं किया जा सकता है उस कालविशेष को ही 'क्षण' कह कर उसी क्षणकालमात्र स्थायी जो है, वही बौद्ध सम्प्रदाय म क्षणिक कहा गया है।

नैयायिकगण भी पूर्वोक्तरूप कालविशेषको ही क्षण कहते हैं किन्तु उस अर्थ में क्षण शब्द पारिभाषिक (स्व-कल्पित) है यही मालूम पड़ता है, क्योंकि कोषकार, अमरसिंह ने त्रिशत्कलात्मक कालको ही 'क्षण कहा है।

अष्टादश निमेषास्तु काष्ठास्त्रिंशत्तु ताः कला ।
तास्तुत्रिंशत् क्षणस्ते तु मुहूर्त्तो द्वादशास्त्रियाम ॥

('अमरकोष'कालवर्ग, श्लोक- १२)

महर्षि मनुने भी "त्रिंशत्कलामुहूर्तः स्यात्" इस वाक्य के द्वारा त्रिंशत्कलात्मक काल को मुहूर्त कहा है । उस वचनमे 'क्षण'का उल्लेख नही रहनेसे अमरसिंह के उक्त कथनमे अवश्य मूल है यह निश्चित होता है । उन्होने स्व-कल्पित करके वैसा नहीं कहा है किन्तु महामनीषी उदयनाचार्य ने 'किरणावली' ग्रन्थमे "क्षणद्वयं लव. प्रोक्तो निमेषस्तु लवद्वयम्" यानी दो क्षणों का एक लव होता है और दो लवोका एक निमेष होता है इत्यादि जो प्रमाण उद्धृत किया है उसका भी अवश्य मूल है ।

'अमरकोष' के अनुसार उन्होंने वहा यही कहा है कि अष्टादश निमेष एक काष्ठा, त्रिंशत्काष्ठा एक कला और तीस कला एक 'क्षण' होता है । इस प्रकारके कथनसे सर्वापेक्षा जा अल्प काल है वही 'क्षण' है इस कथन का खण्डन हो जाता है । जो भी हो, वात्स्यायन प्रभृति ने बौद्धो के क्षणिक शब्द के अर्थ की व्याख्या करते हुए "क्षणश्च अल्पीयान् काल " इस प्रकार अल्पतर कालको ही 'क्षण' कह कर उस प्रकारके क्षण मात्र स्थायी पदार्थको 'क्षणिक' कहा है और शरीरको ही उसके दृष्टान्त रूपसे आश्रय करके स्फटिक आदि द्रव्यमात्रकी क्षणिक कह कर समर्थन किया है, किन्तु बौद्ध-समत

जो क्षणिकत्व है, ऋषिगण ने उसको नहीं माना है क्योंकि "शरीरं क्षणविध्वंसि" इस प्रकार वाक्य का प्रयोग किया है अतः "क्षण" शब्दके द्वारा सर्वत्र बौद्ध-समत क्षण नहीं माना जाता है यही निश्चित होता है अत. बौद्धका क्षणिकवाद तो सर्वथा ही युक्ति-रहित है, कथमपि मान्य नहीं है।

क्षणिकवादका खण्डन समाप्त

———

जैन मत प्रारम्भ

जैन मत भी बौद्ध-मत की तरह नास्तिक ही है क्योंकि वह भी वेद को नहीं मान कर वेद से विपरीत पदार्थ को मानता है। उसके उपास्य जिन या जिनेश्वर हैं।

जैन ग्रन्थके प्रवर्त्तक ऋषभदेव थे। जैन मतानुसार ऋषभदेव नित्य सिद्ध पुरुष थे, अत एव इनको 'अर्हन् मुनि' या 'अर्हन्' कहते हैं। 'अर्हन्'का अर्थ पूज्य होता है।

हिन्दी पुस्तकों मे 'अर्हन्त मुनि' लिखते हैं। प्राकृतमे बहुधा 'अरि हन्न ऐसा प्रयोग किया गया है। अरि-शत्रु, हन्न मारने वाला यानी काम क्रोध आदि आन्तरिक शत्रुओंको मारने वाला समझा जा सकता है। कहीं २ 'अरुहन्त' प्रयोग भी दृष्ट हुआ है, 'अ-रुहन्त अर्थात् जिनका फिर जन्म नहीं है।

जैन दर्शनमें आत्मा का मध्यम परिमाण माना गया है यानी जितना बडा शरीर है उतना बडा ही आत्मा है। शरीर के अनुसार आत्मा का सकोच-विकाश होता है।

मशक (मच्छर) के शरीर में जो आत्मा है वह जब हाथी के शरीर मे प्रवेश करता है तब उसका विकाश हो जाता है और हाथी के शरीर के बराबर हो जाता है।

जैन-सिद्धान्तमें सात पदार्थ माने गये हैं। जैसे— जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध और मोक्ष। संक्षेपमें तो दो ही पदार्थ माने जाते हैं—जीव और अजीव। इन्हीं दोनों के अन्तर्गत उक्त सातों पदार्थ आ जाते हैं। बोधस्वरूप 'जीव' कहा जाता है। जड़वर्ग 'अजीव' कहा जाता है। इन जीव-अजीव का ही एक दूसरा प्रपंच (विस्तार) पंचास्तिकाय है।

पंचास्तिकाय

जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय।

जीवास्तिकाय

जीवास्तिकाय तीन प्रकारके होते हैं-बद्ध, मुक्त और नित्य सिद्ध।

पुद्गलास्तिकाय

पुद्गलास्तिकाय छः प्रकार के होते हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु यह चारो भूत पदार्थ, स्थावर और जङ्गम।

धर्मास्तिकाय

धर्मास्तिकाय प्रवृत्त्यनुमेय होता है यानी शास्त्रीय बाह्य प्रवृत्ति की रहनेसे आन्तर धर्म का अनुमान होता है। धर्म का दूसरा नाम 'अपूर्व' है।

अधर्मास्तिकाय

अधर्मास्तिकाय स्थित्यनुमेय होता है, यानी जीवका ऊद्र्ध्व प्रदेशमें जाने का स्वभाव है, किन्तु उसकी इस देहमे अवस्थिति देखनेसे अधर्म का अनुमान होता है ।

आकाशास्तिकाय

आकाशास्तिकाय भी दो प्रकार के होते हैं। लोकाकाश और अलोकाकाश ।

लोकाकाश

ऊपर प्रदेश में अवस्थित जो लोक हैं, उनके मध्यवर्ती लोकाकाश है।

अलोकाकाश

ऊपर प्रदेशमे अवस्थित लोकों के ऊपर जो मोक्षस्थान है उसे अलोकाकाश कहते हैं, वहा लोक नहीं हैं।

इस प्रकार जीव और अजीव ये ही दोनों पाच अस्तिकायों के भेदसे कहे जाते हैं और इन्हीं दोनों के अन्तर्गत जड़, चेतन सारा संसार है। जीव भोक्ता 'चेतन' है, वही आत्मा है। जीव से भिन्न सारा संसार अजीव है, वही 'जड' है।

बद्ध जीव को 'संसारी जीव' कहते हैं। बद्ध जीव दो प्रकार के होते हैं–समनस्क और अमनस्क ।

समनस्क

मन सहित या मन वाले जो जीव हैं, उन्हें समनस्क कहते हैं। जितने जंगम जीव है, सब समनस्क है।

अमनस्क

मनसे रहित जो जीव हैं, उन्हे अमनस्क कहते हैं। स्थावर जीव अमनस्क जीव हैं।

मुक्त

जो साधनों के द्वारा बन्धन से रहित हो जाते हैं उन्हें मुक्त कहते हैं

नित्यशुद्ध

जो विना साधनों के द्वारा ही बन्धन से रहित हैं उन्हे नित्यशुद्ध कहते हैं अर्हन् मुनि नित्य शुद्ध हैं वह सदैव मुक्त हैं।

इस प्रकार जीव और अजीवके अन्तर्गत पांच 'अस्तिकाय' आ जाते हैं। "अस्तीति कायन्ते-शब्दन्त इति अस्तिकायाः—यानी 'है' ऐसे कहे जाते हैं अतः अस्तिकाय संज्ञा है।"

आश्रव

मिथ्या प्रवृत्तिको 'आश्रव' कहते हैं। पुरुषोंको विषयों की ओर झुकाने वाली इन्द्रियों की जो प्रवृत्ति है वह आश्रव है। वही मिथ्या प्रवृत्ति अनर्थका कारण है। कुछ लोग कर्मको ही 'आश्रव' कहते हैं।

संवर

शम, दम आदि प्रवृत्तिको 'संवर' कहते है। वह मिथ्या विषयोंकी ओर झुकाव को रोकती है। वही सम्यक् प्रवृत्ति है।

शमदमादि

शम, दम, गुप्ति और समिति ये चार दशमदमादि कहे जाते हैं। अन्तःकरणका शान्त रहना 'शम' है। इन्द्रियों को विषयोंसे रोकना 'दम' है। शरीर, वाणी और मन इन तीनोंका निग्रह करना 'गुप्ति' है। भूमि पर पड़े जन्तुओं का हिंसासे बचने के लिये सूर्यके प्रकाशमे सबके चलने योग्य मार्ग पर यानी चालू रास्तेमें देख २ कर पग उठाना और नियत आहार का सेवन सूर्यके प्रकाश रहते ही कर लेना इत्यादि 'समिति' है।

निर्जर

तप्त शिलापर चढ़ना और बालोंका उखाड़ना आदि 'तप'को निर्जर कहते हैं। 'निर्जर' के सेवन से अनादि काल के पाप-पुण्यका दुःख-सुखके उपभोगके द्वारा निःशेष रूपसे विनाश हो जाता है, पुनः लेश मात्र भी पुण्य-पाप नहीं रहता है।

बन्ध

आठ प्रकारके कर्मको 'बन्ध' कहते हैं। जैसे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, नामिक, गोत्रिक, और

आयुष्क। इनमें से पहलेके चार 'घाति कर्म' हैं और आगे के चार 'अघाति कर्म' हैं।

ज्ञानावरणीय

सम्यक् ज्ञान मोक्षका साधन नहीं है, ज्ञान होने से किसी वस्तुकी सिद्धि नहीं होती है क्योंकि आशारूप मोदकके ज्ञानसे मोदककी सिद्धि नहीं हो सकती है इस प्रकार के विपर्ययको ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

दर्शनावरणीय कर्म

आहत दर्शन के अभ्याससे मोक्ष नहीं होता है इस प्रकार के ज्ञानको दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

मोहनीय कर्म

तीर्थंकर (संप्रदायके प्रवर्त्तक) के द्वारा मोक्ष का मार्ग परस्पर विरुद्ध उपदिष्ट होने के कारण किसी एक का निश्चय नहीं होना मोहनीय कर्म है।

अन्तराय कर्म

मोक्ष के मार्ग में जो प्रवृत्त हैं उस के विघ्नकारी जो विज्ञान है, उसे अन्तरायकर्म कहते हैं।

ये चारों श्रेय यानी कल्याण (मोक्ष) के विघातक हैं अतः 'घाति कर्म' कहे जाते हैं।

वेदनीय कर्म

शुक्र पुद्गल का यानी शुक्र-शोणित का शरीराकार से जो परिणाम होता है उसका हेतु वेदनीय कर्म है क्योंकि इससे शरीर-द्वारा तत्त्व का वेदन (ज्ञान) होता है।

नामिक कर्म

शुक्रपुद्गल के आरम्भक जो वेदनीय कर्म है उसके अनुकूल नामिक कर्म है, वह शुक्रपुद्गल की कलल, बुद्बुद् नाम की प्रथम अवस्था का आरम्भ करता है।

गोत्रिक

उस से भी आद्य, अव्याकृतशक्तिरूप से अवस्थित जो कर्म है उसे गोत्रिक कहते है। शुक्रपुद्गलकी यानी शुक्र-शोणितकी देहाकार परिणाम होने की जो शक्ति है वह गोत्रिक है।

आयुष्क

उत्पादन के द्वारा आयु का जो कथन करता है उसे आयुष्क कहते हैं। शुक्र-शोणित का संमिलित जो स्वरूप है वह आयुष्क है।

शक्तिमान् बीजमें बुद्बुद् अवस्था का आरम्भक नामिक है और सक्रिय बीज का तेजके पाक होने से ईषत् यानी थोड़ा जो घनीभाव है वही शरीराकार के परिणाम का हेतु है, यह वेदनीय है।

ये चारों कर्म तो शुक्ल-पुद्गल के आश्रित होने के कारण 'अघाति कर्म' कहे गये हैं, इस प्रकार उक्त आठ कर्म पुरुषके लिये बन्धन होते हैं यानी संसार से मुक्त नहीं होने देते हैं इस लिये उक्त आठो कर्म 'बन्ध' कहे जाते हैं।

मोक्ष

समस्त क्लेश और वासना के सर्वथा विनष्ट होने से आवरण ज्ञान से रहित सुख-प्रवाहस्वरूप आत्मा का जो ऊपर देश में अवस्थान है उस को मोक्ष कहते हैं।

ऊपर प्रदेश में जानेका जीव का स्वभाव है, किन्तु धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायसे जीव बद्ध रहता है और उक्त दोनों अस्तिकायोंसे विमुक्त होने से वह जीव ऊपर लगातार प्रदेशमें जो चला जाता रहता है वही मोक्ष है।

उक्त रूपसे जीव आदि सात पदार्थ और उनके अवान्तर भेद कहे गये हैं अब 'सप्त भंगी न्याय'का वर्णन करते हैं।

हर एक पदार्थ किसी रूप से रहता है, और किसी रूप से नहीं भी रहता है, जैसे घटादि पदार्थ किसी रूपसे है और किसी रूपसे नहीं हैं, इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ कथंचित् है और कथंचित् नहीं भी है।

सप्तभंगीन्यायके सात भंग

स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्तिचावक्तव्यश्च, स्यादस्तिच नास्तिचावक्तव्यश्च ।

यहा 'स्यात्' शब्द का अर्थ है—कथंचित्, स्यादस्ति यानी घटादि पदार्थ कथंचित् है।"

जब उसका निषेध करना होता है तो 'स्यान्नास्ति'—कथंचित् नहीं है यह दूसरा भंग प्रवृत्त होता है। "स्यादस्ति च नास्ति च-कथंचित् है और कथंचित् नहो भी है।" एक सार्थ विधि-निषेध (अस्तित्त्व-नास्तित्व) के कहने की इच्छा हो तो उक्त तीसरा भंग प्रवृत्त होता है। 'स्यादवक्तव्यः'—कथंचित् अकथनीय है। "स्यादस्तिवक्तव्यश्च—कथंचित् है और अकथनीय है।" "स्यान्नास्तिचावक्तव्यश्च—कथंचित् नहीं है और वक्तव्य भी नहीं है" 'स्यादस्ति च नास्तिचावक्तव्यश्च— कथंचित् है, कथंचित् नहीं है और वक्तव्य भी नहीं है।"

इसी प्रकार एकत्व और नित्यत्व आदिमें भी 'सप्त भंगी न्याय' लगता है जैसे—स्यादेकः, स्यादनेकः, स्यादेकोऽनेकश्च, स्यादवक्तव्यः, स्यादेकोऽवक्तव्यः, स्यादनेकोऽवक्तव्यः, स्यादेकोऽनेश्चावक्तव्यश्च।

प्रत्येक पदार्थ अनेक रूप है और अनेक रूप होनेसे ही वस्तु की प्राप्ति-त्याग आदि व्यवहार बन सकता है। यदि एक रूप ही हो तो प्रत्येक वस्तु सर्वत्र सर्वदा विद्यमान ही है तब प्राप्ति-त्याग आदि जो व्यवहार लोगों में होता है उसका उच्छेद हो जायगा अतः सब कुछ अनेकान्त है, कुछ भी एकान्त नहीं है। इसी प्रकार नित्यत्व आदि में भी समझना चाहिये।

सारांश यह कि यदि वस्तु एकान्ततः है तो वह सर्वथा सदैव सर्वत्र सर्वात्मना ही है तब कहीं किसी प्रकार से किसी समय में कोई भी व्यक्ति उस वस्तु की प्राप्ति और उस के त्याग में प्रवृत नहीं हो सकेगा क्योंकि जो वस्तु प्राप्त है उस के प्राप्त करने की कोई जरूरत नहीं है और जो हेय है उसका हान (त्याग) नहीं हो सकता है । अतः एकान्त पक्षमें जिज्ञासु के हान-उपादान (प्रवृत्ति-निवृत्ति) भी नहीं हो सकते है।

अनेकान्त-पक्षमें तो कहीं कभी किसीके रहनेके कारण प्राप्ति और त्याग को कल्पना की जा सकती है अतः सब कुछ अनेकान्त है यानी वस्तुमात्र एक नहीं, किन्तु अनेक रूप है यही निश्चित होता है ।

षट् काय

जीव सहित छः कायों को षट्काय कहते हैं। जैसे—पृथिवी-काय, जल काय, अग्नि काय, वायु काय, वनस्पति काय, और त्रस-काय ।

पृथिवी काय

यह पृथिवी असंख्य जीवों के शरीरों का पिण्ड है, इस के जब जीव मरते हैं तो धूल आदि अचेतन पृथिवी रह जाती है वही पृथिवी काय है।

जल काय

जल भी असख्य जीवों के शरीरों का पिण्ड है, जब उसके जीव मरते हैं तो उसका जलकाय अचेतन रह जाता है, वही जलकाय है।

अग्नि काय

अग्नि भी असख्य जीवों के शरीरों का पिण्ड है, जब अग्निके जीव मरते हैं तब उसका अग्निकाय अचेतन रह जाता है, वही अग्निकाय है।

वायु काय

वायु भी असख्य जीवों के शरीरो का पिण्ड है, उसके भी जब जीव मरते हैं तो अचेतन वायु रह जाती है, वही वायु काय है।

वृक्ष, लता, औषधि सभी जीवों के शरीर हैं, जब वे सूख जाते हैं तब उनका शरीरमात्र रहता है, जीव नहीं रहता है। उक्त पञ्च कायोंके जीव समय पर मरकर दूसर शरीरमें जाता है

इन पाचोंमें केवल एक ही स्पर्शेन्द्रिय है अत उन्हें एकेन्द्रिय कहते हैं। ये पचकाय अचेतन या स्थावर कहे जाते हैं।

त्रस काय

जगमको त्रसकाय कहते हैं। जगममें कोई द्वीन्द्रिय कोई त्रीन्द्रिय, कोई चतुरिन्द्रिय और कोई पचेन्द्रिय होते हैं।

जगत् का कर्त्ता कोई ईश्वर नहीं है। असख्यपरमाणुओं के द्वारा

कर्म के निमित्त से जीवोंने जो असंख्य शरीर रचा है वही पृथिवी आदि पाच हैं और वह प्रवाह से अनादि है, इन मे पुराने जीव मरते जाते हैं और उन्ही शरीरों वा अन्य शरीरों मे उन्हीं कायों में से पर्यायसे बदल कर (मर कर) नये जीव उत्पन्न होते है ।

इन जीवों के विचित्र कर्मोंके उदय से विचित्र रंग-रूप हैं और इनके शरीरों मे जो परमाणुओं के समूह हैं उन मे अनन्त प्रकार की शक्तियां है, उन्हीं के पारस्परिक संमेलन होने से संसार में अनन्त प्रकार के कार्य उत्पन्न होते रहते हैं, और उनके परस्पर मिलनेमे काल, स्वभाव, नियति, अदृष्ट, कर्म और प्रेरणा ये पाच शक्तियां प्रगट होती है । उन्हीं शक्तियोंके द्वारा पदार्थों के पारस्परिक संमेलन होने से यह विचित्र प्रकार की रचना अनादि प्रवाह से होती चली आ रही है और होती रहेगी। उक्त पंच शक्तिया जड पदार्थों के अन्तर्गत ही हैं, पृथक् नहीं है अतः इस जगतका नियन्ता और कर्त्ता कोई अलग ईश्वर नही किन्तु जड पदार्थों की शक्तिया ही संसार की नियन्त्री और कर्त्री है यही जैन-सिद्धान्त मे माना गया है ।

जीव की चार प्रकार की गति कही गयी है जैसे—नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देव गति ।

नरक गति

जहां केवल दुःख ही दुःख है, लेशमात्र भी सुख नहीं है उसको नरक गति कहते हैं ।

अधोलोकमें नरकके सात स्थान हैं। जैसे—रत्न प्रभा, शर्करा प्रभा, बालु प्रभा, पंकप्रभा, धूम प्रभा, तमः प्रभा और तमः तमः प्रभा।

इन सातों में जीव दुःख ही भोगते रहते हैं किन्तु उनके दुःख में भी तारतम्य (न्यूनाधिक्य) रहता है

तिर्यंच गति

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं गाय, अश्व आदि पंचेन्द्रिय ये सब तिर्यंच गति में हैं।

मनुष्य गति

समस्त मनुष्य यानी स्त्री-पुरुष समस्त मनुष्य जाति मनुष्य-गति में हैं।

देव गति

देव गतिमें चार प्रकार के देवता गिने जाते हैं। जैसे भुवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी, और वैमानिक।

जीव भी विवृत्तिमान् यानी परिणामी है अतः वह नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चारों गतियों में और एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय इन पांच जाति-योंमें भी रहते हैं। अनेक प्रकार के उत्पत्तिरूप परिणामों का जीव अनुभव करता है। जीवका परिमाण शरीर के बराबर होता है यानी जिस शरीरमें जीव प्रवेश करता है उसीके बराबर हो जाता

है, अत एव सारे शरीर में उसकी चेतनता उपलब्ध होती है, किन्तु मुक्तावस्थामें जीवका एक ही स्थिर परिणाम होता है क्योंकि मुक्तावस्था प्राप्त कर लेने पर पुनः जन्म धारण नहीं करना पड़ता है।

बन्ध

"सकषायत्वाज्जीवः कर्मभावयोग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।" क्रोध आदि मल-संयुक्त होनेके कारण जीवका कर्म भावके योग्य जो पुद्गलों (शरीरों) का धारण करना है वही बन्ध है।

बन्ध हेतु

"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाया बन्धहेतवः।" मिथ्या दर्शन यानी मिथ्या ज्ञान, अविरति, प्रमाद और कषाय ये चार बन्धके हेतु हैं। मिथ्या दर्शन दो प्रकार के हैं— नैसर्गिक, परोपदेशज। मिथ्या कर्मोंके उदय होने से किसी दूसरेके उपदेशके बिना ही तत्त्वमें श्रद्धा उत्पन्न न होना 'नैसर्गिक' मिथ्या दर्शन है। किसी दूसरेके उपदेशसे तत्त्वमें श्रद्धा उत्पन्न न होना, 'परोपदेशज' मिथ्या दर्शन है। छः प्रकार के जो इन्द्रिय हैं उनका संयम न करना 'अविरति' है। पूर्वोक्त समिति, गुप्ति और उत्साहका न होना 'प्रमाद' है। क्रोध आदि मल 'कषाय' हैं।

मोक्ष मार्ग

"सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।" सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र मोक्षके मार्ग हैं।

सम्यक् दर्शन (श्रद्धा)

रुचिर्जिनोक्त तत्त्वेषु सम्यकश्रद्धानमुच्यते ।
जायते तन्निसर्गेण गुरोरधिगमेन वा ॥

जिनोक्त तत्त्वों में यानी जैन लोगों के उपास्य जो देव हैं, उनके उपदिष्ट तत्त्वोंमें जो रुचि होती है उसीको सम्यक दर्शन या सम्यक श्रद्धा कहते हैं और वह स्वभाव से अथवा गुरु की शरण लेनेसे उत्पन्न होती है।

सम्यक् ज्ञान

यथावस्थित तत्त्वाना संक्षेपाद्विस्तरेण वा ।
योऽवबोधस्तमत्राहु सम्यक् ज्ञान मनीषिणः ॥

सक्षेपसे अथवा विस्तारसे तत्त्वोंका जो ठीक ठीक ज्ञान है, उसको बुद्धिमान् लोग सम्यक् ज्ञान कहते हैं।

सम्यक् चारित्र

सर्वथा नद्ययोगाना त्यागश्चारित्रमुच्यते ।
कीर्त्तित तदहिंसादिव्रतभेदेन पञ्चधा ॥

निन्दनीय कर्मोंका सर्वथा परित्याग कर देना 'सम्यक् चारित्र' है। वह सम्यक् चारित्र अहिंसा आदि व्रतके भेदसे पाच प्रकारके हैं

अहिंसा आदि व्रत

"अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा ।" अनवधानसे भी किसी

स्थावर और जंगमकी कभी हिंसा न करना 'अहिंसा' है। सदैव सबके साथ प्रिय, हितकारक और सत्य बोलना, कभी प्रमाद-वश भी अप्रिय, अहित और मिथ्या न बोलना 'सुनृत' है। किसीका हक न लेना 'अस्तेय' है। मन, वाणी और शरीर से ब्रह्मचर्यका पूरा पालन करना 'ब्रह्म चर्य' है। सब वस्तुओ से मोहका परित्याग करना 'अपरिग्रह' है।

सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनोकी प्राप्ति होनेसे मोक्ष प्राप्त होता है। एक की प्राप्ति से मोक्ष प्राप्त नहीं होता है।

ईश्वर पद

अर्हन् और सिद्ध य दोनो पद ईश्वरपद कहलाते है। इनके सिवा और कोई ईश्वर नहीं है ये भी व्यापक नहीं, किन्तु सर्वज्ञ मान गये है।

पञ्च परमेष्ठी

अर्हन्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाच पदों को 'पच परमेष्ठी' कहते हैं, और 'नमो अरि हन्ताण' इत्यादि पच परमेष्ठाका नमस्कार मन्त्र है। धर्म मे गृहस्थ और त्यागी नर-नारी दोनों का अधिकार समान है।

गृहस्थ नरको श्रावक, गृहस्थ नारीको श्राविका, त्यागी नरको

साधु, त्यागिनी नारी को साध्वी कहते हैं। (श्रावक शब्द का अप-भ्रंश शब्द 'सरावगी' मालूम पड़ता है)

जैन में दो सम्प्रदाय हैं—श्वेताम्बर और दिगम्बर। श्वेताम्बर और दिगम्बर शब्दों के ऊपर ध्यान देने से यही मालूम पड़ता है कि सफेद वस्त्र-धारी जैन लोगों का श्वेताम्बर सम्प्रदाय और वस्त्र रहित या नग्न रहने वाले जैन लोगों का दिगम्बर सम्प्रदाय कहा जाता है।

जैन लोगों के उपास्य जिन देव या तीर्थकर हैं। ऋषभ देव से ले कर महावीर तक २४ तीर्थ कर माने जाते हैं। तेइसवां तीर्थ कर इनका पार्श्वनाथ थे। अवतारके स्थान में तीर्थंकर माने जाते हैं।

जैन लोगोंका विश्वास है कि जिन देवके द्वारा कथित शुद्ध धर्म ही निर्वाण प्राप्ति का एक मात्र साधन है। जैन-मत के अनुसार सृष्टि और कालचक्र अनादि कालसे चल रहा है और बराबर चलता ही रहेगा। काल चक्रके दो भाग हैं—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। काल चक्रकी यह अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी गति अनादि और अन्त-रहित है। जब अवसर्पिणी गति रहती है तब उन्नतावस्था यानी अच्छी अवस्था से क्रमश बुरी अवस्था की तरफ और जब उत्सर्पिणी गति रहती है तब उत्कृष्ट अवस्था यानी हीना अवस्थासे क्रमश अच्छी अवस्था की तरफ वह अग्रसर होता रहता है यही काल चक्र की गतिविधि है।

अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के भी क्रमश छ छ भाग हैं।

प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल में २४ तीर्थंकर आविर्भूत होते हैं, अप्रासङ्गिक होने के भय से यहां उसकी विस्तृत आलोचना नहीं की गयी।

महावीर के समय में जैन धर्म किसी सम्प्रदाय में विभक्त नहीं था। उसके बहुत दिनों के बाद श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय का विभाग हुआ है। उन दोनों का संक्षेप मे मत भेद इस प्रकार है—

श्वेताम्बर सम्प्रदाय वालों के 'आचारांग सूत्रादि ४५ धर्म, ग्रन्थ हैं, उनको दिगम्बर सम्प्रदाय वाले नहीं मानते हैं। जैन के प्राचीन शिला-लेख, में 'निर्ग्रन्थ' शब्द का उल्लेख है। दिगम्बर संप्रदाय वाले निर्ग्रन्थ शब्द का 'नग्न साधु' अर्थ करते हैं किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय वाले 'निर्ग्रन्थ' शब्दका अर्थ ग्रन्थि-रहित अर्थात् रागद्वेषादि बन्धन-मुक्त समझते हैं। सम्राट् 'अशोक' के समय में जैन साधु 'निर्ग्रन्थ' नाम से पुकारे जाते थे।

सम्राट् 'अशोक' के बाद कलिंगाधिपति सम्राट् 'खार्वेल' के शिला-लेख में सम्राट् के द्वारा जैन साधुओंको भांति भांति के श्वेत वस्त्र और रेशमी वस्त्र देने का वर्णन है इससे मालूम पड़ता है कि सम्राट् अशोक के समय तक एक मात्र दिगम्बर संप्रदाय था, उसके बाद सम्राट् 'खार्वेल' के समय में श्वेताम्बर संप्रदाय भी हो चला किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय अपने को ही प्राचीन बतलाता है। अपनी अपनी प्राचीनता को ले कर उक्त दोनों सम्प्रदायोंमें महान विवाद-संघर्ष है।

श्वेताम्बर के अनुसार ऋषभदेव के बाद से ले कर पार्श्वनाथ

पर्यन्त २२ तीर्थकरों के समयमें जैन साधुगण वस्त्र का व्यवहार करते थे किन्तु २४ वा तीर्थकर महावीर के समयमें वस्त्र त्याग करनकी पद्धति चली है किन्तु भगवान् शंकराचार्य, वाचस्पति मिश्र प्रभृतिने अपने ग्रन्थोंमे श्वेताम्बर या सितपटका कहीं नामोल्लेख नहीं किया है, केवल दिगम्बर या विवसन का ही सर्वत्र कथन किया है। इससे मालूम पडता है कि प्राचीन समयमें इनके साधु नग्न ही रहते थे। इस प्रकार के प्राचीन चित्र भी मिलते हं।

दिगम्बर सम्प्रदाय वाले चौवीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी को अविवाहित और बाल ब्रह्मचारी मानते हं किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय वाले उनका विवाह और उनकी विवाहिता स्त्री यशोदा के गर्भ से प्रियदर्शना नाम की एक कन्या होने की बात कहते हैं।

श्वेताम्बर के अनुसार महावीर तीर्थ कर का अपनी क्षत्रियाणी माता त्रिशला के गर्भ से जन्म ग्रहण करनेके पहले 'देवनन्दा' नामकी ब्राह्मणी के गर्भ मे अवतीर्ण होना कहा जाता है, पश्चात् इन्द्र के आदेश से 'हरीनेगमेषी' नामक देवता ने देवनन्दा के गर्भ से महावीरको उठा कर माता त्रिशलाके गर्भमें स्थापित किया था यह आख्यायिका श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रसिद्ध 'कल्पसूत्र' नामक ग्रन्थम सविस्तर वर्णित है किन्तु दिगम्बर सम्प्रदायक किसी ग्रन्थ और उन लोगोंक द्वारा रचित महावीर स्वामी की जीवनीम इस प्रकारको किसी घटनाका उल्लेख नहीं मिलता है। वे लोग इस गर्भापहरण की आख्यायिका पर विश्वास भी नहीं करते है।

जैन-मत के अनुसार तीर्थंकर स्वयं सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होते हैं और संघों की भी स्थापना करते हैं । यह तीर्थ अथवा जैन-संघ चार प्रकारके है—साधु, साध्वी, श्रावक, और श्राविका ।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभ देव से ले कर चौवीसवें तीर्थंकर महावीर तक प्रत्येक तीर्थंकरने अपने अपने अभ्युत्थान-काल में संघकी स्थापना की है। ससार-त्यागी सन्यासी पुरुषको साधु और ससार त्यागिनी संन्यासिनी स्त्री को साध्वी कहते हैं । जैनधर्मोपासक गृहस्थ पुरुष को श्रावक और जैनधर्मोपासिका गृहस्थ स्त्री को श्राविका कहते हैं ।

दिगम्बरी लोगोंका कहना है कि चौवीसवें तीर्थंकर महावीर के समय में मुक्तिके विषयमें स्त्रियोंका अधिकार पुरुषों के समान नहीं था और स्त्रियोंके लिये सन्यास ग्रहण वर्जित था । जो भी हो, दोनों सम्प्रदायों मे मूर्त्तिपूजा और अहिंसाके धर्म माने गये हैं । 'प्रवचन सारोद्धार' 'जैनतत्त्वादर्श' और 'अज्ञान तिमिर भास्कर' आदि जैन ग्रन्थोंमें जैनमतका सविस्तर विचार किया गया है ।

जैन मतका खण्डन

जैनमत का सब से बड़ा सिद्धान्त 'सप्तभंगी न्याय' है, जो सर्वथा दूषित है, क्योंकि जो पदार्थ सत्य रहता है, वास्तव रूपसे वह सर्वथा सर्वदा सर्वत्र और सर्वात्मना निर्वचनीयस्वरूपसे रहता ही है। वह किसी रूपसे नहीं भी रहता है यह नहीं कहा जा सकता। जैसे-जीवात्मा, अर्थात् जिसका अस्तित्व है, नियम से ही उसका अस्तित्व है ।

जीवात्मा का अस्तित्व है तो नियम से ही अस्तित्व है और जो पदार्थ कहीं किसी प्रकार से किसी समयमें किसी रूपसे "है" ऐसा कहा जाता है वह व्यावहारिकरूपसे ही रहता है किन्तु पारमार्थिक स्वरूप से नहीं रहता है क्योंकि वह विचार करने के योग्य नहीं है। जैसे— जगत्।

प्रत्यय मात्र होने से यानी किसी पदार्थ की प्रतीति मात्र होने से उसकी वास्तविकता नहीं कही जा सकती है क्योंकि शुक्तिमें रजतकी प्रतीति और मरु-मरीचिका में जलकी भी प्रतीति होती है और वह वास्तव नहीं है।

लोगों में व्यावहारिक प्रतीति के बाध नहीं दृष्ट होने पर उसकी वास्तविकता मानने से देह में जो आत्माका अभिमान होता है, उसके भी लोगों में बाध नहीं दृष्ट होने से वह भी वास्तविक (तात्त्विक) हो जायगा और तब तो चार्वाक-मतका प्रसङ्ग आ जाता है।

"विद्वानोंके विचार के द्वारा देहात्माभिमान का बाध होता है" ऐसा कहने से अनेकान्त जगत् का भी बाध होता ही है।

इस प्रकार गवेषणा करने से जैन का अनेकान्त वाद अयुक्त है यही निश्चित होता है।

फिर भी एक ही धर्मी में एक साथ (युगपत्) सत्त्व और असत्त्व इन विरुद्ध धर्मोंका समावेश असम्भव है। जैसे—शीत और उष्ण ये दोनों एक पदार्थ में एक साथ नहीं रह सकते हैं, उसी प्रकार सत्ता और असत्ता एक साथ असम्भव है।

जैन मतमें जो सात पदार्थ कहे गये हैं, या तो वे उतने ही हैं और इसी स्वरूपके हैं, या वैसे नहीं हैं, इन्हीं दोनोंमें से एक हो सकता है। वैसे हैं और वैसे नहीं भी हैं, इस प्रकार अनिश्चित ज्ञान होनेसे तो संशयज्ञानकी तरह अप्रमाण होगा यानी वह प्रमाणात्मक नहीं होगा।

"अनेकात्मक यानी नाना स्वरूप पदार्थ है, यह निश्चयात्मक ही ज्ञान है, अतः संशय ज्ञान की तरह अप्रमाण नहीं हो सकेगा" यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सब वस्तुओं में अनेकान्तत्व (अनेकस्वरूप) का जो निर्धारण (निश्चय) है वह निर्धारण भी तो कोई वस्तु ही है, उसमें भी 'सप्तभंगीन्याय लगने से यानी स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, इत्यादि विकल्प की प्रवृत्ति होने से सर्व वस्तुओं में अनिर्धारणात्मकत्व ही हो जाता है यानी किसी वस्तुका निर्धारण (निश्चय) नहीं हो सकता है

उसी प्रकार निर्धारण करने वाला और निर्धारण का जो फल है, उसके भी एक पक्ष में अस्तित्व और एक पक्षमें नास्तित्व हो जाता है इस प्रकार महान् असमञ्जस होने से जैन-सिद्धान्त कैसे मान्य हो सकता है और प्रमाण, प्रमेय, प्रमातृ और प्रमिति इन सबके अनिर्धारित होने पर कैसे कोई आचार्य उपदेश कर सकता है, ? अथवा कैसे उसके द्वारा उपदिष्ट पदार्थमें, जिसका स्वरूप अनिर्धारित है, उसके शिष्यों की प्रवृत्ति होगी ?

ऐकान्तिकरूप से यानी निश्चितरूप से यह फल है ऐसा

निर्धारण होनेसे ही उसके साधन के अनुष्ठानके लिये सब लोगों की प्रवृत्ति होती है, अन्यथा नही होती है ।

अनिर्धारित अर्थ के शास्त्र का प्रणयन करने वाला व्यक्ति भी मत्त-उन्मत्त की तरह अमान्य हो जायगा ।

पंच जो अस्तिकाय हैं, उनकी पंचत्व संख्या है ? अथवा नहीं । यानी वे पाच है ! अथवा नहीं । इस प्रकार विकल्प होने से एक पक्षमें 'है' कहा जायगा किन्तु एक पक्षमें तो 'नही' कहा जायगा ही, तब तो उनकी न्यून संख्या अथवा उससे अधिक संख्या ही एक पक्ष म हो जाती है ।

इसी तरह उन पदार्थोंका 'अवक्तव्यत्व' भी सभव नहीं है क्योंकि यदि अवक्तव्य हैं तो वे नहीं कहे जा सकते हैं । कहे भी जाते हैं और अवक्तव्य भी हैं ऐसा नहीं हो सकता है ।

फिर भी जैसे वे पंच अस्तिकाय कहे जाते हैं वैसे वे निर्धारित किये भी जाते हैं और नहीं भी किये जाते हैं । उन पंच अस्तिकायों के अवधारण (निश्चय) करने का फल सम्यक् दर्शन है भी, नहीं भी है । इसी प्रकार असम्यक् दर्शन भी उसके विपरीत है भी, नहीं भी है इस तरह प्रलाप करता हुआ जैन मत्त-उन्मत्त की तरह अश्रद्धेय है ।

स्वर्ग और मोक्षका अस्तित्व भी एक पक्ष मे रहेगा और एक पक्षमें नहीं भी रहेगा । एक पक्षमें उसकी नित्यता और एक पक्षमें अनित्यता भी रहेगी तब तो उसमें लोगों की प्रवृत्ति ही नहीं होगी ।

अनादि-सिद्ध जो जीव प्रभृति है, शास्त्रोंके द्वारा उनके स्वभावका जैसा निर्धारण हुआ है, एक पक्ष में वैसा नहीं भी रहेगा। इस प्रकार जीव प्रभति पदार्थों में, एक धर्मी में सत्त्व और असत्त्व इन विरुद्ध दो धर्मोंका समावेश होना असम्भव है।

सत्तास्वरूप धर्मके सद्भावमें असत्तास्वरूप धर्म के असम्भव होने और असत्तास्वरूप धर्म के सद्भाव में सत्तास्वरूप धर्म के असंभव होने से यह आर्हत दर्शन (जैन दर्शन) सर्वथा असंगत है यही निश्चित होता है।

इस प्रकार एक-अनेक, नित्य-अनित्य, व्यतिरिक्त-अव्यतिरिक्त आदि रूपसे एक ही पदार्थके प्रतिपादन रहनेसे जैन-मतका अनेकान्त-सिद्धान्त सर्वथा अयुक्त है।

जैन-मत में पुद्गलके द्वारा संघात की उत्पत्ति मानी गयी है और अणु को ही पुद्गल कहा है, अतः अणुवाद के निराकरण से ही इसका निराकरण हो जाता है और अणुवाद का निराकरण आगे किया जायगा।

इस प्रकार गवेषणा करने से सप्तत्व और पंचत्वका निर्धारण स्वरूप फल, निर्धारण करने वाला प्रमाता, उसका करणरूप प्रमाण, और उसका प्रमेय जो सप्तत्व और पंचत्व हैं इन सबमें भी "स्याणुर्वापुरुषोवा" इस ज्ञानकी तरह सत्त्व और असत्वके संशय होने-से जैनके आचार्य ऋषभदेव का तीर्थंकरत्व भी नहीं रहता है इस प्रकार अनेकान्तवाद का खण्डन हो जाता है।

घडे तक ही उसका प्रकाश होता है और जब बडे घर में रक्खा जाता है तब उतने दूर तक यानी घर भर उसका प्रकाश हो जाता है इस प्रकार संकोच-विकास होने से हस्ती और मशक के शरीर में एक ही जीव का प्रवेश हो सकता है ।

समाधान— प्रदीपका दृष्टान्त इस में नहीं हो सकता है। प्रदीपके दृष्टान्त से जीव अनित्य हो जाता है क्योंकि प्रदीप के अवयव अनित्य हैं।

प्रदीप जो अवयवी है, उसका प्रति क्षण उत्पत्ति और निरोध होता रहता है अतः वह अनित्य है और जीव नित्य है। जीवके अवयव भी नहीं होते हैं। यदि जीव के अवयव अनन्त हैं तो उन सब अवयवों के रहने का आधार एक ही प्रदेश है ? अथवा भिन्न भिन्न प्रदेश है ?

यदि भिन्न भिन्न प्रदेश सबका माना जाय तो वे अनन्त अवयव उस एक परिच्छिन्न (परिमित) प्रदेशमे यानी शरीर-परिमाण जो अवयवी जीव है, उसमें कैसे रह सकते हैं ?

यदि जीवके अनन्त अवयवों का एक ही प्रदेश माना जाय तो एक अवयव का जो देश है वही देश सब के होने से अवयवों की प्रचुरता ही विनष्ट हो जाती है और जीव अणुमात्र हो जाता है क्योंकि अणु अवयव का जो देश है वही जीव के समस्त अवयवोंका एक ही देश है तब जीव का अणु होना तर्क-सिद्ध है।

फिर भी शरीर-मात्र परिच्छिन्न जीव के जो अवयव हैं उन

शरीर-परिमाण आत्मा नहीं

अनेकान्त वाद में जिस प्रकार एक धर्मी में विरुद्ध धर्म असंभव है, यह दोष हुआ है उसी प्रकार शरीर-परिमाण आत्मा को माननेसे आत्मा परिच्छिन्न हो जाता है और परिच्छिन्न होने से आत्मा अनित्य हो जाता है क्योंकि जो परिच्छिन्न है वे अनित्य हैं जैसे—घट, पट आदि।

यदि शरीर का परिमाण (माप) जीव रहे तो शरीर के अनवस्थित परिमाण रहने से मनुष्य जीव मनुष्य-शरीरका परिमाण होगा यानी जितना बड़ा मनुष्य-शरीर है उतना ही बड़ा वह जीव होगा जब किसी कर्म-विपाक से वह हस्ति-जन्म प्राप्त करेगा यानी मनुष्य जब हाथीके योनिमें जन्म लेगा तो वह जीव हाथीके समस्त शरीर में व्याप्त नहीं हो सकेगा क्योंकि वह हस्ती के शरीर से छोटा है, इसी प्रकार जब हाथी शरीर का जीव हाथी के शरीर को छोड़ कर मशक (मच्छड़) के शरीर में प्रवेश करने लगेगा तब वह प्रवेश नहीं कर सकता है क्योंकि वह बड़ा है और मशक-शरीर छोटा है।

फिर एक जन्म में भी बाल्य अवस्था का जीव युवावस्था के शरीर में कैसे प्रवेश कर सकता है और युवावस्था का जीव वृद्धावस्था के शरीर में कैसे प्रवेश कर सकता है ?

प्रश्न—जीव के अनन्त अवयव हैं, अल्प शरीर में वे अवयव संकुचित हो जाते हैं और दीर्घ शरीर में विकसित हो जाते हैं। जिस प्रकार प्रदीप जब घड़े में रक्खा जाता है तब उतना ही यानी

घड़े तक ही उसका प्रकाश होता है और जब बड़े घर में रक्खा जाता है तब उतने दूर तक यानी घर भर उसका प्रकाश हो जाता है इस प्रकार संकोच-विकास होने से हस्ती और मशक के शरीर में एक ही जीव का प्रवेश हो सकता है ।

समाधान— प्रदीपका दृष्टान्त इस में नहीं हो सकता है। प्रदीपके दृष्टान्त से जीव अनित्य हो जाता है क्योंकि प्रदीप के अवयव अनित्य हैं।

प्रदीप जो अवयवी है, उसका प्रति क्षण उत्पत्ति और निरोध होता रहता है अतः वह अनित्य है और जीव नित्य है। जीवके अवयव भी नहीं होते हैं। यदि जीव के अवयव अनन्त हैं तो उन सब अवयवों के रहने का आधार एक ही प्रदेश है ? अथवा भिन्न भिन्न प्रदेश है ?

यदि भिन्न भिन्न प्रदेश सबका माना जाय तो वे अनन्त अवयव उस एक परिच्छिन्न (परिमित) प्रदेशमें यानी शरीर-परिमाण जो अवयवी जीव है, उसमें कैसे रह सक्ते हैं ?

यदि जीवके अनन्त अवयवों का एक ही प्रदेश माना जाय तो एक अवयव का जो देश है वही देश सब के होने से अवयवों की प्रचुरता ही विनष्ट हो जाती है और जीव अणुमात्र हो जाता है क्योंकि अणु अवयव का जो देश है वही जीव के समस्त अवयवोंका एक ही देश है तब जीव का अणु होना तर्क-सिद्ध है।

फिर भी शरीर-मात्र परिच्छिन्न जीव के जो अवयव हैं उन

का आनन्त्य भी नहीं कहा जा सकता है अर्थात् जब शरीर-मात्र का जीव माना जाता है तब शरीर-परिमित ही उसके अवयव कहे जा सकते हैं, अनन्त अवयव नहीं कहे जा सकते हैं।

"गृह के अनुसार प्रदीप के प्रकाश का जैसे संकोच-विकास (कमी-वेशी) होता है वैसे शरीरानुसार आत्माका संकोच-विकास होता है" यह भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रदीपका प्रकाश भी किसी सीमा-तक ही बद्ध रहता है यानी जो प्रदीप छोटे गृहको जैसे प्रकाशित करता है वह प्रदीप महान् विशाल गृहको वैसे प्रकाशित नहीं कर सकता है। कूर्म (कच्छप) के अवयवका भी संकोच-विकास किसी अवधि-तक ही नियमित रहता है।

साराश यह कि किसी पदार्थ में संकुचित-विकसित होने की जो शक्ति रहती है वह भी परिमित ही रहती है।

एक ही पदार्थ जिस जिस प्रदेश मे जाता रहेगा सर्वत्र उसका यथेष्ट रूपमे ही विकास होगा इसमे कुछ भी दृष्टान्त नहीं है। जिसके अवयव मे संकोच-विकास की जितनी शक्ति है उसका सर्वत्र उतना ही संकोच-विकास होता है। क्षेत्रके भेदसे उसकी शक्तिमे न्यूनाधिक्य नहीं होता है क्योंकि जो दीप घट को जैसे प्रकाशित करता है वह एक विशाल प्रासाद (कोठा) को वैसे कभी नहीं प्रकाशित करता है यह सार्वजनिक प्रत्यक्ष है।

शरीरपरिमाणवादी का प्रदीप दृष्टान्त, कथमपि समीचीन नहीं है क्योंकि एक छोटासा दीप जो एक छोटे गृह को अच्छी तरह

प्रकाशित करता रहता है वह यदि एक महाविशाल भवन में रक्खा जाता है तो उस विशाल भवनके किसी एक कोणमें (कोनेमें) ही प्रकाश होता है और बाकी भागमें अन्धेरा सा ही रह जाता है उसी प्रकार मशक-शरीर वर्ती अति सूक्ष्म अवयवशाली आत्मा जब हस्तीके शरीरमें प्रवेश करेगा तो महाविशाल हस्ती के अवयवोंमें से किसी एक भागको ही वह चैतन्य-पूर्ण कर सकेगा बाकी हस्तीके अवयवोंको चैतन्य-पूर्ण नहीं कर सकने के कारण उन में जडता ही रह जाने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है जो किसी को मान्य नहीं है।

प्रश्न—पर्यायसे (क्रमसे) अवयव का आवागमन होता है यानी जब जीवको बृहत् शरीर की प्राप्ति होती है तब कुछ जीव के अवयव आ जाते हैं और जब सूक्ष्म शरीरकी प्राप्ति होती है तो कुछ अवयव घट जाते हैं इस प्रकार अवयव के उपगम और अपगम (हानि-आधिक्य) से एक ही जीव का हस्ती के शरीर में प्रवेश और मशक-शरीर में भी प्रवेश हो सकता है।

समाधान—जीव के अवयव के उपगम और अपगम होने से यानी अवयव के न्यूनाधिक्य मानने से जीव विकारी हो जाता है और विकारवान् होने से शरीर की तरह वह भी अनित्य हो जाता है, तब पूर्वोक्त ज्ञानावरणीयादि आठ प्रकार के कर्मों से परिवेष्टित और संसार-सागर में मग्न जो जीव है उसके बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था भी असंगत हो जाती है और आने-जाने वाले जो अवयव हैं, उनकी उत्पत्ति और विनाश होने के कारण शरीर आदि की

तरह वह अवयवी जीव भी अनात्मा सिद्ध हो जाता है यानी आत्मा पदार्थ ही नहीं हो सकता है। "उन आगमापायी अवयवोंमें जो कुछ अवयव स्थित (मौजूद) है वही आत्मा होगा" यह भी नहीं क्योंकि यह निरूपण नहीं किया जा सकता है कि वही अवयव यह है।

फिर भी आने वाले जो जीवके अवयव हैं वे कहां से उत्पन्न होते हैं ? जाने वाले जो अवयव हैं वे कहां लीन हो जाते हैं ? "भूतों से उत्पन्न होते हैं और भूतों में लीन हो जाते हैं" यह भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि जीव भौतिक नहीं है यानी भूतोंसे जीव की उत्पत्ति नहीं कही गयी है।

कोई दूसरा भी साधारण अथवा विशेष व्यक्ति जीव के अवयवोंका आधार नही हो सकता है क्योंकि उसके आधार होने में कुछ भी प्रमाण नही है ।

फिर भी जीव के जो अवयव हैं उन में एक एक अवयवमें चैतन्य रहेगा ? अथवा समूह मे यानी अवयवों के संघ में चैतन्य रहेगा ?

यदि प्रत्येकमें चैतन्य माना जाय तब तो एक एक अवयवके चेतन होनेसे सब अवयवों का नियमतः एक अभिप्राय नहीं रहने के कारण कभी परस्पर विरुद्ध दिशाओं मे क्रिया करनेसे शरीरका उन्मथन ही हो सकता है।

तात्पर्य यह कि पाद अवयव पूर्व दिशा तो हस्त अवयव पश्चिम

दिशा जाने लगेगा क्योंकि प्रत्येक अवयव चेतन माना जाता है और जो चेतन है वह स्वतन्त्र होता है।

अवयवों मे चैतन्य मानने से हस्ती के शरीर परिमित जो हस्तीका जीव है वह जब मशक-शरीरमे प्रवेश करने लगेगा तो जितने अवयव हस्ति-शरीर में थे उतने अवयव मशक-शरीरमें मा नहीं सकते हैं, कुछ अवयव बाकी रह जायँगे और कुछ अवयवके भी बाकी रहने पर उसमे चैतन्य नहीं रहेगा क्योंकि अवयव-समूह में चैतन्य माना जाता है। कुछ अवयव की कमी होने से भी वह उक्त समूह कभी नहीं कहला सकता है।

प्रश्न—पूर्वोक्त दोष होने से यानी आत्मा को शरीर-परिमाण मानने के कारण महान् या सूक्ष्म शरीरमे समस्त अवयव से आत्माके प्रवेश नहीं होने से आत्मा को अनित्यता हो जाती है, किन्तु "स्रोतः-सन्ताननित्यता-न्याय" से जीवके अनित्य होने पर भी बौद्ध की तरह उसके सन्तान की नित्यता रह सकेगी।

समाधान—सन्तान यदि कुछ वस्तु नहीं है तो नैरात्म्य-वाद हो जाता है और यदि सन्तान वस्तु है तो आत्मा के विकार आदि दोषके प्रसग हो जानेसे उसको सन्तान कहना ठीक नहीं है। देहान्तरमे प्रवेश नहीं होने के कारण मोक्षावस्थाभावी जो जीव-परिमाण है वह नित्य है ऐसा जब जैन लोग मानते हैं तो अन्तिम परिमाणकी तरह उससे पूर्वके यानी आदि और मध्य के जो जीव-परिमाण हैं उनकी भी नित्यता हो जायगी। अन्तिम परिमाण की आद्य-मध्य परि-

माणों से विशेषता क्यों रहेगी इस प्रकार एक शरीर-परिमाण ही जीव सिद्ध होता है यानी एक शरीर का जो परिमाण है वही परिमाण जीव का सदैव रहेगा, किन्तु उपचित और अपचित शरीरान्तरकी प्राप्ति नहीं होगी अर्थात् छोटे बड़े किसी अन्य शरीरमे वह प्रवेश नहीं कर सकेगा अथवा अन्तिम जो जीव-परिमाण है उसकी अवस्थिति और नित्यता रहनेसे आद्य-मध्य कालके जो जीव-परिमाण है उनकी भी अवस्थिति रहेगी, क्योकि आद्य-मध्य और अन्तिम तीनो परिमाण एक ही तो है वही परिमाण आदिमे था वही मध्यमें यही अन्तमे रहेगा तब तो अणु-परिमाणशाली जीव मानना पडेगा अथवा महत्परिमाणशाली जीव मानना पडेगा यानी अणु या महान् से भिन्न, शरीर-परिमाण जीव नहीं हो सकता है इस प्रकार विवेचना करनेसे बौद्धकी तरह आर्हत-मत भी असगत ही मालूम पडता है ।

कृतनाश और अकृताभ्यागम

"जब मशक- शरीर वर्त्ती आत्मा विशाल हस्ति-शरीरमे प्रवेश करता है तब उसमे अन्य अवयव मिल जाते हैं और जब वह हाथीके शरीर से निकल कर मशक-शरीर मे प्रवेश करने लगता है तब उसके कुछ अवयव घट जाते हैं" यह कहना असगत है क्योंकि हाथीके पादसे ले कर मस्तक-पर्यन्त के अवयवके बराबर परिमाण वाले आत्माने कर्म किया था और उसका फल भोग मशक-शरीर मे जब उसी आत्मा को मिलता है तो उस पूव परिमाण के नहीं रहने के

कारण उस आत्माके कुछ ही परिमाणमें फल भोग हो सकता है, समस्त में नहीं हो सकता है अर्थात् मशक-शरीर में नहीं समाविष्ट होने वाले हस्तीके जिन अवयवों के द्वारा कर्म किये गये थे, उन अवयवोंको मशक-शरीरमें फल-भोग नहीं मिलनेके कारण 'कृतनाश दोष' हो जाता है और मशक-शरीर के आत्मा के हस्ति-शरीर में प्रवृष्ट होनेके समय जब अन्य अवयव आकर मिल जाते हैं और हाथी के शरीर में उसी आत्मा को हाथीके शरीरके बराबर अवयवों मे भोग होने लगता है यानी जिन अवयवोंने कर्म नहीं किया था उनमें भी सुख, दुःख की उपलब्धि होने से अकृताभ्यागम दोष हो जाता है क्योंकि मशक शरीर-वर्त्ती सूक्ष्म अवयव-शाली आत्माने कर्म किया था और भोग अन्य आगन्तुक अवयवों में मिल रहा है ।

फिर भी जो अवयव आकर मिलते हैं वे कहा से आते हैं और वे किस के अवयव थे ? जो अवयव घट जाते हैं वे कहां चले जाते है इसका भी कुछ निर्णय नहीं है । इस प्रकार जेन-मत असंगत है यही सर्वथा निश्चित होता है ।

जैन-मत खण्डन समाप्त

—::—

केवल ईश्वर कारणवादी (पाशुपत)

ईश्वरको प्रकृति-पुरुषका अधिष्ठातारूप से केवल निमित्तकारण माननेवालोंमें माहेश्वर हैं। उनके चार भेद हैं—शैव, पाशुपत, कारुणिक-सिद्धान्ती और कापालिक। महेश्वर के प्रणीत सिद्धान्त के अनुयायी होने के कारण उक्त चारो माहेश्वर कहलाते हैं। उन मे सबसे श्रेष्ठ पाशुपत है अत उसीके मतका सक्षेप से यहा उपपादन करते है।

पाशुपत-मत मे पशु-पाश विमोक्ष के लिये यानी जीव के बन्धन से मुक्त होने के लिये पाच पदार्थ कहे गये हैं— कार्य, कारण, योग, विधि, दु खान्त।

प्रधान (प्रकृति) से उत्पन्न जो महदादि तत्त्व हैं उन्हें 'कार्य' कहते हैं। ईश्वर को 'कारण' कहते हैं। ओङ्कार आदिके ध्यान और धारणा आदि को 'योग' कहते है। त्रिषवण स्नान आदि जो धर्मार्थ व्यपार है उसको 'विधि' कहते हैं। दु खान्त को 'मोक्ष' कहते हैं। इस मतमें आत्मा 'पशु' कहलाता है। पाश यानी बन्धन से उसका मुक्त होना 'दु खान्त' है।

इनक मतमें पशुपति ईश्वर ह और वही जगतका केवल निमित्त कारण है उससे अतिरिक्त कुछ भी निमित्त कारण नहीं है। इस तरह किसी प्रकार अपनी अपनी प्रक्रिया के अनुसार वैशेषिक और नैयायिक भी ईश्वरको इस जगतका निमित्त कारण मानते है।

केवल ईश्वर कारणवादके असंगत अंश

ईश्वर को प्रकृति-पुरुष के अधिष्ठातारूप से जो जगत का केवल निमित्त कारण कहा गया है उसमें कुछ भी प्रमाण नहीं है क्योंकि वार वार आगम (श्रुति)योंमें ईश्वर को जगत का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों कहा गया है अतः आगम प्रमाण के अनुसार ईश्वर केवल निमित्त कारण नहीं कहा जा सकता है। अनुमान का सभव नहीं है क्योंकि अनुमान प्रमाण प्रत्यक्षानुसारी होता है और प्रत्यक्ष के अनुसरण से असमञ्जस हो जाता है।

सारांश यह कि आगम प्रमाणसे जो ईश्वर की सिद्धि होती है उस में प्रत्यक्ष प्रमाण की आवश्यकता नहीं है क्योंकि स्वर्ग, अपूर्व (धर्म-अधर्म) और देवता आदि का आगम के द्वारा निर्णय होता है, उस में कुछ भी प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता है। आगम कभी प्रत्यक्ष के समान धम से प्रवृत नहीं होता है अत. आगम की सिद्धि के लिये प्रत्यक्ष के विपरीत स्वभाव के जो अप्रत्यक्ष पदार्थ हैं उन की भी आगम के द्वारा कल्पना की जाती है, यदि कहीं आगम में प्रत्यक्षका अनुसरण उपलब्ध होता है तो वह केवल सुहृद्‌भाव मात्र से अनुसरण किया गया है किन्तु उसे कुछ आवश्यकता नहीं है।

अनुमान प्रमाण यद्यपि)आगम की अपेक्षा नहीं करता है किन्तु वह प्रत्यक्ष के अनुसार ही प्रवृत होता है। प्रत्यक्ष के विपरीत कथमपि वह प्रवृत्त नहीं होता है और अनुमान के द्वारा ईश्वर में प्रत्य-

क्षके विपरीत कल्पना करनी पड़ती है क्योंकि ईश्वर में राग-द्वेष के प्रसंग उपस्थित हो जाने से ईश्वरता का व्याघात हो जाता है। जगत में कोई प्राणी हीन है, कोई मध्यम है, कोई उत्तम है और सब प्राणी केवल ईश्वर रचित हैं इस प्रकार भेद-भाव दृष्ट होने से वह ईश्वर ही नहीं कहला सकता है।

तात्पर्य यह कि यदि ईश्वर दयालु है और राग-रहित है तो क्यों किसी प्राणी को पाप कर्म मे प्रवृत्त कराता है। किसी प्राणी के द्वारा वैसे कर्म उत्पन्न होने पर भी ईश्वर क्यों उसका अधिष्ठाता (नियन्ता) बनता है क्योंकि ईश्वर के अधिष्ठाता नहीं बनने से ही प्राणी को दुःख भोगना नहीं पड़ेगा। ईश्वर के अधीन में रहने वाला मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता से पाप कर्म नहीं कर सकता है अथवा ईश्वर के अधिष्ठातृत्व नहीं रहने से वह पाप कर्म भी फल-प्रदान नहीं कर सकता है अतः स्वतन्त्र भी ईश्वर कर्म के द्वारा प्रवृत्त होता है यह प्रत्यक्ष-विपरीत कल्पना करनी पडती है, "प्राणी के कर्म के अनुसार ही ईश्वर की प्रवृत्ति होती है" यह भी नहीं क्योंकि तब यह निर्णय नही हो सकता है कि ईश्वर का प्रवर्त्तक कर्म है अथवा ईश्वर ही कर्मका प्रवर्त्तक है क्योंकि कर्म के अधीन ईश्वर की प्रवृत्ति और ईश्वर-प्रवृत्ति के अनुसार कर्म किया जाता है इस प्रकार प्राणी के कर्म और ईश्वर मे अन्योऽन्याश्रय दोष हो जाता है।

"कर्म और ईश्वर के अनादि रहने के कारण बीजाङ्कुरवत् अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं होगा क्योंकि पूर्व काल के कर्म के द्वारा

वर्तमान कालके कर्म मे ईश्वर की प्रवृत्ति होती है और ईश्वरके द्वारा वह वर्त्तमान कालिक कर्म अपने कार्य मे प्रवृत्त कराया जाता है" यह भी नही क्योंकि पूर्वकालका कर्म तो ईश्वरसे प्रवृत्त नहीं कराया गया था वह कैसे ईश्वर-प्रवृत्तिलक्षण अपना कार्य सम्पादन करेगा अर्थात् उस कर्मके द्वारा ईश्वरकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है जिस कर्मका ईश्वर अधिष्ठाता नहीं था। वह पहला कर्म भी उससे पहले कर्मसे प्रवर्तित ईश्वर के द्वारा प्रवृत्त होता है ऐसा कहने से अन्ध-परंपरा दोष हो जाता है। चक्षुवाला पुरुष अन्ध को ले जा सकता है और अन्ध पुरुष अन्ध को नहीं ले जा सकता है इसी प्रकार यहां भी कर्म और ईश्वर दोनों ही जब एक दूसरे से प्रवृत्त कराये जाते हैं तब कौन किस का प्रवर्त्तक कहा जा सकता है। कोई भी पुरुष विना दोष से स्वार्थ अथवा परार्थ किसी में भी प्रवृत्त नहीं देखा जाता है और स्वार्थ-प्रयुक्त ही परार्थ मे सब किसी की प्रवृत्ति होती है।

"करुणा से भी लोगों की प्रवृत्ति होती है और करुणा कोई दोष नहीं है" यह भी नहीं, क्योंकि करुणा होने से दुःख होता है अतः उस दुःख का निवारण करने के लिये दयालु व्यक्ति की स्वार्थ-प्रयुक्त ही प्रवृत्ति होती है और स्वार्थ-प्रयुक्त प्रवृत्ति ईश्वरकी मानने से उसमें अनीश्वरत्वका प्रसंग हो जाता है इस प्रकार गवेषणा करने से यह केवल ईश्वरकारणवाद समीचीन नहीं है यही निश्चित होता है

केवल ईश्वरकारणवाद का खण्डन समाप्त

—:०:—

सप्रकृति ईश्वर कारणवादी (भागवत)

जो लोग प्रकृतिसापेक्ष ईश्वर को इस जगत का कारण मानते हैं यानी प्रकृति और अधिष्ठाता यह उभयात्मक कारण ईश्वर है इस रूपसे ईश्वर को जगत् का कारण मानते हैं उनमें भागवत भी हैं, यहां उन्हीं का मत दिखाया जाता है ।

भागवत-मतम निरञ्जन-ज्ञानस्वरूप एक वासुदेव भगवान् ही परमार्थ सत्त्व है। वह चार प्रकार से अपनी आत्मा का विभाग करके प्रतिष्ठित होता है। जैसे—वासुदेव व्यूहरूपसे, संकर्षण व्यूहरूपसे प्रद्युम्नव्यूहरूपसे और अनिरुद्धव्यूहरूपसे वह विभक्त है ।

भागवत-मत में परमात्मा को 'वासुदेव' कहते हैं । वासुदेव ही परा प्रकृति यानी सब के मूल कारण हैं वही परमेश्वर, भगवान् हैं वह गुण-संपन्न है। जीवको 'संकर्षण' कहते हैं। संकर्षणसे ले कर सब कार्य हैं। वासुदेव से इसकी उत्पत्ति होती है । मनको 'प्रद्युम्न' कहते हैं । संकर्षण से इसकी उत्पत्ति होता है । अहंकार को 'अनिरुद्ध' कहते हैं। प्रद्युम्नसे इसकी उत्पत्ति होती है, भगवान् नारायण पर ब्रह्म हैं वही वासुदेव आदि चार प्रकार के व्यूहसे अवस्थित हैं । भगवत् प्राप्ति को 'मोक्ष' कहते है

मोक्ष के साधन

अभिगमन, उपादान, यज्ञ, स्वाध्याय और, योग ये पाच भगवत्प्राप्तिरूप मोक्षके साधन हैं। सैंकड़ों वप इन साधनों के धारण करने से जीवके समस्त क्लेश क्षीण हो जाते हैं ।

अभिगमन

प्रातःकालमे भगवान के मन्त्र का जप करना और भगवान् की स्तुति-नमस्कार आदि करना 'अभिगमन' है।

उपादान

मन्त्र, जप, स्तुति और नमस्कार करने के पश्चात् भगवान की पूजा के लिये पुष्पादि का संपादन करना 'उपादान' है।

यज्ञ

पुष्प आदि सामग्री का सम्पादन करके भगवान् का पूजन करना 'यज्ञ' कहा जाता है।

स्वाध्याय

भगवान् के संबन्धी शास्त्र, पुराण और आगम (श्रुति)ओंका श्रवण, चिन्तन आदि करना 'स्वाध्याय' है।

योग

सायं काल के सन्ध्या-कृत्य करनेके पश्चात् भगवान् में चित्तको एकाग्ररूपसे स्थिर रखना 'योग' कहलाता है।

भागवत-मतके असंगत अंश

इस मत मे कुछ अंश तो श्रुति और स्मृति के अनुकूल हैं अतः वे अंश मान्य हैं किन्तु जो अंश श्रुति-स्मृतिके विपरीत हैं उन अंशो का ही खण्डन करते हैं।

भागवत-मत या विष्णु भागवत मतमें यह जो कहा गया है कि एक

ही पर ब्रह्म परमात्मा स्वयं अपनी आत्माको अनेक प्रकारसे रच कर वासुदेव आदि चार व्यूह से अवस्थित है और उस भगवान की अभिगमनादिरूप आराधना अनन्य चित्तसे करनी चाहिये यह सब अंश शास्त्रीय और युक्ति-युक्त है क्योंकि "स एकधा भवति द्विधा भवति" (छा ७। २६। २) इत्यादि श्रुतियोंसे परमात्मा का अनेकस्वरूप होना ज्ञात होता है और ईश्वर-प्रणिधान (भक्ति) भी श्रुति-स्मृति में कथित है, किन्तु यह जो भागवत, मत में कहा जाता है कि वासुदेव से संकर्षण उत्पन्न होता है। संकर्षण से प्रद्युम्न उत्पन्न होता है और प्रद्युम्नसे अनिरुद्ध उत्पन्न होता है यह अनर्गल प्रलाप है क्योंकि वासुदेवस्वरूप परमात्मा से संकर्षण स्वरूप जीव की उत्पत्ति मानने से जीव की अनित्यता हो जाती है और जीव के अनित्य होने पर वह परलोक में जाने वाला नहीं होगा जब जीव पर लोक मे नहीं जायगा तो परलोक का ही अभाव हो जायगा, इस प्रकार स्वर्ग, नरक और मोक्ष के अभाव होने से नास्तिकता हो जाती है, तब तो भगवत्-प्राप्तिरूप मोक्ष भी जीवको नहीं मिल सकता है, क्योंकि कारणकी प्राप्ति होने से ही कार्यका लोप हो जाता है। जीवको अपने कारणस्वरूप भगवान् की प्राप्ति होने से जीव का ही उच्छेद हो जाता है।

शास्त्रोंमें जीव की उत्पत्ति का निषेध भी किया गया है। जैसे— "नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः" (ब्र० सू० २। ३। १७) इस लिये उक्त कल्पना असंगत है यही निश्चित होता है।

भागवत-मत में संकर्षण (जीव) से प्रद्युम्न (मन) की उत्पत्ति मानी गयी है यह सर्वथा असंगत है क्योंकि किसी कर्तासे करण की उत्पत्ति लोगों में दृष्ट नहीं है। कर्ता जो देवदत्त है उससे परशु (कुल्हाडी) की उत्पत्ति कभी नहीं देखी गयी है, अतः कर्ता जीव से करण स्वरूप मन की कैसे उत्पत्ति हो सकती है और कर्ता से उत्पन्न उस मन से अनिरुद्ध (अहंकार) का उत्पत्ति मानने में कुछ भी दृष्टान्त नहीं है और अकरण यानी करण से रहित जो जीव है उससे जब प्रद्युम्न (मन रूप) करण की उत्पत्ति मानी जाती है तो करण-निर्माण व्यर्थ है क्योंकि बिना करणसे ही समस्त कार्य की सिद्धि हो जायगी अतः उक्त कल्पना समीचीन नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि ये संकर्षण आदि जो जीव प्रभृति पदार्थ हैं वे सब ईश्वर ही हैं। ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य, तेज ये जो ईश्वर के धर्म हैं, इन धर्मों से युक्त हैं अतः ये सबके सब वासुदेव ही हैं अधिष्ठान-शून्य हैं और सब निर्दोष हैं, तब भी दोष रह जाता है क्योंकि ये वासुदेव आदि परस्पर भिन्न चार व्यक्ति ईश्वर के समान धर्मके हैं, इन सबका अभेद नहीं है तो एक ही ईश्वरसे कार्यकी सिद्धि होनेसे अनेक ईश्वर की कल्पना निरर्थक हो जाती है और सिद्धान्त की भी हानि हो जाती है क्योंकि एक ही भगवान् वासुदेव परमार्थ तत्त्व हैं यही भागवत-मत का सिद्धान्त है।

यदि यह कहा जाय कि एक ही भगवान् के संकर्षण आदि चार व्यूह हैं और उन सबके धर्म समान हैं, कुछ भी तारतम्य (न्यूनाधिक्य)

उनमें नहीं है तो भी उत्पत्तिका असभव रूप दोष हो जाता है क्योंकि वासुदेव से सकर्षण की उत्पत्ति, सकर्षण से प्रद्युम्न की उत्पत्ति और प्रद्युम्नसे अनिरुद्ध की उत्पत्ति असभव है क्योंकि कार्य और कारणमें कुछ अतिशय (विशेषता) अवश्य रहता है। जैसे मिट्टी और घटमें अतिशय रहता है। कुछ भी अतिशय (फर्क) नहीं रहने से यह कार्य है और यह कारण है इस प्रकार की कल्पना नहीं हो सकती है। पचरात्र-सिद्धान्तीने यानी भागवतमतावलम्वी ने भी वासुदेव आदिमें एकमें या सवमें ज्ञान, ऐश्वय आदि का न्यूनाधिक्य मान कर कुछ भेद माना है।

यद्यपि सव सकर्षण आदि व्यूह समानरूपसे वासुदेव ही हैं, किन्तु भगवान्के व्यूह उक्त चार ही नहीं हैं। समस्त ब्रह्माण्ड भगवान् के ही व्यूह हैं। भागवत-सिद्धान्त मे वहुत कुछ अनगल प्रलाप दृष्ट होता है जसे गुण–गुणी की कल्पना की गयी है।

ज्ञान, ऐश्वय शक्ति, वल, वीय, तेज गुण हैं आर गुणी आत्मा है। गुणी आत्मा से ज्ञान आदि गुण का भेद कह कर फिर दोनों का अभेद कहा जाता है। जेसे— 'आत्मान एवैते भगवन्तो वासुदेवा इति।"

फिर भी भागवत-मतम वेदकी निन्दा देखी जाती है। जसे— चतुर्षु वेदेषु पर श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इद शास्त्रमधिगतवान्" यानी चारों वेदोंमें परम कल्याण को प्राप्त नहीं कर के शाण्डिल्य मुनि ने इस शास्त्रका अध्ययन किया" इस प्रकार वेद की निन्दा दृष्ट होती है।

आगम-सिद्धान्त, दिव्य-सिद्धान्त, तन्त्र-सिद्धान्त, तन्त्रान्तर-सिद्धान्तरूपसे चार प्रकारके पंचरात्र हैं। उस पंचरात्र में परस्पर विरोध भी है और वह अवैदिक है यानी वेदसे बाह्य है। जैसा कहा गया है—

आग्नेयंपांचरात्रंतु दीक्षायुक्तं च तान्त्रिकम्।
अवैदिकत्वात्तत्तन्त्रं ततो वैखानसेन तु।
सौम्येन वैदिकेनैव देवदेवं समर्चयेत् ॥

इस प्रकार की विवेचना से निश्चित होता है कि भागवत-मतकी उक्त कल्पना असंगत है।

* भागवत-मतके असंगत अंशका खण्ड न समाप्त।*

—::*::—

जीवात्मा के अणुत्व वाद

मध्वाचार्य प्रभृति वैष्णव दार्शनिक गणके मत में जीवात्मा अणु है एवं प्रत्येक शरीर में भिन्न और असंख्य हैं। उन लोगोंके मतमें जीव और ईश्वर का वास्तव भेद माना गया है। उस के प्रमाण स्वरूप कुछ श्रुति-स्मृति भी उपलब्ध है जिस पर अणुत्व-वाद अवलम्बित है। जैसे—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः सचानन्त्याय कल्पते॥

(श्वेताश्वतर ५।६)

"एषोऽणुरात्मा" इत्यादि (मुण्डक, ३।१।६) मध्वाचार्य प्रभृतिने "अविरोधश्चन्दनवत्" (वेदान्त सू० २।३।२३) इस सूत्रको सिद्धान्त सूत्ररूप से ही ग्रहण किया है। उन्होंने उक्त सूत्र का इस प्रकार तात्पर्य-वर्णन किया है— जैसे हरिचन्दन-विन्दु शरीर के किसी एक भागमें रह कर भी वह समस्त शरीर में व्याप्त होता है यानी समस्त शरीर में उसका कार्य होता है उसी प्रकार अणु जीव भी शरीर के किसी एक भाग में ही रहता है किन्तु समस्त शरीरमें उसका कार्य यानी सुख-दुःख आदि की उपलब्धि होती है। मध्वाचार्यने इस विषय को ले कर अपने भाष्यमें 'ब्रह्माण्ड पुराण' का भी एक वचन उद्धृत किया है। जैसे —

अणुमात्रोऽप्ययं जीवः स्वदेहे व्याप्य तिष्ठति ।
यथा व्याप्य शरीराणि हरिचन्दविप्लुषः ॥

(मध्वभाष्यमें ब्रह्माण्डपुराण वचन)

'सूक्ष्माणामप्यहं जीवः" इस वाक्यको भी श्रुति कह कर उन्होंने उल्लेख किया है और अपने अणुत्ववाद-मतका स्थापन किया है ।

अणुवाद-पक्ष में जीव और ईश्वर का स्वरूपतः ऐकान्तिक भेद माना गया है ।

जिस प्रकार कस्तुरी का गन्ध शरीर के किसी एक प्रदेश में रह कर भी समस्त शरीर को सुगन्धित कर डालता है उसी प्रकार अणु आत्मा भी शरीरके किसी एक सूक्ष्म प्रदेशमें ही रहता है किन्तु उसके ज्ञान आदि गुण समस्त शरीर में फैल जाते हैं यानी समस्त शरीर में सुख-दुःख आदि का अनुभव होता रहता है ।

जीवात्माके अणुत्ववादका खण्डन

भगवान् शङ्कराचार्यने वेदान्त सूत्रके अणुत्ववादकी पूर्वपक्षरूप से व्याख्या करके जीव के विभुत्व का ही समर्थन किया है । उन्होंने कहा है-कि श्रुतियों में जहा पर जीवात्माका अणुत्व प्रतिपादन किया गया है, वहा श्रुति का तात्पर्य है कि जीवात्मा अणु अर्थात् सूक्ष्म है यानी दुर्ज्ञेय है, किन्तु जीवात्मा अणुपरिमाण है यह श्रुतिका तात्पर्य नहीं है अथवा जीवात्मा के उपाधि जो अन्तः-करण है उसके अणुत्व को ले कर जीवात्मा को अणु कहा गया

है। जैसा कहा है— तस्माद्दुर्ज्ञानत्वाभिप्रायमिदमणुवचनमुपाध्य भिप्राय वा द्रष्टव्यम् (वेदान्त द० २। ३। २०। सूत्रका भाष्य)

जीवात्माका जो अणुत्वका प्रतिपादन किया गया है वह औपाधिक है, वास्तव नहीं है क्योंकि अनेकानेक श्रुतियों के द्वारा यही समझा जाता है कि जीवात्मा महान् और ब्रह्मस्वरूप है अत जीवात्माका वास्तविक अणुत्व कभी श्रुति समत नहीं कहा जा सकता।

नैयायिक, वैशेषिक, साङ्ख्य, पातञ्जल और मीमासक सम्प्रदाय के अद्वैतवादी नहीं रहने पर भी जीवात्मा के विभुत्व सिद्धान्तको उन्होंने भी माना ही है।

'नित्य सर्वगत स्थाणुरचलोऽय सनातन' (भगवद्गीता २। २४।) इत्यादि वचनोंसे जीवात्माका विभुत्व सिद्धान्त ही स्पष्टरूपसे ज्ञात होता है।

पुमान् सवगतो व्यापी आकाशवदय यत ।
कुतः कुत्र क गन्तासीत्येतदप्यर्थवत् कथम् ॥
(विष्णुपुराण २। १५। २४)

"विभुत्वमत एवास्य यस्मात् सर्वगतोमहान् ।" (चरकसहिता २३। २४।) इसप्रकार अनेकानेक श्रुति, स्मृति रहनेसे जीवात्माका परिमाण विभु है यही निश्चित होता है।

कहीं कहीं जीवात्मा की उपाधि अन्तःकरण अथवा सूक्ष्म शरीर ही 'जीव' शब्द से कहा गया है यही समझा जाता है।

न्याय और वैशेषिक-शास्त्रमे सूक्ष्म शरीरका कहीं भी उल्लेख

नहीं है किन्तु सूक्ष्म शरीर के स्थान में उन लोगोंने अणु मन को माना है अतः उनके मतमे मनके अणुत्व को ले करके ही जीवात्माका अणुत्ववाद है ऐसा समझा जाता है।

उपनिषद् में भी जो जीव की गतागति वर्णित है वह भी मन के संबन्ध में ही है ।

प्राचीन वैशेषिकाचार्य प्रशस्त पाद ने कहा है कि "मृत्यु के बाद शरीर से मन के निकलने के समय 'आतिवाहिक' शरीर विशेष की उत्पत्ति होती है और उस समय मन ही उस शरीर में आरूढ हो कर स्वर्ग-नरक आदि मे गमन करता है" इस से निश्चित होता है कि नैयायिकसंप्रदायका भी वही प्राचीन सिद्धान्त है । (प्रशस्तपाद-भाष्य, कन्दलीसहित, काशी सस्करण, ३०९ पृष्ठ द्रष्टव्य)

साराश यह कि नैयायिक, वैशेषिक और मीमासक संप्रदायने जीवात्माको प्रति शरीरमें भिन्न और विभु मान करके भी कर्त्ता और सुख-दुःख का भोक्ता माना है।

जीवात्मा को अणु मानने से शरीर के समस्त अवयव में उस के सयोग सभव नहीं होने के कारण समस्त अवयव में ज्ञान आदि उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। अत्यधिक शीत से कम्पमान जीव अपने समस्त अवयव मे जो शीत का अनुभव करता है वह कैसे हो सकता है क्योंकि जिसको शीत का अनुभव होता है वह जीवात्मा तो अणु माना जाता है और उस अणु जीव का समस्त अवयव के साथ संयोग नहीं रह सकता है .

अनित्य, सावयव, चन्दनविन्दु, कैसे नित्य, निरवयव जीवात्माका दृष्टान्त हो सकता है ?

फिर भी जीवात्मा के अणु-परिमाण होने से उस मे सुख-दुःख आदि का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है क्योंकि आश्रय यदि अणु-परिमाण रहता है तो तद्गत सुख-दु ख आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता है, अत एव परमाणु-वर्त्ती रूप आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता है।

इस प्रकार गवेषणा करनेसे निश्चित होता है कि जीवात्मा अणु-परिमाण नहीं है अतः जीवात्मा का अणुत्ववाद कथमपि मान्य नही है किन्तु जीवात्मा का विभुत्ववाद ही युक्ति-युक्त है।

प्रश्न—परमात्मा की तरह जीवात्मा के विभुत्व मानने से उन दोनों का संयोग संवन्ध नहीं हो सकता है और अन्य भी कोई संवन्ध नहीं हो सकता है तब परमात्मा (ईश्वर) जीवात्मा के धर्माधर्मरूप अदृष्ट का अधिष्ठाता है यह किस प्रकार कहा जा सकता है !

फिर भी जीवात्मा के साथ परमात्मा (ईश्वर) के किसी प्रकार के संवन्ध ही नहीं रहने से उसके अदृष्ट समूह के साथ भी किसी प्रकार के संवन्ध नहीं रहने से ईश्वर उसका अधिष्ठाता नहीं हो सकता है और उसके अधिष्ठाता नहीं होने से जीवात्मा के अदृष्ट समूह की फलोत्पत्ति किस प्रकार होगी !

समाधान—किसी आचार्य के मत से विभु पदार्थ का पर-

स्पर नित्य संयोग माना गया है और प्रमाण-द्वारा उसका प्रतिपादन भी किया गया है।

• यद्यपि विभु (व्यापक) पदार्थ में कुछ भी क्रिया नहीं रहने के कारण उनका क्रिया-जन्य संयोग उत्पन्न नहीं हो सकता है किन्तु वह संयोग नित्य है। आकाश आदि विभु पदार्थ सदैव परस्पर संयुक्त ही रहते हैं

इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा के नित्य संयोग संबन्धकी विद्यमानता रहने पर जीवात्मा के अदृष्ट-समुदाय का अधिष्ठाता परमात्मा हो सकता है।

जिनके मत में विभुद्वय का यानी दो विभु पदार्थों का संयोग स्वीकार नहीं किया गया है उन के मत में क्रियावान् मन के साथ परमात्मा का संयोग उत्पन्न होता ही है और उस मन से जीवात्मा का तो संयोग विद्यमान ही है इस परम्परा क्रम से मनः संयुक्त जीवात्मा के साथ परमात्मा का 'संयुक्त-संयोग' रूप संबन्ध उत्पन्न होता है।

उक्त प्रकार उस जीवात्मा के धर्माधर्मरूप अदृष्ट के साथ भी ईश्वर के परम्परा से संबन्ध रहने से ईश्वर उसका अधिष्ठाता हो सकता है।

सारांश यह कि उक्त दोनों मत में भी जीवात्माके अदृष्ट के साथ परमात्मा का संयोग साक्षात् अथवा परम्परया किसी प्रकार रहता ही है। आधुनिक प्रचलित नैयायिक संप्रदाय में विभुद्वय का

परस्पर संयोग नहीं माना गया है किन्तु प्राचीन अनेक नैयायिकोंने उसे माना है ।

वेदान्त दर्शन के "संवन्धानुपपत्तेश्च" (२ । २ । ३८) इस सूत्र के भाष्य में प्रकृति, पुरुष, और ईश्वर के संयोग संबन्ध की अनुपपत्ति (असिद्धि) के समर्थन करते हुए भगवान् शंकराचार्यने उसके हेतुमें प्रथम विभुत्व को ही कहा है यानी प्रकृति-पुरुष ईश्वरमें विभुत्व रहने के कारण ही उनका परस्पर संयोग नहीं हो सकता है ऐसा कहा है और उस स्थल पर भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने भी 'विभु होने के कारण और निरवयव होने के कारण विभु पदार्थों का परस्पर संयोग नहीं हो सकता है' ऐसा कहा है किन्तु उस से पहले उन्होंने विभु पदार्थों के परस्पर नित्य संयोग का भी समर्थन किया है। जैसे— "तन्न, नित्ययोरात्माकाशयोरजसंयोगे उभयस्या अपि युतसिद्धेरभावात्। नचाजसंयोगो नास्ति, तस्यानुमान-सिद्धत्वात्। तथाहि आकाशमात्मसंयोगि, मूर्त्तद्रव्यसंगित्वात् घटादि-वदित्यनुमानम्।"

(वेदान्त दर्शन २ । २ । १७ सूत्र के शेष भाष्यकी "भामती" द्रष्टव्य)

इस प्रकार विभुद्वयके संयोगके विषयमें भामती टीका में श्रीमद्वाचस्पति मिश्रके भी दोनों प्रकारके विरुद्ध कथनके उपलब्ध होने से यही निश्चित होता है कि उस समय भी इस विषयमें मत-भेद था

फिर भी अणु आत्मवादी के चैतन्यरूप अणु आत्मा का ज्ञान गुण है यह कहना अत्यन्त युक्ति-रहित है क्योंकि आत्मा स्वयं

चैतन्यस्वरूप है और चैतन्य गुण पदार्थ है तो फिर उसमें ज्ञान गुण की उत्पत्ति कैसे कही जा सकती है, गुण में गुण उत्पन्न नहीं होता है किन्तु द्रव्य मे गुण उत्पन्न होता है और चैतन्य तथा ज्ञान दोनों एक ही पदार्थ हैं तो ज्ञान में ज्ञान की उत्पत्ति असंभव है।

फिर भी वह अणु आत्मा शरीर के किसी एक सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रदेश में ही रहता है तब किसी एक अग में कण्टक-वेध होने से समस्त शरीर में पीडा का अनुभव नहीं होना चाहिये यानी शरीर के जिस सूक्ष्म तम भाग में आत्मा विद्यमान है वहीं कण्टक-वेध होने से वहीं पीडा होनी चाहिये क्योंकि सुख, दु ख आदि का अनुभव तो वहीं होगा अन्यत्र नहीं होगा किन्तु यह अनुभव-विरुद्ध है क्योंकि शरीर के किसी एक प्रदेश में पीडा होने से समस्त शरीर में उसका अनुभव होने लगता है इस प्रकार असमंजस होनेसे अणु आत्मवाद या अणुत्ववाद कथमपि मान्य नहीं है किन्तु विभु आत्मवाद या विभुत्व वाद ही सर्वथा आदरणीय है।

कस्तूरी के गन्ध का दृष्टान्त भी समीचीन नहीं क्योंकि यह असम्भव है कि किसी गुणवान् पदार्थका गुण उस गुणवान पदार्थ को छोड कर अकेला कहीं अन्यत्र रह सके। घटके साथ साथ ही सर्वत्र उस के शुक्ल, नील आदि गुण रहते हैं अत कस्तूरी को छोड कर उसका गन्ध गुण कहीं नहीं, जा सकता है।

साराश यह कि "कस्तूरी एक ही प्रदेश में विद्यमान रहता है और उसका गन्ध समस्त शरीरमें फैल जाता है", यह कहना युक्ति-

रहित है क्योंकि कस्तूरी के परमाणुओं के साथ उसका गन्ध फैलता है, अन्यथा कभी नहीं फैलता है।

कर्पूर, कस्तूरी आदि किसी वर्त्तनमें जब अच्छी तरहसे बन्द नहीं रहता है तो हवा से उनके परमाणु सब उड़ जाते है इस प्रकार समस्त परमाणुओं के उड़ जाने से कस्तूरी आदि का कहीं पता भी नहीं रहता है और जब शीशे के वर्त्तन आदि में सुरक्षित रूप से बन्द रहते हैं, उनमें हवा नहीं लगते हैं तो उन के परमाणुओंके नहीं उड़ने से उन का गन्ध भी नही फैलता है यह प्रत्यक्ष है इस प्रकार विचार करने से अणु आत्म वादी का एक भी युक्ति समीचीन नहीं है यही निश्चित होता है।

* अणुत्वबाद का खण्डन समाप्त *

वैशेषिक दर्शन प्रारम्भ

वैशेषिक दर्शन का मूल आचार्य कणाद या कणभक्ष हैं इन्हीं महर्षि से वैशेषिक दर्शन का आविर्भाव हुआ है अतः इसका नाम वैशेषिक है।

षट् दर्शन के अन्तर्गत वैशेषिक दर्शन है। "विशेषेनाधिकृतोग्रन्थ. वैशेषिक."-विशेष पदार्थको ले कर यह ग्रन्थ किया गया है अतः इसका नाम वैशेषिक है।

परमाणु ही इस दर्शन का] विशेष पदार्थ है। विशेष पदार्थ के प्राधान्य स्वीकृत होने से यह ग्रन्थ "वैशेषिक दर्शन" नाम से प्रख्यात है।

कणाद ऋषि इस दर्शन शास्त्र के प्रणेता हैं। उन्हीं का नामान्तर उलूक भी है अतः माधवाचार्यने अपने सर्व-दर्शन संग्रह में वैशेषिक दर्शन को औलूक्य दर्शन नाम से उल्लेख किया है।

यह दर्शन षट पदार्थवादी अथवा सप्त पदार्थवादी है इस के संबन्ध में मत-भेद है किन्तु इस के उद्देश सूत्र में छः पदार्थों का ही उल्लेख किया गया है।

धर्मविशेषप्रसूतद्रव्यकर्मसामान्य विशेषसमवायानाम्।
पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्या तत्त्वज्ञानान्नि. श्रेयसम्॥
(वैशेषिक दर्शन १।१।१४)

अर्थात् निवृत्ति लक्षण धर्मसे समुत्पन्न, द्रव्य, गुण, कर्म, समान्य विशेष और समवाय पदार्थ के साधर्म्य और वैधर्म्य से अर्थात् कौन धर्म किस पदार्थ के समान धर्म हैं और कौन धर्म किस पदार्थ विरुद्ध धर्म हैं इस को जान कर तत्त्वज्ञान प्राप्त करने से अथ इन सब तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान अथवा तत्त्व-साक्षात्कार होने से निःश्रेयस लाभ होता है।

न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन के मतानुसार कणाद षट् पदार्थ वादी हैं। जैसे प्रमेय सूत्र के भाष्य में उन्होंने वैशेषिक दर्शनको लक्ष्य करके कहा है कि-"अस्त्यन्यदपि द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवायाः प्रमेयम्"। सांख्य दर्शन के मतानुसार भी कणाद षट् पदार्थ वादी हैं। जैसा कहा है— "न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्। (सांख्यदर्शन १ अध्या०)

वैशेषिक दर्शन को काणाद दर्शन भी कह सकते हैं। इस दर्शन में सात पदार्थ माने गये हैं जैसे-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, और अभाव।

द्रव्य

पृथवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन इन नौ वस्तुओं को द्रव्य पदार्थ कहते हैं।

गुण

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग,

विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार ये २४ गुण हैं।

कर्म

उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना), अपक्षेपण (नीचे फेंकना), आकुञ्चन (सिकुड़ना), प्रसारण और गमन ये पांच कर्म हैं।

सामान्य (जाति)

पर और अपर दो सामान्य हैं। अधिक देश-वर्त्ती पर सामान्य है और उस की अपेक्षा जो अल्प देश-वर्त्ती है, वह अपर सामान्य है।

जैसे—मनुष्यत्व पर है और ब्राह्मणत्व अपर है। वृक्षत्व पर है और आम्रत्व अपर है। सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन चारों पदार्थों में जाति नहीं रहती हैं यानी द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थों में ही जाति रहती है।

विशेष

नित्य द्रव्य में रहनेवाले एक प्रकार के पदार्थ हैं, जिन्हें विशेष कहते हैं।

विशेष पदार्थ अनन्त और नित्यद्रव्याश्रित हैं यानी नित्य द्रव्यमें रहने वाले विशेष पदार्थ अनन्त हैं। पृथिवी, जल, तेज और वायु के जो परमाणु हैं वे परमाणु नित्य हैं और आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन ये पांचों नित्य द्रव्य हैं।

कहनेका तात्पर्य यह है कि मनुष्य से विलक्षण प्रतीति जो पशुमे होती है यानी मनुष्यसे जो पशुका भेद होता है उसका नियामक यानी मनुष्यसे पशुको भेदक जाति है अर्थात् एक ऐसी विलक्षण जाति मनुष्यमें है जो जाति पशु आदिमे नहीं है अत. मनुष्यसे पशु भिन्न होता है।

एक मनुष्यसे जो दूसरा मनुष्य भिन्न होता है यानी एक व्यक्तिसे दूसरे व्यक्ति का जो परस्पर भेद होता है उसका निमित्त रूपादि या अवयवाकी बनावट है जिससे एक मनुष्य से दूसरा मनुष्य भिन्न कहा जाता है। इसी प्रकार एक पार्थिव परमाणु से दूसरा पार्थिव परमाणु भिन्न है यह जो लोगों की प्रतीति होती है उसका भी कोई निमित्त होना चाहिये एक ही जाति, गुण, कर्म वाले परमाणुओं में एक की दूसरे से विलक्षण प्रतीति कैसे हो सकती है क्योंकि परमाणुओं मे बनावट आदिका कोई भेद नही रहता है। उसमें रूप आदि तो अनुद्भूत रहता है अतः परमाणुओंमें एक विशेष पदार्थ रहता है ऐसा माना गया है। परमाणुओं में ही नही, नित्य द्रव्य मात्रमें एक एक विशेष (अतिशय) रहता है जो एक को दूसरे से भिन्न करता है। वही भेदक है, उसी से परस्पर परमाणुओं का या अन्य नित्य द्रव्य का भेद कहा जाता है।

अनित्य द्रव्यों में अपने अवयव के भेदसे भेद कहा जाता है और वह अन्तिम अवयव जो परमाणु कहा जाता है उसका भेद कैसे कहा जा सकता अतः उस परमाणु में एक विशेष पदार्थ माना जाता है उसके मानने से कुछ असमञ्जस नहीं होता है।

इस विशेष पदार्थ को इसी दर्शन ने माना है अतः इसको वैशेपिक दर्शन कहते हैं।

समवाय

समवाय (एक प्रकार का संबंध) एक ही है। जैसे गुण गुणीका, अवयव-अवयवीका, क्रिया-क्रियावानका, जाति-व्यक्तिका और नित्य द्रव्य-विशेपका जो संवन्ध है वह समवाय है

अर्थात् समवाय संवन्ध से गुणी में गुण रहता है, अवयवी में अवयव भी समवाय संवन्ध से रहता है, क्रियावाले में क्रिया भी समवाय संवन्ध से रहती है और व्यक्ति में जाति जो रहती है वह समवाय सम्वन्ध से रहती है और नित्य द्रव्यों में विशेष भी समवाय संवन्ध से रहता है।

कपाल आदि में घट आदि का, द्रव्य में गुण और कर्म का, द्रव्य-गुण-कर्म में जाति का और परमाणु प्रभृति नित्य द्रव्य में विशेष नामक पदार्थ का जो संवन्ध रहता है उसे (समवाय) कहते हैं।

घट आदि पद से साधारणतः अवयव में जो अवयवी का संबन्ध है वह समवाय है यही समझा जाता है। जैसे कपाल में घट का, परमाणु में द्वयणुक का, द्वयणुक में त्रसरेणु का जो संबंध है वह समवाय है किन्तु वह समवाय का परिचय मात्र है। लक्षण नहीं है क्योंकि कपाल में कालिक संवन्ध से भी घट रहता है अवः कालिक संवन्ध में अतिव्याप्ति दोष हो जायगा इस लिये "नित्य संवन्ध समवाय है" यही समवाय का लक्षण माना गया है।

समवाय संवन्ध माननेकी युक्ति

अनुमान के द्वारा समवाय सबन्ध माना जाता है क्योंकि प्रत्येक विशिष्ट बुद्धि विशेषण, विशेष्य और सबन्ध इन तीनो की अपेक्षा करती है यानी जहा गुण क्रियादि विशिष्ट बुद्धि रहती है वहा एक विशेषण पदार्थ, एक विशेष्य पदार्थ और उन दोनों का परस्पर कोई एक सबन्ध रहता ही हे। जैसे 'दण्डी एक पुरुष है' यहा दण्ड विशेषण है, पुरुष विशेष्य है और इन दोनो का सयोग सबन्ध है। इसी प्रकार 'रूपवान् घट' यह भी विशिष्ट बुद्धि है। यहां रूप विशेषण हे, घट विशेष्य हे और उन दोनों का एक सबन्ध भी होना चाहिये वह सबन्ध सयोग आदि नहीं हो सकता है क्योंकि सयोग सबन्ध दो द्रव्य पदार्थों मे ही रहते है। यहा एक गुण पदार्थ है और एक द्रव्य पदार्थ है अत सबन्धान्तर की कल्पना करना अनिवार्य हो जाता हे वही सबन्धान्तर यानी सयोगादि से अन्य सबन्ध समवाय' है।

यदि उस सबन्धान्तर का समवाय नाम न रख कर उसको स्वरूप सबन्ध ही कहा जाय तो सिद्ध साधन या अर्थान्तर साधन हो जाता हे क्योंकि केवल नामान्तर होने से सिद्ध वस्तु स्वरूप का ही साधन मात्र होता है अर्थान्तर अर्थात् जिस वस्तु की सिद्धि करने मे प्रवृत्ति है उस से अतिरिक्त वस्तु की सिद्धि करना हो जाता है यानी समवाय सबन्धके साधनमे प्रवृत्ति हुई है और स्वरूप-साधन

सिद्ध होता है। नैयायिकोंने सिद्ध-साधन और अर्थान्तर इन दोनोंको 'युक्ति-दोष' कहा है।

• फिर भी स्वरूप अनन्त हैं, उन्हें संबन्ध की कल्पना करने से गौरव-दोष यानी कल्पना बाहुल्य हो जाता है क्योंकि "रूपवान् घटः" "रूपवान् पटः" इस प्रकार सर्वत्र ही अलग अलग घट, पट आदि स्वरूप के रहने से सर्वत्र अलग अलग संबन्ध की कल्पना करनी पड़ती है क्योंकि विषय के स्वरूप भिन्न भिन्न हैं और एक अलग समवाय सम्बन्ध की कल्पना करने से सर्वत्र वही एक संबन्ध रहता है, अतः कल्पना-लाघव के लिये समवाय संबन्ध मान्य है।

प्रश्न—यदि समवाय एक है और वही सर्वत्र विद्यमान रहता है तो वायुके रूपवान् होने का ज्ञान होना चाहिये क्योंकि वायुमें भी समवाय संबन्ध से स्पर्श गुण रहता ही है और स्पर्श का, समवाय एवं रूप का समवाय दोनों एक ही पदार्थ हैं, अतः वायु में भी रूप का समवाय मानना ही पड़ेगा और रूप-समवाय रहने से रूपका भी रहना हो जाता है क्योंकि संबन्ध-सत्ता सम्बन्धि-सत्ताका नियामक है तब 'रूपवान् वायुः' ऐसी भी प्रतीति होनी चाहिये।

समाधान—रूपका संबन्ध केवल समवाय नहीं है किन्तु "रूप-निरूपितत्व-विशिष्ट समवाय" ही अर्थात् 'रूपका समवाय' ही रूपका संबन्ध है।

वायुमें रूप नहीं रहनेके कारण वैसा विशिष्ट समवाय भी वायुमें नहीं रहता है।

यदि यह कहा जाय कि वह विशिष्ट समवाय और यह समवाय दोनों एक ही है क्योंकि एक ही समवाय माना गया है तो 'स्व-निरू-पितत्व-विशिष्ट-समवाय-निरूपिताधिकरणता' ही रूप का संवन्ध है। वायुमे रूप के सद्भाव नहीं रहने के कारण उक्त प्रकार का विशिष्टाधिकरणता भी नही है अतः उक्त प्रकार रूप-समवाय नहीं रहने के कारण वायुमे रूपवत्ता बुद्धि यानी 'रूपवान् वायु.' ऐसी बुद्धि नहीं होती है।

• नवीन नैयायिकगण समवाय को नाना मानते हैं। समवाय संवन्धके विषय मे नव्य नैयायिकोंने विशेष विचार प्रदर्शन किया है, किन्तु नैयायिकगण की भाषा की दुर्बोधता और बाहुल्य-भय से संक्षेप में ही उस का यहा विचार किया गया है।

समवाय पदार्थ नित्य और एक है

संयोग संवन्ध दो पदार्थो में रहता है अतः संयोगको द्विष्ठ कहते हैं। अन्य संवन्ध भी दो पदार्थों की अपेक्षा कर के ही रहता है किन्तु कभी दोनों पदार्थों का संवन्ध छूट भी जाता है क्योंकि दोनों पदार्थ अलग हो सकते हैं अतः वे संवन्ध सब अनित्य है किन्तु समवाय संवन्ध कभी छूट नहीं सकता है यानी जिन दो पदार्थों में यह संवन्ध रहता है वे कभी परस्पर अलग नहीं हो सकते हैं। अतः समवाय संवन्ध को अयुत सिद्धि भी कहते हैं।

अयुत सिद्ध

जिन दो पदार्थों में से एक दूसर के आश्रित ही रहते हैं, स्वतन्त्र हो कर नहीं रहत हैं वे दोनों अयुत सिद्ध कहे जाते हैं।

उक्त सातो पदार्थों में पूर्वोक्त छः भाव पदार्थ हैं। एक अभाव पदार्थ है अत भाव और अभाव इन दो पदार्थोंमें सातो पदार्थ अन्तर्गत हो जाते हैं।

अभाव

प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अत्यन्ताभाव, अन्योऽन्याभाव यह चार प्रकार के अभाव पदार्थ हैं। यह अभाव पदार्थ उक्त द्रव्यादि भाव पदार्थों के विरोधी हैं।

प्रागभाव

किसी पदार्थ के उत्पन्न होने के पहले जो उस पदार्थ का अभाव रहता है वह प्रागभाव है। प्राक् अभाव-प्रागभाव। उत्पन्न होने के पूर्व तो उसका अभाव ही रहता है। प्रागभाव अनादि और सान्त है, क्योंकि किसी पदार्थ की उत्पत्ति होने से ही उसका प्रागभाव विनष्ट हो जाता है और उत्पत्ति के पूर्व अनादि काल से ही चला आ रहा है। जैसे—"घटोभविष्यति—यानी घट उत्पन्न होगा" यहां घट-प्रागभाव ज्ञात होता है।

प्रध्वंसाभाव

किसी पदार्थ के विनाश होने से जो उसका अभाव उत्पन्न होता

है उस को प्रध्वसाभाव कहते हैं। प्रध्वसरूप जो अभाव है वह प्रध्वसाभाव है।

यह अभाव जन्य है और अनन्त है, क्योंकि वस्तु के नष्ट होने से उत्पन्न होता है अतः जन्य है और तद्देश-काल-विशिष्ट उस वस्तु की तो पुन पूर्ति कभी नहीं होती है अत वह अभाव अनन्त यानी अन्त-रहित है। जैसे "घटोध्वस्त —यानी घट विनष्ट हुआ यह कहने से घट का प्रध्वसाभाव ज्ञात होता है ।"

अत्यन्ताभाव

किसी पदार्थ के संयोग का जो प्रतिषेध है उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे—अत्र घटोनास्ति, अत्र पटोनास्ति —यहा घट नहीं है, यहां पट नही है इत्यादि रूप से जो इस स्थान मे घट आदि के ससर्ग का प्रतिषेध है वह अत्यन्ताभाव है। अत्यन्त जो अभाव वह अत्यन्ताभाव है। यह अभाव नित्य है। क्योकि एक प्रदेश में घट के आ जाने पर भी अन्य प्रदेशमें उसका अत्यन्ताभाव रहता ही है।

अन्योऽन्याभाव

'घटः पटो न- यानी घट वस्त्र नहीं है" इस प्रकारका जो अभाव है वह अन्योऽन्याभाव है। अन्योऽन्यं यानी परस्पर जो एक से दूसरे का भेद है वह अन्योऽन्याभाव है। यह भी नित्य है।

इस प्रकार जो सात पदार्थ कहे गये हैं, उन सातोंका भाव, अभाव

इन दो पदार्थोंमें ही कहीं अन्तर्भाव किया गया है अतः कहीं भाव और अभाव ये दो पदार्थ ही कहे गये हैं।

उक्त जो सात पदार्थ हैं उन के तत्त्व ज्ञान से इस मत में मोक्ष प्राप्त होता है।

मोक्ष

आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति को मोक्ष कहते हैं। उक्त जो सात पदार्थ हैं उनके तत्त्व-ज्ञान से इस मत में मोक्ष प्राप्त होता है और तत्त्व-ज्ञान धर्म विशेष से उत्पन्न होता है। जैसा कहा गया है—

"धर्मविशेषप्रसूतात् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्— द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय इन पदार्थोंका भिन्न भिन्न साधर्म्य और वैधर्म्यके द्वारा जो तत्त्व-ज्ञान है, जो धर्म विशेषसे उत्पन्न होता है उसी से मोक्ष प्राप्त होता है।"

साधर्म्य यानी उन पदार्थों के समान धर्म क्या हैं और वैधर्म्य यानी भिन्न भिन्न धर्म क्या हैं इन के ज्ञान करते हुए जो समस्त पदार्थों का तत्त्व-ज्ञान है वही मोक्ष का साधन है।

पंच भूत

पृथिवी, जल, तेज, वायु, और आकाश यह पांचो द्रव्य 'पंच भूत' कहे जाते हैं।

पञ्च गुण

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पांच क्रमशः पृथ्वी आदि

पञ्चभूतों के खास गुण है यानी पृथिवीमें गन्ध, जल में रस, तेज में रूप, वायु में स्पर्श, और आकाश में शब्द रहता है।

इन्हीं गुणों से पृथिवी आदि की पहचान होती है अतः ये पंच-गुण पृथिवी आदि के लक्षण कहे जाते हैं। जैसे गन्धका रहना पृथिवी का लक्षण है, रसका रहना जलका लक्षण है।

कहीं गन्ध आदि गुण पृथिवी आदिमें स्पष्ट रहते हैं जैसे-पुष्प आदि में और कहीं मिट्टी आदि में अस्पष्ट गन्ध है।

पृथिवी, जल, तेज, और वायु ये चारों नित्य-अनित्य दोनों होते हैं।

परमाणु यानी कारणस्वरूप पृथिवी आदि भूत नित्य हैं और द्व्यणुक आदि यानी कार्यस्वरूप पृथिवी आदि अनित्य हैं।

पृथिवी आदि चतुष्टयका कार्य

पृथिवी, जल, तेज, और वायु इन चारों से तीन प्रकार की वस्तुएं बनती हैं। जैसे-शरीर, इन्द्रिय और विषय।

शरीर

आत्मा का जो भोगायतन (भोग-गृह) है अर्थात् जिसमें आने से आत्मा को सुख-दुःख का अनुभव होता है उसे शरीर कहते हैं। सुख-और दुःख इन दोनों में से किसीका भी अनुभव होना 'भोग' है।

शरीर दो प्रकार के हैं-योनिज, अयोनिज। स्त्री-योनि के द्वारा

उत्पन्न होने वाला शरीर 'योनिज' है। और स्त्री-योनि के द्वारा जो उत्पन्न नहीं होता है वह 'अजोनिज' है।

जरायुज शरीर 'योनिज' है। जैसे-मनुष्य और पशु का शरीर योनिज है, बाकी अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज ये तीनों शरीर 'अजोनिज' है। पक्षी आदिका अण्डज, खटमल आदिका स्वेदज और वृक्षादि का उद्भिज्ज शरीर है।

पार्थिव शरीर

मनुष्य, पशु, पक्षी आदिके पार्थिव शरीर हैं। 'जितने पृथवी-मण्डल मे शरीर हैं, सब पार्थिव हैं। उसमें पृथिवी-भाग प्रधान है।

पार्थिव इन्द्रिय

घ्राणेन्द्रिय (सूंघने की इन्द्रिय) को पार्थिव इन्द्रिय कहते हैं।

पार्थिव विषय

पार्थिव शरीर और पार्थिव इन्द्रिय के सिवा जितनी मृत्तिका प्रस्तर आदि पृथवी है, सब 'पार्थिव विषय' हैं।

जलीय शरीर

वरुणलोक के यानी जलमण्डलस्थ जीवों के जो शरीर हैं वे जलीय शरीर हैं। उसमे जल भाग प्रधान है।

जलीय इन्द्रिय

रसना (रस के अनुभव करने के साधनस्वरूप) इन्द्रिय जलीय इन्द्रिय है। जिह्वा इन्द्रिय को रसना कहते हैं।

जलीय विषय

नदी, समुद्र, बर्फ, ओले, तालाब आदि 'जलीय विषय' हैं यानी शरीर-इन्द्रिय से भिन्न जितने जल हैं सब विषयरूप हैं।

तैजस शरीर

सूर्य, चन्द्र और अग्नि लोकके शरीर तैजस शरीर हैं। तेजो-मण्डलस्थजीवों के शरीर तैजस शरीर हैं।

तैजस इन्द्रिय

रूप-ज्ञान करनेके साधन स्वरूप इन्द्रियको 'नेत्र इन्द्रिय' कहते हैं

तैजस विषय

अग्नि, जठराग्नि आदि तैजस विषय हैं। शरीर और इन्द्रिय को छोड़ कर जो तेज पदार्थ हैं सब तैजस विषय हैं। तैजस विषय चार प्रकारके हैं-भौम यानी अग्नि आदि, 'दिव्य' यानी विद्युत आदि, 'औदर्य' यानी जठराग्नि आदि, 'आकरज' यानी सुवर्ण आदि।

वायवीय शरीर

वायुलोक में वायवीय शरीर हैं। स्पर्शसे वायुका अनुमान होता है। नीरूप होने के कारण वायुका प्रत्यक्ष नहीं होता है।

वायवीय इन्द्रिय

स्पर्श अनुभव करने वाली इन्द्रिय को स्पर्शेन्द्रिय कहते हैं। त्वचा इन्द्रिय वायवीय इन्द्रिय हैं, जो सर्व-शरीर-वर्त्ती है।

वायवीय विषय

वृक्ष आदि के कम्पन का जो हेतु है वह वायवीय विषय है। प्राण आदि भी वायु विशेष ही है क्योंकि शरीरान्तःसंचारी जो वायु है वही प्राण है। उक्त कार्यरूप पृथिवी आदि चार भूतों की उत्पत्ति और विनाश होता है अतः वे अनित्य कहे जाते हैं।

आकाश

पंचभूतों में एक आकाश भी भूत है, इसका शब्द गुण है किन्तु यह पृथिवी आदि चार भूतों से पृथक् द्रव्य है क्योंकि आकाश विभु यानी सर्व मूर्तद्रव्य-संयोगी, नित्य और एक है। विभुका परमाणु नहीं होता है अतः आकाश का परमाणु नहीं है और नित्य होनेके कारण शरीररूप से भी इसकी अवस्थिति नहीं होती है यानी आकाश का शरीर नहीं होता है, किन्तु इन्द्रिय होता है।

आकाश-इन्द्रिय

कर्ण-बिल के मध्य-वर्त्ती आकाश को श्रवणेन्द्रिय कहते हैं। कर्ण-विवर (कर्ण के भीतरका बिल) के नाश होने पर उसका औपाधिक नाश होता है इस लिये श्रवणेन्द्रिय अनित्य है किन्तु आकाश नित्य है। घटाकाश, मठाकाश आदि व्यवहार औपाधिक होनेसे आकाश की नित्यता में बाधा नहीं पड़ती है। आकाश का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। यह द्रव्यारम्भक नहीं है यानी

आकाश के द्वारा आरम्भवाद या परमाणुवादके क्रम से किसी द्र० की उत्पत्ति नहीं होती है।

आकाश का विषय

सर्व मूर्त्त यानी परिच्छिन्न परिमाणवाले पदार्थ मात्र में संयुक्त रूपसे जो आकाश विद्यमान है वह आकाशका विषय है। जैसे—घटाकाश, मठाकाश आदि उपाधि भेदसे आकाश नाना और अनित्य ज्ञात होता है किन्तु वस्तुतः आकाश एक और नित्य है।

पृथिवीमें रहने वाले भौतिक गुण

शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश चित्र, ये सात प्रकार के 'रूप' पृथिवी मे है। मधुर, आम्ल, लवण, कटु, कषाय, और तिक्त ये छः प्रकारके 'रस' पृथिवी मे हैं। अनुष्ण यानी उष्ण से भिन्न और अशीत यानी शीत से भिन्न (विलक्षण) अर्थात् अनुष्णाशीत स्पर्श पृथिवी में है। सुरभि (सुगन्ध) असुरभि (दुर्गन्ध) दोनों प्रकारके गन्ध केवल पृथिवी मे ही रहते हैं। गन्ध कभी जल, तेज या वायु और आकाश मे नहीं रहते है अतः गन्ध वैशेषिक यानी खास गुण पृथिवीके कहे जाते हैं इसी लिये "गन्धवत्त्वं पृथिव्या लक्षणम्—यानी गन्ध पृथिवी की पहचान है" ऐसा कहा गया है। उक्त रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पृथिवी मे पाकज है यानी तेजःसयोगरूप पाकके द्वारा पृथिवी मे रूपादि उत्पन्न होते है और पृथिवी के रूपादि गुण अनित्य हैं।

जलमें रहने वाले भौतिक गुण

जलका रूप अभास्वर यानी अनुज्वल शुक्ल है। मधुर रस है। शीत स्पर्श है। जल के रूप आदि गुण अपाकज हैं यानी बिना तेजके संयोगसे ही उत्पन्न होते हैं और नित्य-अनित्य दोनों हैं क्योंकि जल-परमाणु के रूप आदि नित्य हैं और द्व्यणुकादि के रूपादि अनित्य हैं।

तेजमें रहने वाले भौतिक गुण

तेजका रूप भास्वरशुक्ल यानी उज्वलशुक्ल है। उष्ण स्पर्श है। तेजके रूप आदि अपाकज हैं और नित्य-अनित्य दोनों हैं यानी नित्य तेज पदार्थ के रूप आदि नित्य हैं और अनित्य तेजके रूपादि अनित्य हैं। उष्ण स्पर्श तेज की पहचान (लक्षण) है

वायुमें रहने वाले भौतिक गुण

वायुमें सिर्फ स्पर्श गुण रहता है और वह अनुष्णाशीत है यानी रूप आदि चतुष्टय उद्भूत रहने पर प्रत्यक्ष होता है और अनुद्भूत होने से अप्रत्यक्ष होता है यानी उद्भूतत्व ही प्रत्यक्ष-प्रयोजक धर्म है। जहां अनुद्भूत (अव्यक्त) रूप आदि हैं वहां रूप आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता है।

पार्थिव स्पर्शकी तरह वायुमें उष्ण स्पर्श या शीत स्पर्श नहीं है किन्तु उष्ण-शीत इन दोनों से विलक्षण एक प्रकार का स्पर्श रहता है। वह स्पर्श नित्य-अनित्य दोनों हैं यानी नित्य वायु का

स्पर्श भी नित्य है और अनित्य वायु का स्पर्श अनित्य है। रूप-रहित होते हुए स्पर्श गुण रहना वायुकी पहचान (लक्षण) है ।

वैशेषिक-सिद्धान्त मे आरम्भवाद माना जाता है यानी परमाणु-पुञ्ज ही घट आदिरूप नहीं हैं किन्तु अवयव से अवयवी अत्यन्त विभिन्न है इस लिये पृथिवी आदि चार भूतो की नित्यता और अनित्यता कही गयी है यानी मूल अवयव जो परमाणु है वह नित्य है और उस से उत्पन्न होने वाले जो द्वयणुक आदि हैं वे अनित्य है। अवयव से भिन्न अवयवी का आरम्भ होता है अतः अवयव और अवयवी का न्याय-मत मे भेद माना जाता है ।

सृष्टि

ईश्वर की चिकीर्षा (सृष्टि करने की इच्छा) से परमाणुओं मे क्रिया उत्पन्न होती है, जिससे दो दो परमाणुओ का संयोग हो जाता है यानी दो दो परमाणु एक एक जगह मिल जाते हैं, उन दो परमाणुओं के परस्पर सयोग होने से द्वयणुक नाम का एक द्रव्य विशेष उत्पन्न होता है, फिर जब तीन द्वयणुक एक जगह संयुक्त हो जाते हैं तब त्र्यणुक नाम का एक द्रव्य विशेष उत्पन्न होता है और चार त्र्यणुक मिलने से एक चतुरणुक उत्पन्न होता है।

इस क्रम से महती (बडी) पृथिवी उत्पन्न हो जाती है । महान् जल उत्पन्न हो जाता है । महान् तेज उत्पन्न होता है और महान वायु उत्पन्न होता है। परमाणु तो सृष्टि मे अनन्त भरे पडे हैं क्योंकि परमाणु नित्य है ।

पूर्व कल्पके अनुसार सृष्टिके होनेमे " धाता यथा पूर्वमकल्पयत " इत्यादि श्रुति प्रमाण है।

प्रलय

ईश्वर की संजिहीर्षा (विनाश करने की इच्छा) से अर्थात् जब उत्पन्न द्रव्य के विनाश करने की ईश्वर की इच्छा होती है तब परमाणुओंमे क्रिया उत्पन्न हो जाती है, जिससे परमाणु-द्वय का विभाग हो जाता है और द्वयणुक का नाश हो जाता है और द्वयणुक के नाश होने से त्र्यणुक का नाश और त्र्यणुक के विनाश से चतुरणुक का नाश हो जाता है इस क्रम से पृथिवी आदि अवयवी पदार्थका नाश हो जाता है। सब कार्य द्रव्य के ध्वंस को प्रलय या अवान्तर प्रलय कहते हैं। सर्व भाव कार्य के ध्वंस को 'महाप्रलय' कहते हैं।

यद्यपि समवायी कारण के विनाश होने से कार्य का विनाश माना जाता है किन्तु यहां समवायी कारण जो परमाणु है वह नित्य है उसका विनाश तो नहीं होता है तथापि असमवायी कारण जो परमाणु-द्वय का संयोग है उसके विनाश से द्वयणुक रूप कार्यका विनाश हो जाता है और समवायी कारण रूप द्वयणुक के नाशसे त्र्यणुक का नाश होता है। इस क्रमसे अवयवी कार्य का विनाश हो जाता है ।

सर्वत्र असमवायी कारणके नाशसे द्रव्य का नाश होता है यह नवीनोंका मत है।

परमाणु-वाद

वैशेषिक और नैयायिकों का परमाणुवाद प्रसिद्ध है।

प्रश्न—परमाणुके सद्भावमें क्या प्रमाण है यानी परमाणु क्यों माना जाता है?

समाधान–"जालसूर्यमरीचिस्थं सूक्ष्मतमं यत् दृश्यते तत् सावयवं चाक्षुषद्रव्यत्वात् पटवत्— यानी गवाक्षसे जो सूर्य की किरण आती है उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म जो धूल की कणा दिखलायी पड़ती वह सावयव है, नेत्रसे प्रत्यक्ष होने के कारण, पट की तरह।" "त्र्यणुकावयवोऽपि सावयवः महदारम्भकत्वात् तन्तुवत्— यानी त्र्यणुक (त्रसरेणु) का अवयव भी सावयव होता है क्योंकि वह महत् परिमाण का आरम्भक है तन्तु की तरह।"

साराश यह है कि जो जो महत् परिमाण का आरम्भक होता है वह सावयव होता ही है। द्व्यणुक भी महत् परिमाणशाली त्र्यणुक का आरम्भक (उत्पादक) होता है, अतः सावयव है। जो द्व्यणुक का अवयव है वह परमाणु है और वह परमाणु नित्य है क्योंकि उस को कार्य मानने से अनवस्था दोष हो जाता है और मेरु पर्वत तथा सर्षप (सरसों) इन दोनों के समान परिमाण होने का दोष उपस्थित हो जाता है क्योंकि किसी एक अवयव को निरवयव नहीं मानने से अवयव के अवयव, उसके अवयव, ऊसके अवयव इस क्रम से अवयव की धारा होने और कहीं विश्राम

नहीं रहने से मेरु और सर्षप के परिमाण में विभेद कैसे कहा जा सकता है ?

आत्मा

"ज्ञानाधिकरणमात्मा—यानी जिस में ज्ञान गुण रहता है वही आत्मा है।" आत्मा दो प्रकारके होते हैं— जीवात्मा और परमात्मा।

जीवात्मा

सुख आदि के आश्रय को जीवात्मा कहते हैं। जीवात्मा प्रति-शरीरमें भिन्न एवं विभु (व्यापक) और नित्य हैं।

प्रश्न— 'मनुष्योऽहं, ब्राह्मणोऽहम्' इत्यादि सर्वत्र 'अहं' प्रतीतिका शरीर ही विषय है ऐसा ज्ञात होता है तब 'शरीर से भिन्न जीवात्मा है' यह कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान— शरीर आत्मा नहीं है क्योंकि हस्त, पाद आदि भी तो शरीर ही हैं, उनके नाश होने पर आत्मा का भी विनाश हो जायगा। इन्द्रिय भी आत्मा नहीं, क्योंकि "योऽहं घट-मद्राक्षं सोऽहं इदानीं स्पृशामि" इस प्रकारके अनुसन्धान का अभाव हो जायगा।

नेत्र इन्द्रिय के द्वारा घट देखा गया था और त्वचा के द्वारा स्पर्श किया जाता है तब "जो मैं घट देख चुका हूं वही मैं स्पर्श करता हूं" इस प्रकार का अनुसन्धान (प्रत्यभिज्ञा) नहीं हो सकता है

क्योंकि अन्य के द्वारा जो अनुभूत पदार्थ है उसका अनुसन्धान अन्य को नहा होता है इस लिये देह और इन्द्रिय से अतिरिक्त जीव माना जाता है। एक एक शरीर में सुख आदि की विभिन्नता दीखने से एक एक शरीर मे भिन्न भिन्न जीव माना जाता है।

जीवात्मा परमाणु-परिमाण यानी अत्यन्त सूक्ष्म परिमाण नहीं हो सकता है क्योंकि समस्त शरीर-व्यापी जो सुख-दुःख हैं उनकी उपलब्धि नहो होगी यानी समस्त शरीर के किसी भी अंगके कटने पर जो दुःखका अनुभव होता है वह नहीं होना चाहिये क्योंकि आत्मा के परमाणु की तरह परिमाण मानने से उतने ही सूक्ष्म प्रदेश में सुख-दुःख की उपलब्धि होगी और समस्त शरीर में सुख-दुःख की उपलब्धि नहीं होगी और समस्त शरीर में सुख-दुःख की उपलब्धि होती है यह सार्वजनिक प्रत्यक्ष है।

मध्यम परिमाण भी जीवात्मा नहीं हो सकता है क्योंकि "यत् मध्यमपरिमाणं तदनि-यम्— यानी जो मध्य परिमाण वाला होता है वह अनित्य ही होता है" इस प्रकार की व्याप्ति रहने के कारण मध्यम परिमाण मानने से जीवात्मा अनित्य हो जाता है और जीवात्मा के अनित्य होने से कृतहान और अकृताभ्यागम ये दोनों दोष हो जाते है।

साराश यह कि संसार मे कोई सुखी और दुःखी जीव देखा जाता है। इस प्रकार की सुख-दुःख की विचित्रताका हेतु उसके पूर्व जन्म के सुकृत और दुष्कृत हैं यह तर्क-सिद्ध है।

यदि जीवात्मा को अनित्य माना जाय तो पुराकृत कर्म का परित्याग हो जाता है और विना किये कर्म का फल भोग होने लगेगा तब सृष्टि की मर्यादा नियमित नहीं रहेगी अतः मध्यम परिमाण जीव का नहीं हो सकता है।

परमात्मा (ईश्वर)

नित्य ज्ञान का जो अधिकरण है वह ईश्वर है।

प्रश्न—"ईश्वर है" इस में क्या प्रमाण है? ईश्वरके अस्तित्वमें प्रत्यक्ष प्रमाण तो है नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकारके होते हैं—एक बाह्य और एक आभ्यन्तर। उसमें बाह्य प्रत्यक्ष तो नहीं हो सकता है क्योंकि ईश्वर नीरूप यानी रूप-रहित द्रव्य है और बाह्य प्रत्यक्ष रूपवान् द्रव्य का ही होता है। आभ्यन्तर प्रत्यक्ष भी ईश्वर का नहीं हो सकता है क्योंकि आत्मा के धर्म जो सुख आदि हैं उन से ईश्वर अतिरिक्त पदार्थ है और आन्तर प्रत्यक्ष सुख आदि का ही होता है, जो आत्मा के धर्म हैं उन से अतिरिक्त किसीका ही आन्तर प्रत्यक्ष नहीं होता है अतः ईश्वरका बाह्य या आभ्यन्तर किसी प्रकार का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है इस लिये प्रत्यक्ष प्रमाणसे ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है।

समाधान— अनुमान प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि होती है क्योंकि "क्षित्यादिकं कर्त्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत्-यानी पृथिवी आदि सब कर्त्तृजन्य है अर्थात् उन सबका कोई कर्त्ता अवश्य है क्योंकि वे कार्य यानी उत्पत्तिशाली पदार्थ हैं, घटकी तरह।" समस्त पदार्थ कर्त्तृ-जन्य हैं उनका कर्त्ता कोई मनुष्य आदि दृष्ट नहीं है अतः जो उनका कर्त्ता है वही ईश्वर है इस अनुमान के द्वारा ईश्वर की सिद्धि होती है।

ज्ञान-चिकीर्षा और कृति जिस में रहे उसे कर्त्ता कहते हैं। सकल परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थों के द्रष्टा होने के कारण ईश्वर सर्वज्ञ हैं। उपमान और आगम वैशेषिकके मान्य ही नहीं। ईश्वरके *अस्तित्वमें अनुमान प्रमाण है अतः 'ईश्वर है' यह निश्चित है।*

"सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः—सुख-दुःख आदि आन्तर धर्म की जो उपलब्धि होती है उसका साधन मन है।

एक एक आत्माको एक एक मनकी आवश्यकता है, आत्मा अनेक हैं अतः मन भी अनेक (अनन्त) हैं और नित्य हैं। मन अणुरूप है यानी मनका परिमाण अणु (अति सूक्ष्म) है।

मध्यम परिमाण या विभु परिमाण नहीं है। मध्यम परिमाण मानने से अनित्य हो जाता है और विभु परिमाण माननेसे ज्ञान मात्र के प्रति "आत्म-मनःसंयोग" असमवायी कारण कहा गया है। मन को विभु मानने से असमवायीकारण के अभाव हो जाने से कोई भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा क्योंकि आत्मा विभु है और मन

भी विभु होगा और दो विभु पदार्थों का संयोग नहीं माना जाता है। यदि विभु-द्वय का संयोग माना जाय तो उसका संयोग नित्य होगा और उस के नित्य संयोग रहने से सुषुप्ति का अभाव हो जायगा। 'पुरीतत्' नाडी से अतिरिक्त स्थलमें आत्म-मन-संयोग सर्वदा विद्यमान रहता है। मन के अणु-परिमाण मानने से जब मन 'पुरीतत्' नाम की नाड़ी में प्रवेश करता है तब सुषुप्ति होती है और जब उस नाड़ी से निकलता है तब ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यानी कुछ ज्ञान होने लगता है अतः मन अणु है यह निश्चित होता है।

अनुभव

स्मृति से भिन्न जो ज्ञान है उसे अनुभव कहते हैं और संस्कार मात्रसे उत्पन्न ज्ञान स्मृति है। अनुभव दो प्रकार के होते हैं— यथार्थ और अयथार्थ।

यथार्थ

'तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः-तद्विशेष्यक और तत्प्रकारक जो ज्ञान है उसे यथार्थ अनुभव कहते है। इसी को 'प्रमा' भी कहते हैं।

अयथार्थ

'तदभाववति तत्प्रकारश्चायथार्थः'—अन्य विशेष्यक और अन्य प्रकारक जो ज्ञान है उसे अयथार्थ कहते हैं।

वैशेषिक मतमे यथार्थ अनुभव दो प्रकारके ही होते हैं। जैसे:— प्रत्यक्ष, अनुमिति।

उक्त दोनों प्रकारके अनुभवके करण भी दो होते हैं। वे प्रमा के करण हैं अतः उन्हें प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान ये दो प्रमाण माने जाते हैं।

कारण

"अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्ति वं कारणत्वम्"— जो अन्यथा सिद्ध न हो और नियतरूप से पूर्ववर्ती हो वह कारण कहा जाता है। जैसे पट के तन्तु आदि और घटके मृतिका आदि कारण हैं। अन्यथासिद्ध तीन प्रकार के होते हैं।

प्रथम अन्यथा सिद्ध

"येन सहैव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वमवगम्यते तदन्यथा सिद्धम्"। जिस कार्य के प्रति जिसके साथ ही जिसकी पूर्व-वर्त्तिता ज्ञात होती है वह उससे अन्यथा सिद्ध होता है। जैसे पटके प्रति, तन्तुरूप और तन्तुत्व की जो पूर्व-वर्त्तिता है वह तन्तु के साथ ही है अतः तन्तु से तन्तुरूप या तन्तुत्व अन्यथा सिद्ध हो जाता है इस लिये पट के प्रति तन्तुरूप या तन्तुत्व कारण नहीं होता है।

दूसरा अन्यथा सिद्ध

अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञात एव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वमवगम्यते तं प्रति तदन्यथा सिद्धम्।

अन्य कार्य के प्रति पूर्ववृत्तित्व ज्ञात रहने पर ही जिस के प्रति जिसको पूर्व-वर्त्तिता ज्ञात होती है वह उस के प्रति अन्यथा सिद्ध है। जैसे "शब्द" कार्य के प्रत आकाश की पूर्ववर्तिता ज्ञात रहने पर ही पट रूप का के प्रति आकाश का पूर्व-वर्त्तित्व ज्ञात होता है अतः पट रूप कार्य के प्रति आकाश अन्यथा सिद्ध है।

तीसरा अन्यथासिद्ध

'अन्यत्र क्लृप्तनियतपूर्ववृत्तिन एव कार्यसम्भवे तत्सहभूतमन्यथासिद्धम्'- अन्य स्थल में जिसका नियत पूर्ववर्तित्व सिद्ध है उस से ही कार्य सम्भव होने पर उस के सहभूत जो है वह अन्यथासिद्ध है। जैसे— पाकज-स्थल में गन्ध के प्रति द्रव्यका पूर्ववर्तित्व सिद्ध ही है और उसीसे गन्ध रूप कार्य सम्भव होने पर गन्धके प्रति उसके सहभूत रूप-प्रागभाव अन्यथासिद्ध है। कोई भी अन्यथासिद्ध कारण नहीं कहलाता है। किसीके मतमें घटके प्रति रासभ आदि अन्यथासिद्ध ही माना गया है तब नियत' शब्द व्यर्थ ही जंचता है।

कार्य

"प्रागभाव-प्रतियोगि कार्यम्—यानी प्रागभाव का जो प्रतियोगी होता है अर्थात् जिसका प्रागभाव होता है वह कार्य है।"

कारण तीन प्रकार के होते हैं। समवायी कारण, असमवायी कारण और निमित्त कारण।

समवायी कारण

"यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्—यानी जिस में समवाय संबन्ध से काय उत्पन्न होता है वह समवायी कारण है।" जैसे—तन्तु तो पटका समवायी कारण है और पटरूप का समवायी कारण पट है।

असमवायी कारण

"कार्येग-कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतत्वे सति यत् कारणम् तदसमवायि कारणम्।"

कार्य जो पट है उसके साथ एक तन्तुरूप अर्थमें समवेत हो कर तन्तु-संयोग कारण है अतः तन्तु-संयोग पट का असमवायी कारण है यानी तन्तु-संयोग होने से ही पट बनता है इस लिये तन्तु-संयोग पट का कारण है और वह तन्तु-संयोग समवाय संबन्ध से तन्तु में रहता है और कार्य भी यानी पट भी समवाय सम्बन्ध से तन्तु में रहता है।

इसी प्रकार किसी स्थलमें कारणके साथ यानी कारण जो पट है उसके साथ एक तन्तुमें समवेत हो कर पट-रूपका तन्तु-रूप कारण है अतः पट-रूपका तन्तु-रूप असमवायी कारण है यानी तन्तु-रूप सर्वदा पट रूप का कारण होता है क्योंकि जैसा तन्तु (सूता) का रूप रहता है वैसे रूप का ही पट्ट (वस्त्र) तैयार होता है अतः पट रूप का कारण तन्तु-रूप होता है और वह तन्तु-रूप अपने कारण तन्तु में समवाय सम्बन्ध से रहता है और उस तन्तु

में पट भी समवाय सम्बन्ध से रहता है इस लिये पट-रूपके कारण जो पट है उसके साथ तन्तु-रूप भी तन्तु में समवेत होने से पट रूप का असमवायी कारण तन्तु-रूप होता है।

निमित्त कारण

"समवायि-असमवायि-भिन्नकारणं निमित्त कारणम्— समवायी कारण और असमवायी कारण से भिन्न जो कारण है वह निमित्त कारण है।" घट के दण्ड, चक्र, चीवर आदि और पट के कुविन्द (जुलाहा), वेमा आदि निमित्त कारण हैं।

प्रमा (यथार्थ ज्ञान)

वैशेषिक के मतमें प्रत्यक्ष, अनुमिति ये दो प्रकार की ही प्रमा यथार्थ ज्ञान माने जाते हैं अतः प्रत्यक्ष, अनुमान ये दो ही प्रमाण भी माने गये हैं।

प्रत्यक्ष प्रमा

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मक प्रत्यक्षम्— (गौतम सूत्र १।१।४।)"

'अव्यपदेश्य' शब्दका अर्थ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है और व्यवसायात्मक शब्दका अर्थ सविकल्पक प्रत्यक्ष है।

चक्षुरादि इन्द्रिय हैं, घट आदि अर्थ हैं, संयोग आदि सन्निकर्ष हैं, तज्जन्य जो ज्ञान है यानी इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से जो ज्ञान होता है उस ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान भी दो प्रकार के हैं— सविकल्पक और निर्विकल्पक।

सविकल्पक

"विशेष्य-विशेषणसम्बन्धावगाहि ज्ञान सविकल्पकम्"—विशेष्य, विशेषण और सम्बन्धका जिसमे ज्ञान होता है उसे सविकल्पक ज्ञान कहते है। जसे - स्यामोऽयम् ब्राह्मणोऽयम् इत्यादि नाम, जाति आदि विशपण-विशप्य सम्बन्धावगाही ज्ञान है। सविकल्पक को विशिष्ट बुद्धि कहते हैं।

निर्विकल्पक

"विशेषण विशेष्य-सवन्धानवगाहि ज्ञान निविकल्पम्"— जिस ज्ञानमें विशेषण विशेष्य और सम्बन्धका भान नही होता है उस निर्विकल्पक ज्ञान कहते है।

घट-रूप आदि के साथ चक्षु सन्निकर्ष होन पर प्रथम पृथक् पथक् रूपसे घट और घटत्व आदि का जो ज्ञान होता है उसम पहला निर्विकल्पक ज्ञान होता है। उत्तर ज्ञान यानी वादम सविकल्पक ज्ञान होता है। निर्विकल्पक ज्ञान कहने मे नहीं आता है कि वह ऐसा ज्ञान है जैसे बाल वा गूंग का ज्ञान कहने मे नहीं आता है।

छःप्रकारके सन्निकर्ष

सयोग, सयुक्त-समवाय, सयुक्तसमवत-समवाय, समवाय, समवत-समवाय, विशेषण-विशेष्यभाव।

नेत्र के द्वारा जो घट का प्रत्यक्ष होता है वह सयोग सम्बन्ध स होता है। घट के रूप का प्रत्यक्ष 'सयुक्तसमवाय' संबन्ध से होता है।

घट-रूप की रूपत्व जाति का प्रत्यक्ष 'संयुक्तसमवेतसमवाय' संबन्ध से होता है।

श्रोत्र द्वारा जो शब्दका साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) होता है वह 'समवाय' सम्बन्ध से होता है। 'समवेतसमवाय' सबन्ध से शब्दत्वका साक्षात्कार होता है, विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्धसे अभावका प्रत्यक्ष होता है। उक्त छ प्रकार के सन्निकर्ष होते हैं इन्हीं छ प्रकार के सन्निकर्षों से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है इसको 'षोढा सन्निकर्ष कहते हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण

उक्त प्रत्यक्ष ज्ञानका करण (साधन) इन्द्रिय है अत इन्द्रिय को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। और अनुमितिका विचार न्यायदर्शनमे विशद रूप से किया जायगा अत इसका यहा विचार नहीं किया जाता है क्योंकि वह प्रक्रिया वैशेषिक दर्शन की भी प्राय समान है।

वैशेषिक के अनुसार उपमिति तो अनुमितिमे ही अन्तर्गत मानी गयी है अत उपमिति अलग मान्य नहीं और वैशेषिक के मतमे शब्द प्रमाण तो माना ही नहीं जाता है।

* वैशेषिक दर्शन समाप्त *

न्याय दर्शन प्रारम्भ

न्याय दर्शनका मूल आचार्य यानी प्रवर्तक गौतम मुनि हैं अ॰ इस दर्शनको गौतम दर्शन भी कहते हैं। बहुत विशदरूपसे इस सांगोपांग अनुमानका निरूपण किया गया है अत: इसको "न्याय-दर्शन" कहते हैं।

इसे आन्वीक्षिकी विद्या भी कहते हैं। वैशेषिक दर्शनकी तरह प्राय. न्यायदर्शन की प्रक्रिया है, कुछ ही विभेद है। न्याय-शास्त्रमें सोलह पदार्थ माने गये हैं।

सोलह पदार्थ

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान ये सोलह पदार्थ न्याय-शास्त्रमें कहे जाते हैं।

प्रमा

न्याय दर्शनमें प्रत्यक्ष आदि चार प्रमा यानी यथार्थ ज्ञान माने गये हैं। प्रत्यक्ष प्रमाका लक्षण वैशेषिक-दर्शनमें हो चुका है अत: पुनः उसका विचार यहा नहीं किया जाता है। प्रमाके करण प्रमाण भी चार हैं।

अनुमान

"अनुमितिकरणमनुमानम्— अनुमितिरूप ज्ञानका जो साधन है उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं।"

अनुमिति

"परामर्शजन्यज्ञानमनुमितिः—परामर्श से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे अनुमिति कहते हैं।" जैसे—'पर्वतो वह्निमान' यह ज्ञान अनुमिति है।

परामर्श

"व्याप्ति-विशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः–व्याप्तिविषयक जो पक्ष-धर्मताका ज्ञान है उसे परामर्श कहते हैं।" जैसे—"वह्निव्याप्य धूमवानयं पर्वतः" यानी वह्नि (अग्नि) धूमका व्यापक है अर्थात् धूम से अधिक प्रदेशमें अग्निकी सत्ता है क्योंकि जहां जहां धूम रहता है वहां तो अग्नि का रहना अनिवार्य ही है और जहा धूम नहीं भी है वहा भी वह्नि की सत्ता (अवस्थिति) देखी जाती है, जैसे अयोगोलक (अग्निरूप-लोहपिण्ड) में है, अतः वह्नि व्यापक है और धूम व्याप्य है इस प्रकार वह्नि-धूमके व्याप्य-व्यापकभाव संबन्धके ज्ञात होने पर "वह्निके व्याप्य जो धूम है वह धूम इस पर्वतमें है" इस प्रकारका जो ज्ञान होता है वही 'परामर्श' है।

व्याप्ति

" यत्र धूमस्तत्र वह्निरितिसाहचर्यनियमो व्याप्तिः । जहा जहा धूम है वहां वहा वह्नि है इस प्रकार जो धूमके साथ वह्निका साहचर्य है वही व्याप्ति है।"

पक्षधर्मता

" व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता— व्याप्यका जो पर्वत आदि प्रदेशमे रहना है वही पक्षधर्मता है।"

साराश यह कि जिस प्रदेशमे व्याप्य रहता है उस प्रदेश मे नियमतः व्यापक रहता ही है इस प्रकारके निश्चय रहने से किसी प्रदेशमे व्याप्यके अस्तित्वका जब निश्चय होता है तब उक्त निश्चय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है यानी जब इस प्रदेशमे उसका व्याप्य मोजूद है तब व्यापक भी उक्त प्रदेशमे अवश्य है यह ज्ञान अनुमिति है और उसका जो साधन धूम आदि है वह 'अनुमान' है। लिंग (चिन्ह) का देख कर लिंगी (चिन्हवाले) का जो ज्ञान होता है वह अनुमान प्रमाणके द्वारा होता है। जैसे धूमको देख कर अग्निका, कारीगरीको देख कर कारीगरका जो ज्ञान होता है वह अनुमान प्रमाण का कार्य है।

लिङ्ग या अनुमान

जिसके द्वारा अनुमिति होती है उसको लिंग या अनुमान कहते हैं। जैसे धूम आदि।

लिङ्गी या साध्य

अनुमितिका निदान व्याप्ति है यानी उक्त प्रकारका साहचर्य-नियम है। व्याप्ति दो प्रकारकी होती है— सम व्याप्ति और विषम व्याप्ति।

सम व्याप्ति

जहां व्यापक और व्याप्य इन दोनोंकी सत्ता समान रूपसे रहती है वहां सम व्याप्ति कही जाती है। जसे गन्ध और पृथिवीत्व का है, जहां गन्ध है वहां पृथिवीत्व है और जहा पृथिवीत्व है वहीं गन्ध है।

विषम व्याप्ति

जहां व्यापक और व्याप्य इन दोनों की सत्ता न्यूनाधिक रूप से रहती है यानी व्यापक अधिक देश में रहता है और उसकी अपेक्षा व्याप्य न्यून देश में रहता है वहा विषम व्याप्ति कही जाती है। जैसे अग्नि और धूम की है, क्योंकि धूम की अपेक्षा अग्नि अधिक देश में रहता है।

त्रिविध अनुमान

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत्-शेषवत्-सामान्तोदृष्टश्च।
(न्याय दर्शन १ । ५)

तत पूर्वक अर्थात् प्रत्यक्षविशेष मूलक ज्ञान अनुमान है, वह तीन प्रकार का है, जैसे-पूर्ववत्, शेषवत् और समान्यतोदृष्ट।

त्रिविध अनुमानवाचक जो पूर्ववत्, शेषवत् और ,समान्यतोदृष्ट ये तीन शब्द हैं उन के अनेक प्रकार अर्थ अनेक स्थान में उपलब्ध हैं किन्तु वात्स्यायनका तात्पर्य यहां वर्णित है।

पूर्ववत् अनुमान

कारण-दर्शन से जो कार्य का अनुमान है अर्थात कारण-लिंगक जो अनुमान है उसे पूर्ववत अनुमान कहते हैं।

जैसे मेघ के अतिशय दर्शन से जो वृष्टि का अनुमान किया जाता है कि शीघ्र ही वृष्टि होगी इस प्रकार वृष्टिरूप कार्य का जो अनुमान है वह पूर्ववत अनुमान है।

शेषवत् अनुमान

कार्य दर्शन से कारण का अनुमान होता है अर्थात् कार्य-लिंगक, जो अनुमान है उसे 'शेषवत् अनुमान कहते हैं।

जैसे नदी की अत्यन्त वृद्धि देख कर यहां वृष्टि हुई है ऐसा जो अनुमान किया जाता है वह शेषवत् अनुमान है।

सामान्यतोदृष्ट अनुमान

कारण और कार्य भिन्न केवल व्याप्य वस्तु को देख कर जो अनुमान किया जाता है उसे 'सामान्यतो दृष्ट' अनुमान कहते हैं।

वात्स्यायनने 'सामान्यतो दृष्ट अनुमानका कुछ भी लक्षण नहीं किया है किन्तु सूर्य के गमनानुमान को सामान्यतो दृष्ट का उदाहरण कहा है।

उद्द्योतकर और विश्वनाथ प्रभृति नैयायिकने कार्य कारण, भिन्न लिंगक अनुमान को 'सामान्यतोदृष्ट' कहा है।

उदयनाचार्य प्रभृत्तिके मत

• उदयनाचार्य, गङ्गेश, विश्वनाथ प्रभृति नैयायिकोंके मत मे केवलान्वयी अनुमान 'पूर्ववदनुमान' है। केवल व्यतिरेकी अनुमान 'शेषवत्' अनुमान है। अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान है। उन केवलान्वयी आदिमे भी उन लोगोंका मत-भेद है।

केवलान्वयी

उदयनाचार्यके मतमें केवलमात्र अन्वयके सहचार-ज्ञान द्वारा जिस स्थलमे हेतु-साध्यकी व्याप्ति का निश्चय होता है वहा 'हेतु' केवलान्वयी कहा जाता है।

गङ्गेशोपाध्यायके मतमे जिस स्थलमे केवल अन्वयकी व्याप्ति-ज्ञान द्वारा अनुमिति होती है वहांका 'अन्वय-व्याप्ति ज्ञान' केवलान्वयी कहलाता है।

केवल व्यतिरेकी

उदयनके मतमें केवल व्यतिरेक-सहचार द्वारा जहा हेतु और साध्यकी व्याप्ति का निर्णय होता है वहा 'हेतु' केवल व्यतिरेकी है किन्तु गङ्गेश के मतमे केवल व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान के द्वारा अनुमिति होने पर वह 'व्याप्ति-ज्ञान' केवल व्यतिरेकी है।

अन्वय-व्यतिरेकी

उदयनके मतमे जहां पर अन्वय और व्यतिरेकी उभय सहचार-

द्वारा व्याप्ति का निश्चय होता है वहा जो 'हेतु' है वह अन्वय-व्यतिरेकी कहलाता है।

गङ्गेशके मतमें उक्त दोनों प्रकार की व्याप्ति-द्वारा जो व्याप्ति-ज्ञान होता है वह व्याप्तिज्ञान 'अन्वय-व्यतिरेकी' कहलाता है। उस व्याप्ति ज्ञानके रहने से अनुमिति होती है।

सारांश यह कि प्रत्येक अनुमान मे प्रथम व्याप्य-व्यापक भाव रूप संबन्ध का ज्ञान रहना आवश्यक है। व्याप्य-व्यापक भाव सबन्ध ज्ञात होने पर जिस प्रदेश मे व्यापक पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता है किन्तु उसके व्याप्य मात्र का प्रत्यक्ष होता है या अन्य रूपसे निश्चिय होता है, उस प्रदेशमे उस व्याप्य पदार्थके ज्ञान विशेष-प्रयुक्त उसके व्यापक पदार्थ का जो ज्ञान विशेष उत्पन्न होता है वही ज्ञान विशेष अनुमिति है।

लिङ्ग–लिङ्गी

अनुमान मे व्याप्य पदार्थ ही हेतुरूप से गृहीत होता है अतः व्याप्य पदार्थ को लिङ्ग कहते है, और व्यापक पदार्थ को लिङ्गी कहते हैं इस लिये लिङ्ग-लिङ्गीका संबन्ध कहनेसे व्याप्य-व्यापक भाव संबन्ध कहा जाता है।

किसी स्थान मे धूम को देखने से ही इस स्थान मे वह्नि है इस प्रकार का ज्ञान बहुत लोगों को होता है, इसी प्रकार कहीं धूम विशेषको देख कर या शब्द विशेष सुन कर रेल गाड़ी या टीमर

के शीघ्र आनेका अनुमान कर के यात्री लोग सावधान हो जाते हैं यह सत्र-सम्मत है।

वृक्ष के कम्पन को देख कर या शंख-ध्वनि सुन कर ट्रीमर के शीघ्र आने का लोग क्यों नहीं अनुमान करते हैं। इसका कारण उक्त स्थलमें व्याप्य पदार्थ का ज्ञान नहीं होना है अतः तर्क-सिद्ध हो जाता है कि व्याप्य पदार्थके ज्ञान होने से ही उसके व्यापक पदार्थ का ज्ञान होता है और उसी को अनुमिति कहते हैं अर्थात् व्याप्य पदार्थ के ज्ञानसे जो व्यापक पदार्थ का ज्ञान है वही 'अनुमिति' है।

लिङ्ग-परामर्श

"वह्नि-व्याप्य धूम से युक्त यह प्रदेश है" इस ज्ञान को लिङ्ग-परामर्श कहते हैं इस प्रकार के ज्ञान होने के बाद ही "यह प्रदेश वह्नि से युक्त है" ऐसा ज्ञान होता है यही ज्ञान अनुमिति है।

पूर्वोक्त लिङ्ग-परामर्श अनुमिति का चरम कारण है इसी लिये उद्योतकर ने 'लिङ्गपरामर्श' को ही मुख्य अनुमान प्रमाण कहा है। जैसे — "वयन्तु पश्यामः सर्वमनुमानमनुमितेस्तन्नान्तरीयकत्वात् प्रधानोपसर्जनताविवक्षाया लिङ्गपरामर्श इति न्याय्यम्, कःपुनरत्र-न्यायः, ? आनन्तर्यप्रतिपत्तिरितियस्माल्लिङ्गपरामर्शादनन्तरं शेषार्थ-प्रतिपत्तिरिति तस्मादिलिङ्गपरामर्शो न्याय्य इति स्मृतिर्न प्रधानम्।"

(न्यायवार्तिक ५ . सूत्र)

लिङ्ग दर्शन, व्याप्तिस्मरण और लिंग-परामर्श ये सब अनुमान

प्रमाण हैं इस मे सन्देह नहीं, किन्तु उन में चरम कारण 'लिंगपरमर्श' ही प्रधान है।

व्याप्तिस्मरण

वह्निका धूम व्याप्य है, अर्थात् जिस जिस प्रदेश मे धूम रह है उस समस्त प्रदश मे वह्नि रहता ही हे ऐसा ज्ञान जिस व्यक्ति को हो चुका है उस को उस विपय का एक संस्कार उत्पन्न हो जाता है। कभी किसी प्रदेश में जब वह व्यक्ति धूम को देखता है या अन्य प्रमाण के द्वारा धूम को जानता है तव सामान्यत. धूम मात्र में उस के पहले जो वह्नि-व्याप्यता या वह्नि की व्याप्ति ज्ञात है उसका स्मरण होता है अर्थात् धूम के रहने से उस प्रदेशमें वह्नि अवश्य रहेगा, यह उस के मन में आता है उसी स्मरणको 'व्याप्ति-स्मरण' कहते हैं।

अनुमान शब्दार्थ का निर्वचन

'अनु' पूर्वक 'मा' धातु से भाव अर्थ मे ल्युट् प्रत्यय करने से 'अनुमान' शब्द सिद्ध होता है और उसका अर्थ 'अनुमिति' होता है।

अनुमिति

यद्यपि प्रत्यक्षविशेप-मूलक एक प्रकार के ज्ञान को 'अनुमिति' कहते हैं। और उसी को अनुमान भी कहा जाता है। इस प्रकार अनुमिति के अर्थ मे ही अनुमान शब्द का प्रयोग दृष्ट है किन्तु प्रमाण के विभाग में महर्पि गौतमने जब अनुमान शब्द का प्रयोग किया है

तब यहां अनुमान शब्द के द्वारा अनुमान प्रमाण समझा जाता है और 'अनुमीयतेऽनेन' इस अर्थ में 'अनु' पूर्वक 'मा' धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने से 'अनुमान' शब्द सिद्ध होता है। अर्थात् जो यथार्थ अनुमिति का करण है वही अनुमान प्रमाण है। पूर्वोक्त अनुमिति की तरह अनुमान भी प्रत्यक्ष विशेष-मूलक एक प्रकार का ज्ञान है।

प्रत्येक अनुमान में दो पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध विशेष का ज्ञान आवश्यक होता है। दो पदार्थ यानी एक व्याप्य या व्याप्त दूसरा व्यापक।

व्याप्य या व्याप्त

कोई भी पदार्थ जिस पदार्थ के सर्वत्र आधार प्रदेशमे सम्बन्ध युक्त हो कर रहता है उसे व्याप्य वा व्याप्त कहते हैं।

व्यापक

किसी पदार्थके सर्वत्र आधार-प्रदेशमें जिसका सम्बन्ध रहता है उसे व्यापक कहते हैं।

जैसे—विशिष्ट धूम व्याप्य है और वह्नि उसका व्यापक है। विशिष्ट धूम को व्याप्त कर के वह्नि रहता है अर्थात् जिस जिस प्रदेशमें धूम रहता है, सर्वत्र उस प्रदेशमें वह्नि रहता ही है। वह्निसे अतिरिक्त किसी प्रदेशमें भी धूम नहीं रह सकता है क्योंकि धूमका वह्नि कारण है। वह्नि के बिना धूम की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है अतः धूम के सकल आधार में वह्नि के सम्बन्ध रहने से धूम को वह्नि

का व्याप्य या वह्नि-व्याप्य कहते हैं। धूममें वह्नि का उक्त प्रकार का जो सम्बन्ध है उसी को 'व्याप्ति' कहते हैं। सर्वत्र सम्बन्ध का ही नाम 'व्याप्ति' है।

स्वार्थ और परार्थ के भेद से अनुमान दो प्रकार के होते हैं।

स्वार्थानुमान

स्वयमेव अनेक जगह धूम और वह्नि का सहचार (एकत्र अवस्थिति) देख कर 'यत्र धूमस्तत्राग्निः' इस प्रकार व्याप्तिज्ञान करके जो व्यक्ति पर्वत के समीप जाता है और पर्वत में वह्नि है या नहीं है इस प्रकार के संशय होने से पर्वत में धूम को देख कर उक्त व्याप्ति ज्ञान का स्मरण करता है यानी 'जहां धूम है वहां वह्नि है' इस पूर्व के निश्चय का स्मरण करता है और वैसा स्मरण होने से उसको "वह्नि-व्याप्य धूमवान् यह पर्वत है" इस प्रकार का जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही 'लिंगपरामर्श' है। वही लिंगपरामर्श "पर्वतोवह्निमान्— यानी पर्वतमें वह्नि है" इस अनुमितिरूप ज्ञानका उत्पादक है अतः वही स्वार्थानुमान है।

व्याप्तिज्ञान का हेतु क्या है ?

अनेक जगहके सहचार-दर्शन मात्रसे व्याप्ति-ज्ञान नहीं होता है किन्तु व्यभिचार-ज्ञानविरह-सहकृत जो सहचारज्ञान है वह व्याप्ति-ज्ञान का हेतु या व्याप्ति-ग्राहक होता है, क्योंकि पार्थिवत्व और लोह लेख्यत्व का शतशः कोठा, मन्दिर आदि में सहचार-दर्शन होने पर

भी मणि आदि में व्यभिचार हो जाता है अतः केवल सहचारका दर्शन ही व्याप्ति-ग्राहक नहीं है किन्तु व्यभिचार ज्ञानसे रहित जो सहचार दर्शन है वही सर्वत्र व्याप्ति ग्राहक होता है।

व्यभिचार ज्ञान दो प्रकार का होता है—निश्चय और शंका। उसका विरह यानी परित्याग कहीं तर्क से होता है और कहीं स्वतः सिद्ध है।

धूम-वह्निके व्याप्ति-ज्ञान में कार्य-कारण भाव के भंग हो जाने का जो प्रसंग उपस्थित हो जाता है उसी तर्क से वहाँ व्यभिचार शंकाका निवारण होता है यानी 'यदि धूमो वह्नि-व्यभिचारी स्यात् तर्हि 'वह्नि-जन्यो न स्यात्— अर्थात् धूम यदि वह्निसे अलग रहे तो वह वह्नि से उत्पन्न नहीं हो" इस तर्क से धूम-वह्नि के व्यभिचार शंका का निवारण हो जाता है क्योंकि धूम-वह्नि का वैसा ही कार्य-कारण भाव सर्वत्र दृष्ट है यानी सर्वत्र धूम-वह्नि का सहचार दर्शन होता है।

यद्यपि भूत, भविष्यत्, दूर, व्यवहित सकल धूममें वह्निके साहचर्य की लौकिक प्रत्यक्षता नहीं है तो भी सामान्यप्रत्यासत्ति से सकल धूम में वह्नि के साहचर्य की लौकिक प्रत्यक्षता होती है अर्थात् वह्नित्व-धूमत्वरूप सामान्य (जाति) की प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) से सकल वह्नि और धूमका ज्ञान हो जाता है।

परार्थानुमान

स्वयमेव धूमसे वह्नि का अनुमान करके दूसरे को समझाने के लिये जो पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग किया जाता है वह परार्था-

नुमान है। जैसे–'१-पर्वतो वह्निमान्' '२-धूमवत्त्वात्' ३- 'यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसम्' ४- 'तथा चायम्' '५-तस्मात्तथा'

पञ्चावयव

"प्रतिज्ञा-हेतूदाहरणोपनयननिगमनानि पञ्चावयवाः।"

पर्वत वह्निमान् है, यह प्रतिज्ञा है। धूम रहनेके कारण, यह हेतु है। जो जो धूमवान् हैं वे सब वह्निमान् हैं जैसे–पाकगृह। यह दृष्टान्त है। वैसा ही यह भी है यानी यह भी धूमवान् है यह उपनयन है। इस लिये यह भी वैसा ही है यानी वह्निमान् है यह निगमन है। इस प्रकार पक्ष-ज्ञान, लिंग-ज्ञान, पक्षधर्मता-ज्ञान, अबाधित्व आदि का ज्ञान उक्त पञ्चावयव का प्रयोजन है यानी प्रतिज्ञाका प्रयोजन पक्ष-ज्ञान है। हेतुका प्रयोजन लिंग-ज्ञान है। उदाहरणका प्रयोजन व्याप्ति-ज्ञान होता है। उपनयका प्रयोजन 'पक्षधर्मता' ज्ञान करना है निगमनका प्रयोजन किसी प्रकार की बाधा नहीं है यह ज्ञान करना है।

करण

"स्वार्थ और परार्थ दोनों अनुमितिओमें लिंग परामर्श ही करण है।' यद्यपि व्याप्तिस्मृति और पक्षधर्मता-ज्ञान इन दोनों से ही अनुमिति होती है तथापि "वह्निव्याप्यधूमवानयम्" यह जो शब्द-परामर्श है यानी उक्त प्रकार शब्द-जन्य जो पारमर्श होता है उस परामर्श की आवश्यकता है अतः उसी को सर्वत्र हेतु मानने से लाघव होता है अन्यथा "वह्निव्याप्योधूमः" और "धूमवान् पर्वत" इन

दोनों ज्ञानोंको हेतु मानने से गौरव होता है अतः 'लिङ्गपरामर्श' ही अनुमितिका करण है किन्तु लिंग करण नहीं है यही निश्चित है ।

प्रमेय

प्रमा में जो प्रतिभासित होता है उसे प्रमेय कहते हैं। प्रमेय बारह प्रकारके हैं जैसे–आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ (विषय), बुद्धि मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव यानी पूर्व शरीर के परित्याग कर के दूसरे शरीर का ग्रहण करना फल, दुःख, अपवर्ग अर्थात् मोक्ष।

संशय

अनिश्चयात्मक ज्ञान को संशय कहते हैं। संशय तीन प्रकार के होते हैं -साधारण धर्म, असाधारण धर्म, और विप्रतिपत्ति।

प्रयोजन

जिस के उद्देश से लोगों की प्रवृत्ति होती है,उसे प्रयोजन कहते हैं। प्रयोजन दो प्रकार के हैं—दृष्ट और अदृष्ट।

दृष्टान्त

'यथायमर्थं लौकिका बुध्यन्ते तथा परीक्षका अपि सोऽर्थो दृष्टान्तः'
(न्यायदर्शन २५ वें सूत्र का भाष्य)

लौकिक और परीक्षक दोनों समान रूप से जिस पदार्थ को जानते हैं वह दृष्टान्त होता है अर्थात् वक्ता और श्रोता दोनों जिस

वस्तु को समान रूप से जानते रहते हैं उसे "दृष्टान्त" कहते हैं। साधर्म्य और वैधर्म्य के भेद से दृष्टान्त दो प्रकार के होते हैं।

सिद्धान्त

प्रामाणिक रूपसे स्वीकृत जो वस्तु है वह सिद्धान्त है। सिद्धान्त चार प्रकार के होते हैं-सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण, और अभ्युपगम।

तर्क

व्याप्य के आरोप से जो व्यापक का आरोप किया जाता है उसे तर्क कहते हैं। तर्क एगारह प्रकार के होते हैं। जैसे-व्याघात, आत्माश्रय, अन्योऽन्याश्रय, चक्रकाश्रय, अनवस्था, प्रतिबन्धी, कल्पनालाघव, कल्पना-गौरव, उत्सर्ग, अपवाद, और वैजात्य।

निर्णय

यथार्थ अनुभव स्वरूप जो प्रमा है उसे निर्णय' कहते है। निर्णय चार प्रकार के होते हैं। जैसे-साक्षात्कृति, अनुमिति, उपमिति और शाब्द।

वाद

तत्त्व-निर्णय के फलस्वरूप जो कथा विशेष है उसे 'वाद' कहते हैं।

जल्प

विजय चाहने वाले वादी और प्रतिवादी दोनों के अपने अपने

पक्ष के साधन से युक्त जो कथा होती है उसे "जल्प" कहते हैं।

वितण्डा

अपने किसी पक्ष को स्थापन नहीं कर के जो दूसरे के पक्ष मे दोषारोपण करता है उसे "वितण्डा" कहते हैं।

कथा

वादी और प्रतिवादी के स्वपक्ष और पर-पक्ष का ग्रहण करना है उसे 'कथा' कहते हैं।

हेत्वाभास

जो पदार्थ साध्य का साधक नहीं होता है किन्तु हेतुत्वरूप से माना जाता है उसे 'हेत्वाभास' कहते हैं। हेत्वाभास पाच प्रकार के होते हैं, जैसे-सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम या साध्यसम, असिद्ध और अतीत काल।

असाधक वा दुष्ट हेतु हेत्वाभास कहा जाता हैं। जिसके ज्ञान होने से प्रकृत अर्थ की सिद्धि नहीं होती है वह अनुमिति के सवन्धमें दोष कहा गया है। वे दोष पाच प्रकारके हैं। जैसे– व्यभिचार, विरोध, प्रकरणसम, असिद्धि और कालात्यय। इन पांच प्रकार के दोष रहनेके कारण दुष्ट हेतु (हेत्वाभास) भी पाच प्रकारके कहे जाते हैं। जैसे—सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, असिद्ध और अतीत काल।

व्यभिचार और सव्यभिचार

हेतुमें साध्यकी व्याप्तिके अभाव होनेसे साध्याभावकी व्याप्ति का नहीं रहना व्यभिचार दोष है और व्यभिचार-युक्त हेतु को सव्यभिचार कहते हैं।

तात्पर्य यह कि धूमके रहने पर वह्नि को रहना ही पड़ेगा किन्तु वह्नि के रहने पर धूमको रहना ही होगा यह नहीं, धूम रह भी सकता है और नहीं भी रह सकता है। पर्वत आदिमे वह्निका हेतु धूम है किन्तु अयोगोलकमे धूम नहीं है यह व्यभिचार है अतः वह्नि-हेतुक धूमकी अनुमिति नहीं होती है।

विरुद्ध

जो हेतु अपने सिद्धान्तका ही विरोधी है उसे विरुद्ध हेतु कहते हैं।

प्रकरणसम वा सत्प्रतिपक्ष

तुल्यवल परामर्शकालीन परस्पर विरुद्ध अर्थ-साधनके निमित्त तुल्य वल सहकार से प्रयुक्त हेतु-द्वय को 'प्रकरण सम वा सत्प्रतिपक्ष' कहते हैं।

जैसे—एक पक्षका कथन है कि रूप'आदिकी तरह 'बहिरिन्द्रिय-ग्राह्य' होनेके हेतु शब्द अनित्य है, दूसरे पक्षका कथन है कि आकाशकी तरह स्पर्श-शून्य होनेके हेतु शब्द नित्य है।

असिद्ध

साध्य की तरह जो हेतु पक्षमे असिद्ध वा अनिश्चित है उसे असिद्ध कहते हैं।

जैसे—छाया को पक्ष और द्रव्यभाव को साध्य करके गति को हेतु कहना अर्थात् गति हेतु-प्रयुक्त छायामे द्रव्यत्व सिद्ध करना। छायामें द्रव्यभाव असिद्ध है।

कालातीत वा वाधित

पक्षमे साध्य-सत्ताके काल अतीत होने पर पक्षमें साध्य-साधन के लिये प्रवृत्त हेतु को कालातीत वा वाधित हेतु कहते हैं।

छल

दूसर अभिप्राय से कथित शब्द के दूसरे अभिप्राय की कल्पना करके दोष देना 'छल' है। छल तीन प्रकार के हैं, वाक्छल, सामान्यछल और उपचारछल।

जाति

अपना ही व्याघात करने वाला जो उत्तर है उसे जाति कहते हैं। जाति चौवीस प्रकार की होती है। जैसे-साधर्म्यसम, वैधर्म्यसम, उत्कर्षसम,अपकर्षसम, वर्ण्यसम,अवर्ण्यसम,विकल्पसम,साध्यसम, प्राप्तिसम, अप्राप्तिसम, प्रसङ्गसम, प्रतिदृष्टान्तसम, अनुत्पत्तिसम, संशयसम,प्रकरणसम, हेतुसम,अर्थापत्तिसम,अविशेषसम,उपपत्तिसम,

उपलब्धिसम, अनुपलब्धिसम, नित्यसम, अनित्यसम, और कार्यसम।

निग्रहस्थान

पराजय का जो निमित्त (हेतु) है उसे 'निग्रहस्थान' कहते हैं निग्रहस्थान बाईस प्रकारके होते हैं, जैसे-

प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त और हेत्वाभास।

हेतु

दृष्टान्त के समान धर्म रहने के कारण साध्य का जो साधक है वह हेतु है

अपवर्ग (मोक्ष)

दुःख क आत्यन्तिक उच्छेद को मोक्ष कहते हैं। न्याय शास्त्र म जो प्रमाण आदि सोलह भाव पदार्थ कहे गये हैं उनक तत्त्वज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष दो प्रकार के हैं—परा मुक्ति और अपरा मुक्ति। निर्वाण मुक्तिको 'परा मुक्ति' कहते है। वह मुक्ति तो पदार्थों के तत्त्वज्ञान के बाद ही नहीं प्राप्त होती है किन्तु उस के प्राप्त होने का यह क्रम है-,

"दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।" (न्याय-दर्शन १।१।२)

दुःख, जन्म, प्रवृत्ति (धर्म-अधर्म), दोष (राग-द्वेष) और मिथ्याज्ञान यानी आत्मा प्रभृति पदार्थों में अनेक प्रकार का भ्रमज्ञान इन सब के उत्तर उत्तर के विनाश से अर्थात् कारण के विनाश से कार्यनाश क्रम से, अव्यवहित पूर्व पूर्व के विनाश हो जाने से अपवर्ग अर्थात् निर्वाण- लाभ होता है।

निर्वाण मुक्ति

तत्त्व पदार्थके सामान्य और विशेष रूपसे तत्त्व ज्ञान होने से मिथ्या ज्ञान का विनाश होता है। और मिथ्या ज्ञानके विनाश होने से राग-द्वेष रूप दोष की निवृत्ति होती है, उसकी निवृत्ति होने से धर्म-अधर्मरूप प्रवृत्तिकी निवृत्ति होती है, उसकी निवृत्ति से जन्म की निवृत्ति होती है। जन्मकी निवृत्तिसे दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है यही "निर्वाण-मुक्ति" है इसीको "परा मुक्ति" भी कहते हैं।

जीवन्मुक्ति

जो मुक्ति उक्त पदार्थोंके तत्त्व-साक्षात्कारके बाद ही उत्पन्न होती है उसे 'जीवन्मुक्ति' या 'अपरा-मुक्ति' कहते हैं।

तत्त्व-साक्षात्कारकी महिमा से मुमुक्षुके 'पूर्व सचित' धर्म-अधर्म समस्त विनष्ट हो जाते हैं, किन्तु प्रारब्ध धर्म-अधर्म रहता ही है। बिना भोगके प्रारब्ध कर्मका क्षय नहीं होता है इस लिये जीवन्मुक्त व्यक्ति को जितने दिन तक प्रारब्ध भोगके लिये शरीर धारण करना

पड़ता है उतने दिन तक उनको निर्वाण मुक्ति प्राप्त नही होती है। जैसी श्रुति है—"तावदेवास्यचिरं यावन्नविमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये"मुमुक्षु जो आत्मा आदि पदाथ संबन्धी मिथ्या ज्ञान विनष्ट करनेके लिये प्रथमत.वेदादि शास्त्र-द्वारा आत्मा आदिके यथार्थ स्वरूपका शब्द-बोध प्राप्त करता है उसीका नाम 'श्रवण' है। उसके बाद युक्तिके द्वारा उस श्रुत-तत्त्व की परीक्षा करना 'मनन' है। नैयायिक के मतमे वह मनन इस न्यायविद्या के अधीन है, उस न्यायविद्या के द्वारा प्रमाणों के तत्त्व-ज्ञान सम्पादन के लिये संशय प्रभृति पदार्थो का तत्त्व—ज्ञापन कराया गया है। उपादेय और त्याज्य के भेदसे व्यवस्थित जो प्रमेय पदार्थ सब हैं उनके तत्त्व ज्ञापन के लिये ही प्रमाण पदार्थो का तत्त्व-ज्ञापन किया गया है।

प्रमाणोके द्वारा विचार करने से यह निश्चित होता है कि आत्मा से ले कर अपवर्ग-पयन्त बारह प्रकारके जो प्रमेय पदार्थ हैं उनमे 'आत्मा' और 'अपवर्ग' उपादेय (ग्राह्य) हैं। बाकी जो दश पदार्थ हैं वे त्याज्य है। ये दश पदार्थ ही दु.खके हेतु हैं अतः वे हेय हैं।

न्यायविद्याके साहाय्यसे मनन के द्वारा आत्मा आदि पदार्थोके तत्त्व ज्ञान होने पर भी मिथ्याज्ञान-जन्य संस्कार रहता ही है। और पहले की तरह उसे भ्रमज्ञान भी होता ही रहता है। दिग्भ्रान्त व्यक्तिका हजारों अनुमानके द्वारा भी वह सस्कार विनष्ट नहीं होता है।

तत्त्व-साक्षात्कार होने पर ही मिथ्यासाक्षात्कार वा विपरीत साक्षात्कार निवृत्त हो सकता है और तत्त्व-साक्षात्कार-जन्य संस्कार ही विपरीत संस्कार को दूर कर सकता है यह लोक प्रसिद्ध है अर्थात् लौकिक भ्रमस्थल में भी ऐसा ही देखा जाता है। जो व्यक्ति भ्रमसे रज्जुको सर्प समझता रहता है उसको जब तक रज्जु के स्वरूपका प्रत्यक्ष नहीं होता है तब तक उसका वह भ्रम विनष्ट नहीं होता है। किसी आप्त जनके द्वारा यह कह देने पर भी कि 'यह सर्प नहीं है' अथवा हेतु की सहायतासे 'यह सर्प नहीं है' इस प्रकारके अनुमान होने पर भी कुछ देरके बाद उसके समीप जाने पर पुनः वहां पर सर्प ज्ञान उपस्थित हो जाता है। किन्तु रज्जुके स्वरूप के प्रत्यक्ष हो जाने के पश्चात् फिर वह भ्रम नहीं रहता है, उसी प्रकार आत्मा आदि विषयोंमें जीवको प्रत्यक्षात्मक भ्रमज्ञान रहता है, उसके नाश करनेके लिये आत्मा आदि पदार्थोंके तत्त्व-साक्षात्कार करना अवश्यक होता है। तत्त्व-साक्षात्कार उत्पन्न होने के पश्चात् वह बद्ध नहीं कहला सकता। उस समय वह मुक्त कहा जाता है किन्तु तत्त्व-ज्ञान होने से सहसा वह देहसे विमुक्त हो जाता है यह कहना ठीक नहीं है। प्रारब्ध कर्म-फलको भोगने के लिये वह जीवित रहता है। वही तत्त्वदर्शी जीवन्मुक्त व्यक्ति शास्त्रवक्ता हैं उन्हींका उपदेश शास्त्र है।

सारांश यह कि निर्वाण मुक्ति तत्त्व-ज्ञानके बाद ही नहीं होती है। जीवन्मुक्ति तत्त्वज्ञानके बाद ही प्राप्त होती है।

उपमिति

प्रसिद्ध-साधर्म्य के द्वारा जो साध्यका निश्चयात्मक ज्ञान है उसे 'उपमिति' कहते हैं। गौतम सूत्रके भाष्यकार वात्स्यायनने इस प्रकार इसकी व्याख्या की है— अतिदेश वाक्य-प्रयोज्य स्मृति सहकृत प्रसिद्ध वस्तुके सादृश्य-ज्ञान द्वारा जो अप्रसिद्ध वस्तु विषयक सञ्ज्ञा-सञ्ज्ञी (नाम-नामी)का बोध है वह 'उपमिति' है।

अतिदेश-वाक्य

एक पदार्थमें जो अन्य पदार्थका धर्म कथन है उसे 'अतिदेश-वाक्य' कहते हैं। 'गाय की तरह गवय पशु होता है' यह वृद्ध-वाक्य ही अतिदेश वाक्य है। जब कोई व्यक्ति किसी जानकार व्यक्तिसे सुनता है कि गायकी तरह गवय होता है, उसके बाद कभी वह जंगलमें जाता है और वहां 'गवय' को देखता है। गाय के सादृश्य ज्ञान प्रयुक्त अतिदेश वाक्य-जन्य संस्कार रहनेके कारण 'गायकी तरह गवय होता है' इस वाक्यका स्मरण करके इस जन्तुका ही नाम गवय है इस प्रकार सञ्ज्ञा-सञ्ज्ञीका बोध ही उपमिति है। गौतमने उपमितिका विभाग नहीं किया है किन्तु उदयनाचार्य प्रभृतिने साधर्म्य और वैधर्म्यके भेदसे उपमितिके दो भेद कहे हैं।

शब्द-प्रमिति और शब्द-प्रमाण

शब्द द्वारा जो बोध होता है उसे शब्दबोध कहते हैं। जैसे— गुरुके उपदेश वाक्य श्रवण करके छात्रोंको उपदिष्ट अर्थका शब्द-

बोध उत्पन्न होता है। गौतमसूत्र मे इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है—आप्त वाक्यको शब्द कहते हैं उस शब्द-जन्य बोधको शाब्द प्रमा कहते हैं और उस के जनक शब्द को शब्दप्रमाण कहते हैं। वह शब्द प्रमाण दो प्रकारके हैं। जैसे— दृष्टार्थक और अदृष्टार्थक।

दृष्टार्थक

जिस शब्दका अर्थ प्रत्यक्ष सिद्ध है उसको 'दृष्टार्थक' कहते हैं जैसे—तुम गौर वर्ण हो, मेरी पुस्तक अच्छी है।

अदृष्टार्थक

जिस शब्दका अर्थ प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है उसको अदृष्टार्थक कहते हैं। जैसे—यज्ञ करनेसे स्वर्ग मिलता है, भगवान् की पूजा करने से भगवान् प्रसन्न होते हैं।

प्रमाण द्वारा ही प्रमेय पदार्थ स्थिर किया जाता है अतः प्रथम प्रमाण का ही उल्लेख किया गया है।

गौतमने सोलह पदार्थके विषय-वर्णन करके परीक्षाके विषयका उल्लेख किया है।

परीक्षा

किसी विषय को स्वीकार करनेके लिये जिस युक्तिका उपन्यास (कथन) किया जाता है उसको परीक्षा कहते हैं। जिस जिस विषयमे सन्देह उत्पन्न होता है उसके तत्त्व-निश्चयके लिये परीक्षा की जाती है। जैसे—प्रमेय आदि की परीक्षा है।

आत्म-परीक्षा

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, ज्ञान ये सब जीवात्मा के लिङ्ग अर्थात्, अनुमापक गुण है। जिनके ज्ञान आदि गुण है किन्तु जो जड है वही आत्मा हैं। वह नित्य, व्यापक, चेतन और प्रति शरीर भिन्न है।

समस्त इन्द्रिय और शरीर आदि के अधिष्ठाता आत्मा है। आत्मा के नही रहने पर इन्द्रिय आदि से कुछ भी कार्य नहीं हो सकता है। जैसे रथ-गमन से सारथि का अनुमान होता है, वैसे ही जड़ात्मक देह की चेष्टा आदि देख कर आत्मा का अनुमान होता है।

शरीर-परीक्षा

शरीर के सम्बन्धमे अनेक मतभेद है। किसी का मत है कि पंचभूत-योगसे शरीर उत्पन्न होता है अत शरीर पाचभौतिक है। किसी का मत है कि शरीरमे आकाशके योग रहने पर भी आकाश उपादान कारण शरीर का नही है अत. शरीर चातुर्भौतिक है। किसी का मत है कि शरीरमे वायु-सबन्ध रहने पर भी शरीरके बाहर और भातर सदा गमन-शील वायु उपादान कारण शरीरका नहीं हो सकता है। गौतमका मत है कि शरीर पार्थिव है। शरीरमे पृथिवीके गन्ध गुण की प्रत्यक्षता है अत शरीर पार्थिव है। शरीरमे जल आदि का उपष्टम्भ मात्र है अर्थात् उपका सहयोगी सम्बन्ध मात्र है।

अथ वैशेषिक-न्याय दर्शनके खण्डन प्रारम्भ

परमाणु कारणवादका खण्डन

इस जगत मे जितने पदार्थ दृष्ट होते हैं वे सब के सब अपने अवयवों से ही रचित देखे जाते हैं। जैसे वस्त्र तन्तु से बनता है और घट मृत्तिका से बनता है। तन्तु (सूता) वस्त्र का अवयव है और मृत्तिका घट का अवयव है अत तन्तु का वस्त्र और मृत्तिका का घट अवयवी है।

अवयवी पदार्थों की उत्पत्ति अपने अवयवों के समवाय (संघ) और सयोग से होती है।

वस्त्र और घट भी समवाय सबन्ध-युक्त, सयोग-सहकृत तन्तु और मृत्तिका से उत्पन्न होता है।

तत्सामान्यरूप से यानी उस के समान होने के कारण जो कुछ भी सावयव पदार्थ है वे सब स्वानुगत यानी अपनेमें अनुगत समवाय-सबन्ध युक्त, और सयोग-सहकृत किसी द्रव्य पदार्थ के द्वारा उत्पन्न होते हैं, और वह अवयव-अवयवी का विभाग जहा निवृत्त होता है यानी जहा पर उक्त विभाग नहीं होता है, वह अपकर्षपर्यन्त-गत अर्थात् सूक्ष्म की चरम सीमा में प्राप्त पदार्थ परमाणु है।

पर्वत, समुद्र प्रभृति यह समस्त जगत सावयव हैं और सावयव होने के कारण वे उत्पत्ति-विनाशवान् हैं और कार्य भी, बिना कारण

का कभी नहीं हो सकता है इसी लिये परमाणु ही समस्त जगत का कारण है इस प्रकार वैशेपिक-सिद्धान्त में परमाणुकारणवाद या आरम्भवाद माना जाता है।

पृथिवी, जल, तेज, और वायु इन चार भूतों को सावयव देखने से चार प्रकार के परमाणु की कल्पना करनी पड़ती है, वे सारे परमाणु सूक्ष्म की चरम सीमा पर हैं अतः उनका विभाग नहीं हो सकता है।

नाशवान् पृथवी आदि भूतों का परमाणु-पर्यन्त जो विभाग होता है वही 'प्रलय' है।

जब जीव का अदृष्ट भोगोन्मुख यानी जीवको सुख-दुःख भोग-कराने के लिये प्रवृत्त होता है तब सब से प्रथम वायवीय परमाणु में अदृष्ट के अनुरोध से कर्म उत्पन्न होता है वह कर्म अपने आश्रय (आधार) स्वरूप परमाणु को अपर परमाणु से संयुक्त कर देता है यानी उक्त कर्म के द्वारा वायवीय परमाणुओं का परस्पर संयोग हो जाता है।

उसके बाद वायवीय द्वयणुक, त्र्यणुक आदि क्रम से वायु उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार अग्नि (तेज), जल और पृथिवी उत्पन्न होती है यानी प्रथम परमाणु में कर्म यानी क्रिया, उस क्रिया से परमाणुओंका संयोग और उस संयोग से द्वयणुक, त्र्यणुक आदि क्रम से

अग्नि, जल आदि उत्पन्न होते हैं। इसी रूप से इन्द्रिय-सहित शरीर उत्पन्न होता है ।

यह समस्त जगत् परमाणु से उत्पन्न होता है और 'तन्तु-पट' न्याय की प्रणाली से परमाणु-वर्ती रूप आदि गुण से द्वयणुकादि-वर्त्ती रूप आदि गुण उत्पन्न होते हैं इस तरह जो भूतोंकी उत्पत्ति है वही सृष्टि या सर्ग-काल है ।

इस प्रकार संयोग से सर्ग यानी सृष्टि होती हैं और विभाग से प्रलय होता है । संयोग की उत्पत्ति होने के लिये पहले परमाणुओं मे कुछ कर्म (व्यापार) होता है तब परमाणुओंका पारस्परिक संयोग और उस से द्वयणुक, त्र्यणुक की उत्पत्ति क्रम से इस जगत्रूप सृष्टिका निर्माण होता है और विभाग की उत्पत्ति होने के लिये भी पहले परमाणुओं मे जब कुछ कर्म होता है तभी प्रलय होता है ।

परमाणुकारणवादी के सृष्टि-प्रलयके खण्डन

परमाणुकारण वाद मे यह कहा जाता है कि प्रलय-काल मे जब परमाणु सब एक दूसरे से विभक्त यानी अलग अलग रहते हैं तब जो उनका संयोग होता है वह कर्म-वशतः यानी वह कुछ कर्मके द्वारा ही होता है क्योंकि तन्तुओं मे कुछ कर्म होने से ही तन्तुओं का संयोग देखा जाता है और कर्म पदार्थ कार्य है अर्थात् किसी से जन्य (उत्पन्न) होता है यानी कर्म का कुछ निमित्त (हेतु) अवश्य

रहता है क्योंकि उसके हेतु नहीं रहने से परमाणुओं में पहले पहल कर्म कैसे उत्पन्न हो सकता है ?

निमित्त भी, प्रयत्न अथवा अभिघात अर्थात् क्रिया से युक्त एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ संयोगविशेष (जैसे कूटने के समय गिराते हुए मुसल का ऊखल से जो संयोग है), संस्कार अर्थात् वेग आदि इन में से ही कुछ मानना पडेगा और उनमें से किसी का भी संभव नहीं है क्योंकि प्रलय-काल में प्रयत्न का असंभव है क्योंकि उस समय शरीर नहीं है और शरीर में अवस्थित जो मन है उस मनमें आत्माके संयोग होनेसे आत्मामें प्रयत्न नामका गुण उत्पन्न हो सकता है।

इस प्रकार सृष्टि (सर्ग) होने के पश्चात् ही अभिघात आदि भी दृष्ट होता है।

सृष्टिके पहले यानी प्रलय-काल में कुछ भी निमित्त नहीं रहने के कारण परमाणुओं में आद्य कर्म (प्राथमिक कर्म) असंभव है।

यदि यह कहा जाय कि अदृष्ट निमित्त है तो वह अदृष्ट आत्म-समवायी, होगा अथवा अणु-समवायी होगा अन्य प्रकार से अदृष्ट कारण नहीं हो सकता है क्योंकि वह अचेतन है।

अचेतन पदार्थ जब चेतन से अधिष्ठित (प्रेरित) नहो होता तब वह किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है अथवा अन्यको भी प्रवृत्त नहीं कराता है अर्थात् स्वयं अचेतन पदार्थ न तो किसी कार्य मे प्रवृत्त होता है और न दूसरे को प्रवृत्त कराता है।

प्रलय-काल में आत्मा भी अचेतन हो रहता है क्योंकि सृष्टि-कालमे उसमें चैतन्य गुण उत्पन्न होता है।

अदृष्ट को आत्म-समवायी यानी समवाय संबन्ध से आत्मा में अदृष्ट रहता है यह कहने पर भी परमाणु-वर्त्ती कर्म का कारण अदृष्ट नहीं हो सकता है क्योंकि अदृष्ट से परमाणुओंका कुछ भी संबन्ध नहीं है। "अदृष्टवान् पुरुष (आत्मा) के साथ समस्त परमाणुओं का संबन्ध है यानी संयुक्तसमवाय संबन्ध है ऐसा मानने पर सर्वदा संबन्ध रहने के कारण सर्वदा प्रवृत्ति होती रहेगी क्योंकि उसका और कोई अन्य हेतु नहीं है।

उक्त प्रकार कुछ भी कारण नहीं रहनेके हेतु परमाणुओंमें प्राथमिक कर्म नहीं हो सकता है और कर्म नहीं होने से संयोग नहीं होगा क्योंकि संयोगका कारण कर्म अर्थात् क्रियाविशेष है।

संयोग नहीं होने से द्व्यणुक आदि किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होगी क्योंकि द्व्यणुक आदि की उत्पत्ति संयोग होने से होती है। इस प्रकार परमाणुकारणवाद युक्ति-रहित है यही निश्चित होता है।

अन्यप्रकारसे भी परमाणुकारणवादका खण्डन

दूसरे प्रकार से भी परमाणुकारण वाद संगत नहीं है क्योंकि एक परमाणु का दूसरे परमाणुसे संयोग भी क्या सर्वात्मना होता है? अथवा एक देश से होता है?

यदि सर्वात्मना संयोग होता है तो उपचय (वृद्धि) नहीं

होगा। वृद्धि नहीं होनेसे वह अणुमात्र ही रहेगा। स्थूल या दीर्घ द्रव्य नहीं हो सकेगा।

सारांश यह कि जब एक परमाणु का दूसरे परमाणु से समस्त अंशसे संयोग हो जायगा तब भी उतना ही बड़ा रहेगा कुछ भी उससे बडा नहीं होगा क्योंकि एक का समस्त अंश दूसरेमें मिल गया यानी तदाकार हो गया तब कैसे संयोग होने से बड़ा होगा ?

फिर भी समस्त अंशसे "एक दूसरे से संयुक्त होता है" यह मानने पर दृष्टि-विपर्यय अर्थात् लोगोंमें जो देखा जाता है उसके विपरीत हो जायगा क्योंकि लोगों मे अवयव-विशिष्ट द्रव्य के साथ अवयव-विशिष्ट द्रव्यका संयोग ही देखा जाता है।

यदि एक अंश से संयोग मानें यानी एक परमाणुके एक देश के साथ अन्य परमाणु के एक देश का संयोग होता है ऐसा मानने पर परमाणु सावयव होता है यानी परमाणु का अवयव सिद्ध हो जाता है-।

वैशेषिकका वेदान्त पर आक्षेप

न्याय-वैशेषिकके मतमें सृष्टिके संबन्धमें "परमाणुकारणवाद" माना गया है और वेदान्तियोंने ब्रह्मकारणवाद माना है। वेदान्त-मत मे चेतन ब्रह्म इस सृष्टिका कारण कहा जाता है उस पर परमाणु-कारण वादी न्याय और वैशेषिकका इस प्रकार आक्षेप (शंका) है—

ब्रह्म चेत् जगतोयोनिस्तद्‌विशेषगुणान्वितम्।
जगत् स्यान्नतु तत् तस्मात् तस्य न प्रकृतिर्भवेत्॥

अर्थात् ब्रह्म यदि जगतका उपादान कारण यानी समवायी कारण रहता तो यह जगत् ब्रह्मके विशेष गुण चैतन्यसे युक्त होता, किन्तु वैसा नहीं होता है अतः ब्रह्म जगतका उपादान कारण नहीं है।

कहनेका तात्पर्य यह कि चेतन यदि आकाश आदि कार्योंका उपादान कारण होता तो तदारब्ध यानी उससे उत्पन्न आकाश आदि भी चेतन होता क्योंकि शुक्ल वर्ण तन्तुसे उत्पन्न वस्त्र शुक्ल वर्ण ही होता है, कभी लाल नहीं देखा जाता है और रक्त यानी लाल रंगके तन्तु से उत्पन्न वस्त्र लाल ही होता है, कभी शुक्ल या कृष्ण वर्ण नहीं होता है इसी प्रकार चेतनसे उत्पन्न आकाश आदि भी चेतन ही होता, अत एव जगतका उपादान कारण अचेतन ही है यही युक्ति-युक्त होता है और वह अचेतन परमाणु है। क्योंकि सूक्ष्म पदार्थ से स्थूल पदार्थकी उत्पत्ति देखी जाती है। जैसे— तन्तुसे वस्त्रकी और अंशुसे तन्तुकी उत्पत्ति होती है, इस प्रकार अपकर्ष अर्थात् शेष-पर्यन्त यानी आखिरमें कारण द्रव्य परमसूक्ष्म, निरवयव हो कर रहता है, इसी निरवयव मूल कारण द्रव्यको 'परमाणु' कहते हैं।

परमाणु को सावयव माननेसे उसके असंख्य अवयव होनेसे पर्वतराज सुमेरु और सर्षप (सरसो) दोनों का परिमाण (वज़न) समान हो जाने का दोष उपस्थित हो जाता है, इसकी विवेचना पहले हो चुकी है।

अचेतन परमाणु को इस जगतके कारण मानने की पद्धति इस प्रकार है—

जगत की उत्पत्ति का क्रम

सब से पहले अदृष्ट-युक्त जीवात्मा के परमाणु के साथ संयोग रहने से परमाणुमें एक प्रकार की क्रिया उत्पन्न होती है। तब वह परमाणु एक दूसरे परमाणु से संयुक्त हो कर (मिल कर) द्वयणुक को आरम्भ करता है यानी उत्पन्न करता है और तीन द्वयणुक मिल कर एक 'त्रसरेणु' को उत्पन्न करते हैं और इसी क्रमसे चार त्र्यणुक मिल कर एक "चतुरणुक" को आरम्भ करते हैं इसी क्रमसे सूक्ष्म पदार्थ से स्थूल जगत की उत्पत्ति होती है।

यह नियम नहीं है कि बहुत परमाणु संयुक्त हो कर एक ही बार यानी उक्त द्वयणुक आदिकी उत्पत्ति-क्रमको छोड़ कर एकाएक स्थूल पदार्थको ही उत्पन्न कर दे क्योंकि वे बहुत भी परमाणु ही हैं। परमाणुके बाहुल्य रहने पर भी उससे साक्षात् स्थूल पदार्थकी उत्पत्ति युक्ति-युक्त नहीं कही जा सकती क्योंकि यदि घटके आरम्भक अनन्त परमाणु ही एकाएक घटको उत्पन्न करते तो घटके ध्वंस (नाश) होने पर वहां कपाल, शर्करा आदि छोटे छोटे घटके टुकडे दृष्ट नहीं होते, किन्तु घटके फूटने पर उसके अवयव ही ध्वंसावशेष रहते और वे अवयव परमाणु ही होते अतः वे दृष्ट भी नहीं होते किन्तु घट विनष्ट होने पर उसके छोटे छोटे अवयव दृष्ट होते हैं अतः द्वयणुक आदिके क्रमसे ही किसी पदार्थ की उत्पत्ति होती है यही निश्चित होता है।

इस प्रकार द्रव्य के प्रति बहुत परमाणु समवायी करण नहीं होते हैं किन्तु दो परमाणु ही द्वयणुक रूप द्रव्य के समवायी कारण

होते हैं यानी दो परमाणु ही द्व्यणुकको उत्पन्न करते हैं। द्व्यणुक का परिमाण अणु है और परमाणु का परिमाण जो पारिमाण्डल्य है उससे भिन्न है। ईश्वर की अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न जो परमाणु-गत द्वित्व-संख्या है वही द्व्यणुकके परिमाण का आरम्भक है।

उक्त प्रकार दो द्व्यणुकोंसे भी किसी द्रव्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि उत्पन्न होने वाला वह द्रव्य व्यर्थ हो जायगा, कारण यह कि द्व्यणुकसे उत्पन्न द्रव्य भी द्व्यणुक ही होगा, महत् परिमाणका नहीं होगा क्योंकि कारणके बहुत्वसे, कारणके महत्त्वसे और प्रचय-विशेष से महत्त्वकी उत्पत्ति होती है।

दो द्व्यणुकोंमें भी महत्त्व नहीं है अतः उनसे उत्पन्न द्रव्य कैसे महत् हो सकता है? दो द्व्यणुकों में बहुत्व संख्या भी नहीं है क्योंकि वे दो ही हैं यानी उनमें द्वित्व संख्या ही है और तूल-पिण्ड (रूईके पिण्ड) की तरह द्व्यणुक का प्रचय-भेद यानी अवयव-समुदाय का शिथिल संयोग भी नहीं है क्योंकि उनका जो अवयव-समुदाय है वह निरवयव है अतः उनके अवयव-समुदाय का शिथिल संयोग विशेष कैसे कहा जा सकता? अतः दो द्व्यणुकों से उत्पन्न द्रव्य भी अपने कारण द्व्यणुक की तरह अणुपरिमाणका ही होगा और ऐसा होनेसे पुरुषके भोग विशेष नहीं होनेके कारण संसार का निर्माण, जो भोगके लिये है और जिसका कारण अदृष्ट माना जाता है, अब वैसा नहीं होगा यानी सृष्टि-रचना का प्रयोजन जो भोग करना है वह नहीं होगा और उसका कारण जो अदृष्ट कहा

जाता है वह भी कारण नहीं होगा किन्तु वह सृष्टि-रचना जब तत्कारण से यानी द्व्यणुकका कारण जो द्व्यणुक है उस कारण स्वरूप द्व्यणुकसे ही हो जायगी यानी कारणस्वरूप द्व्यणुकसे ही सृष्टि उत्पन्न हो जाने से द्व्यणुकसे उत्पन्न दूसरे द्व्यणुकका कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता है इस प्रकार द्व्यणुक से उत्पन्न अपर द्व्यणुक का आरम्भ (उत्पत्ति) व्यर्थ हो जाता है अतः आरम्भ को सार्थक करनेके लिये बहुत द्व्यणुकों के द्वारा महत् और दीर्घ त्र्यणुक और त्र्यणुकोंसे चतुरणुक द्रव्यका आरम्भ होना उचित है क्योंकि प्रत्येक द्रव्यमें अलग अलग भोग होता है और ईश्वरकी अपेक्षा बुद्धिसे उत्पन्न जो बहुत्व संख्या है वही महत्त्व परिमाण का योनि अर्थात् असमवायी कारण है किन्तु त्र्यणुक आदिसे जो कार्य द्रव्य उत्पन्न होता है वह कारण की बहुत्व संख्या से अथवा कारण के प्रचय-भेदसे अथवा कारणके महत् परिणाम से "महत्" होता है यही न्याय-वैशेषिककी प्रक्रिया है।

वैशेषिक के आक्षेप का निराकरण

वैशेषिक की उक्त प्रक्रियासे ही उनके आक्षेपका निराकरण किया जाता है।

वैशेषिक का यह जो नियम है कि "कारणसमवेत समस्त गुण यानी समवाय सम्बन्धसे कारणमें रहने वाले समस्त गुण कार्यद्रव्यमें अपने समान गुणको आरम्भ (उत्पन्न) करते हैं" यह व्यभिचार से दुष्ट है यानी उसका अपना ही नियम अपनी ही प्रक्रियामें सर्वत्र मान्य नहीं है क्योंकि जैसे ह्रस्व द्व्यणुकसे महत् त्र्यणुककी उत्पत्ति

होती है किन्तु त्र्यणुकका महत्त्व गुण द्व्यणुकके महत्त्व गुणकी अपेक्षा नहीं करता है क्योंकि द्व्यणुक ह्रस्व है यानी महत्त्व गुणसे रहित है। अथवा जैसे ह्रस्व-द्व्यणुकसे दीर्घ त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है किन्तु त्र्यणुक की दीर्घतामें द्व्यणुककी दीर्घता की अपेक्षा नहीं होती है क्योंकि द्व्यणुकमे दीर्घताका अभाव है। जैसे—परिमण्डल परमाणु से अपरिमण्डल अणु और ह्रस्व परिमाण द्व्यणुक उत्पन्न होता है उसी प्रकार चेतन ब्रह्मसे अचेतन जगतकी उत्पत्ति होती है।

वैशेषिक-गणके मतमे समस्त परमाणु कुछ काल तक यानी जितने दिन तक प्रलय काल रहता है उतने दिन तक किसी प्रकारके कार्य को आरम्भ नहीं करते हैं और जो जिसका सम्भव है उस रूप आदि गुण से युक्त हो कर पारिमाण्डल्य परिमाणसे यानी निरतिशय परम सूक्ष्म परिमाणसे युक्त हो कर प्रलय समयमे रहते हैं।

प्रलय काल बीत जाने पर अदृष्ट-युक्त जीवके साथ परमाणुओंके संयोग होने से परस्पर संयुक्त हो कर द्व्यणुकादि-क्रमसे समस्त कार्यको उत्पन्न करता है और कारणके समस्त गुण अर्थात् कारण समवेत समस्त गुण अपने कार्यमे अपने सजातीय गुणान्तर का यानी अन्य गुणको उत्पन्न करता है अतः उत्पन्न होने पर भी कार्य द्रव्य एक क्षण तक निर्गुण यानी गुणसे शून्य रहता है। जब दो परमाणुओं से एक द्व्यणुककी उत्पत्ति होती है तब उसके शुक्ल आदि गुण तो द्व्यणुकमे अपर शुक्ल आदि के आरम्भक होते हैं किन्तु परमाणुका जो परिमाण है जिसका नाम पारिमाण्डल्य

है वह द्वयणुकमें अपर पारिमाण्डल्य परिणाम का आरम्भ नहीं करता है किन्तु द्वयणुक में परमाणु से विलक्षण अणु और ह्रस्व परिमाण माना जाता है

इसी प्रकार तीन द्वयणुक से एक त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है और द्वयणुक समवेत शुक्ल आदि गुण भी त्र्यणुक में सजातीय अपर शुक्ल आदि गुणका आरम्भक होता है किन्तु द्वयणुकका जो अणु और ह्रस्व परिमाण है वह अपने सजातीय अपर अणु और ह्रस्व परिमाण को त्र्यणुकमें उत्पन्न नहीं करता है किन्तु उससे विलक्षण परिमाण जो महत्, दीर्घ है वह त्र्यणुकमें उत्पन्न होता है।

साराश यह कि जिस प्रकार वैशेषिक-मतमे परिमण्डल परमाणुसे विलक्षण (विभिन्न) अणु और ह्रस्व द्वयणुककी उत्पत्ति होती है। • अणु और ह्रस्व द्वयणुक से विलक्षण महत् और दीर्घ त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार चेतन ब्रह्म से विलक्षण अचेतन जगतकी उत्पत्ति हो सकती है।

यदि यह कहा जाय कि विरोधी अन्य परिमाणके द्वारा कार्य द्रव्य द्वयणुक आदि आक्रान्त होता है अत कारण-गत पारिमाण्डल्य उसके परिमाणका आरम्भक नहीं होता है और यहा तो चेतनाके विरोधी अन्य गुण के द्वारा जगत् आक्रान्त नहीं होता है अत यहां कारण-गत चेतना कार्यमे अन्य चेतना को क्यो नहीं उत्पन्न करेगा। क्योंकि "अचेतना" नामका चेतना-विरोधी कोई गुण नहो है किन्तु अचेतना केवल चेतना का अभाव मात्र है।

इस प्रकार पारिमाण्डल्य आदि दृष्टान्तके साथ समानता नहीं रहनेके कारण कारणगत चेतना कार्य-गत चेतनाका उत्पादन करेगी यह कहना असगत है क्योंकि "जिस प्रकार कारणमे रहता हुआ भी पारिमाण्डल्य आदि गुण कायके गुण का आरम्भक नहीं होता है उसी प्रकार कारणमे रहता हुआ भी चैतन्य गुण कार्यरूप जगतके गुणका आरम्भक नहीं होता है" यह अंश तो दृष्टान्त और दार्ष्टान्त दोनों मे समान ही है ।

"अन्य परिमाण से आक्रान्त होने के कारण पारिमाण्डल्यादि आरम्भक नहीं होता है" यह भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अन्य परिमाण से आक्रान्त होने के पहले ही पारिमाण्डल्य गुण क्यों नहीं द्व्यणुकमे अपर पारिमाण्डल्य का आरम्भक होता है और उत्पत्तिके पहले तो अन्य परिमाण विद्यमान ही नहीं है तब किस प्रकार आक्रमण करेगा क्योकि विद्यमान जो अन्य परिमाण है वह तो आक्रमण करेगा और जो विद्यमान नहीं है वह कैसे किसीका आक्रमण कर सकता है क्योंकि कार्य उत्पन्न हो कर एक क्षण तक निर्गुण ही रहता है यह वशेषिकने ही माना है ।

"परिमाण्डल्यादि गुण तो अन्य परिमाण के आरम्भ करने के लिये व्यग्र यानी आग्रह-युक्त रहने के कारण अपने समान अन्य परिमाण का आरम्भक नहीं होता है" यह कहना भी युक्ति-युक्त नहीं है क्योंकि द्व्यणुक मे अन्य परिमाणका कारण द्वित्व सख्या मानी गयी है उसका कारण पारिमाण्डल्य नहीं कहा गया है ।

"कारणबहुत्वात् कारणमहत्त्वात् प्रचयविशेषाच्च महत्" "तद्विपरीतमणु" (वैं० सू० ७ । १ । ६ । और १०)

अर्थात् कारण की बहुतायत से कारण के महत्त्व गुण से और प्रचय-विशेष से महत् परिमाण उत्पन्न होता है। अणु अर्थात् द्व्यणुक उसके विपरीत है। उसके अणुत्वका कारण ईश्वर की अपेक्षा-बुद्धि-जन्य द्वित्व संख्या है।

इस प्रकार महत्त्वका असमवायी कारण जो कारण-वर्ती महत्त्व आदि हैं वे ही दीर्घत्व का भी कारण होते हैं और अणुत्व का असमवायी कारण जो द्वित्व संख्या है वही ह्रस्वत्व का कारण है। जैसा कणादने कहा है— "एतेन दीर्घत्व-ह्रस्वत्वे व्याख्याते"। (वैं० सू० ७ । १ । १७)

"किसी सन्निधान-विशेष के रहने से कारण के बहुत्व आदि गुण ही कार्य में गुणारम्भक होते हैं और पारिमाण्डल्यादि गुण कार्य में गुणारम्भक नहीं होते हैं" यह भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अन्य द्रव्य या अन्य गुण के आरम्भ होने के समय कारण-वर्त्ती समस्त गुण समान रूप से अपने आश्रय में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहते हैं। किसी प्रकारका तारतम्य नहीं है। जितने गुण कारण में समवाय सम्बन्ध से कार्य-उत्पादन के समय में रहते हैं उनमें से कोई तो कार्यमें अपने समान जातीय गुण का आरम्भ करेगा और कोई आरम्भ नहीं करेगा इसका कुछ भी नियामक नहीं है अतः यही कहना पड़ता है कि पारि-

माण्डत्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह कार्य में गुणारम्भक नहीं होता है उसी प्रकार ब्रह्म-चैतन्य का भी स्वभाव ही है कि वह कार्य-स्वरू। जगत में चैतन्य गुण का आरम्भक नहीं होता है।

फिर भी संयोगसे विजातीय द्रव्य आदि पदार्थोंकी उत्पत्ति देखी जाती है अतः "सजातीय पदार्थकी उत्पत्ति होती है" इस नियम में व्यभिचार हो जाता है यानी उक्त नियम का पालन नहीं होता है।

द्रव्य के कथा-प्रस्ताव में गुण का दृष्टान्त देना उचित नहीं है क्यों क संयोग गुण है और दार्ष्टान्त में द्रव्य से द्रव्य की •उत्पत्ति यानी परमाणु द्रव्यसे द्व णुक द्रव्य की उत्पत्ति की विवेचना की गयी है, यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि उक्त स्थलमें दृष्टान्त के द्वारा केवल विजातीय पदार्थ की उत्पत्ति दिखायी गयी है, और द्रव्य का द्रव्य ही उदाहरण हो या गुणका गुण ही उदाहरण हो इसका कुछ भी नियामक नहीं है और खास सूत्रकार कणादने द्रव्यके उदाहरणस्वरूप गुण को रक्खा है। जैसे —

प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणामप्रत्यक्षत्वात् संयोगस्य पञ्चात्मकं न विद्यते
(वै० । सू० ४ । २ । २।)

अर्थात् जिस प्रकार प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष पृथिवी और आकाशमें समवेत संयोग अप्रत्यक्ष है यानी पृथिवी प्रत्यक्ष पदार्थ है और आकाश अप्रत्यक्ष पदार्थ है और उन दोनों का जो संयोग है वह अप्रत्यक्ष ही रहता है उसी प्रकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पञ्चभूत में

समवेत शरीर भी अप्रत्यक्ष ही होता किन्तु शरीर का तो प्रत्यक्ष होता है अतः शरीर पाञ्चभौतिक नहीं है ।

यहा पर भी सयोग गुणका उदाहरण स्वरूप शरीर द्रव्य कहा गया है इत्यादि विवेचना करने से यही निश्चित होता है कि वैशेषिक-मत की अपनी पद्धति से ही उस के आक्षेप का समाधान हो जाता है। जैसा सिद्धान्तीने कहा है—

परमाणुगता न परमण्डलता द्वयणुके करोति परिमण्डलताम् ।
द्वयणुकानुगताच महति त्र्यणुके जनयेन्न तद्वदणुतामपराम् ॥

अर्थात् परमाणुका पारिमाण्डल्य द्वयणुक मे अपर पारिमाण्डल्य को उत्पन्न नहीं करता है इसी प्रकार द्वयणुक का अणुत्व त्र्यणुकमें अणुत्व को उत्पन्न नहीं करता है अर्थात् परमाणुसे द्वयणुक उत्पन्न होता है तो भी वैसा परिमाण द्वयणुक मे नहीं रहता है किन्तु द्वयणुक मे परमाणु के परिमाण से भिन्न अणु और ह्रस्व परिमाण रहता ही है, वैसे द्वयणुक से जब त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है,तो भी द्वयणुक की तरह अणु और ह्रस्व परिमाण त्र्यणुक मे नहीं माना जाता है क्योकि त्र्यणुक महत् परिमाण कहा गया है ।

यदि यह कहा जाय कि कार्य की अणुता होन से उस से भोगाधिष्ठ्य नहीं होगा, अतः कारण-गत अणुत्व यानी द्वयणुक मे रहने वाला अणुत्व कार्यमे अणुत्वका आरम्भक नहीं है,वेदान्त-सिद्धान्तमे भी सवत्र जगत मे चतन्य के आरम्भक होने से अङ्ग-अङ्गिभाव नहीं होगा अतः मायारूप उपाधि से युक्त ब्रह्म जगत का उपादान

कारण कहा गया है उसमे मायाका गुण जडता है वह माया गुण जगत में जडताका उत्पादक होता है किन्तु ब्रह्म का जो चैतन्य गुण है वह जगत म चैतन्य का उत्पादक नहीं होता है। जैसा आचार्य वार्त्तिककारने कहा है—

सम प्रधान क्षेत्राणा चित्प्रधानश्चिदात्मनाम् ।
पर कारणतामेति भावनाज्ञानकर्मभि ॥

यदि यह कहा जाय कि 'परमाणु के अवयव कल्पित है" तो कल्पित (तुच्छ) अथात जो कुछ वस्तु नहीं है, उस कल्पित (अवस्तु) अवयव का सयोग भी अवस्तु (तुच्छ) हो जायगा तब *वह सयोग सत्य कार्य का असमवायी कारण नहीं होगा,* क्योकि उस से जो उत्पन्न होता है वह सत्य है और उस उत्पन्न होनेवाले का असमवायी कारण जो सयोग है वह कैसे कल्पित होगा, इस लिये असमवायी कारण सिद्ध नही होने के कारण द्व्यणुक आदि कार्य द्रव्य उत्पन्न नहीं हो सकेगा।

जिस प्रकार जैस आदि सर्गमें यानी प्रथम सृष्टि होने म कुछ भी हेतु नहीं रहनेके कारण परमाणुओंमे किसी प्रकार के कर्म का होना असभव है उसी प्रकार महाप्रलयम भी परमाणुओम कर्म उत्पन्न होना असम्भव है और उस समय भी कुछ कर्म होने से ही परस्पर विभाग हो कर महाप्रलय होता है किन्तु उस प्रकारक कर्म होनेके कुछ भी कारण नहीं हैं। अदृष्ट भी भोगके लिये है किन्तु प्रलयके लिये नहीं है।

इस प्रकार कुछ भी हेतु नहीं रहनेके कारण संयोग उत्पादनका अथवा विभाग-उत्पादन करनेका किसी प्रकारका भी कर्म परमाणुओंमें नहीं हो सकता है और कर्म नहीं होनेसे संयोग और विभाग नहीं होनेके कारण सर्ग (सृष्टि) और प्रलयका भी अभाव हो जायगा अतः परमाणुकारणवाद युक्ति-रहित है।

तीसरे प्रकार से भी परमाणुकारणवाद मान्य नहीं है क्योंकि उक्त वादमें सम्बन्ध माना गया है अर्थात् दो परमाणुओंसे विलक्षण (दोनों परमाणुओंसे भिन्न) एक द्व्यणुक उत्पन्न होता है और वह अपने अवयवस्वरूप दोनों परमाणुओंमें समवेत रहता है यानी समवाय सम्बन्ध से रहता है।

वैसा मानने से 'अनवस्था' नाम का दोष हो जाता है क्योंकि द्व्यणुक जिस प्रकार परमाणु-द्वय से अत्यन्त भिन्न रहने पर भी समवाय रूप अन्य सम्बन्धके द्वारा समवायीके साथ संबद्ध (संबन्ध-युक्त) होता है उसी प्रकार समवायी से अत्यन्त भिन्न वह समवाय भी समवायरूप एक अन्य संबन्धके द्वारा समवायीके साथ संबद्ध होगा क्योंकि अत्यन्त भेद दोनोंमें ही समान है इस प्रकार उस समवाय का एक अन्य समवाय पुनः उसके भी अन्य समवायकी कल्पना करनेका कहीं विराम नही होने से अनवस्था दोष हो जाता है।

इह नीति-माह्य अर्थात कपालमें घट, द्रव्यमें गुण इत्यादि जो "इह नीति" है उससे जो जाना जाता है वही समवाय है और वह समवायी के साथ नित्य सम्बद्ध ही रहता है अर्थात् कभी उसका

सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता है अतः वह असम्बन्ध भी नहीं होता है और उसमें अन्य संबन्ध को भी अपेक्षा नहीं होती है।

"समवाय का स्वभाव ही ऐसा है कि वह समवायी से भिन्न है और दो समवायी पदार्थों में रहता है और समवायो पदार्थों से अन्य संबन्धकी अपेक्षा नहीं करता है" ऐसा माननने से तो संयोग भी वैसा ही होगा अथ तु संयोगका भी यही स्वभाव होगा क्योंकि वह भी दो सम्बन्धियोंमें ही रहता है और उनसे भिन्न भी है इस प्रकार संयोग और समवाय दोनों समान हो जाते हैं।

"संयोग गुण पदार्थ है और गुण पदार्थकी द्रव्यमें समवेत हो कर अवस्थिति होती है और समवायके विना द्रव्य-समवेत भी वह नहीं हो सकता है अतः संयोग का समवाय है अर्थात संयोग संबन्धान्तर की यानी अपने से भिन्न समवायरूप अन्य सम्बन्धकी अपेक्षा करता है" तो वह समवाय भी द्रव्य-समवेत है अतः वह भी गुण क्यों नहीं कहा जायगा ? "गुणकी परिभाषामें समवायका नाम नहीं रहनेसे गुण नहीं, है" यह नहीं क्योंकि उक्त गुण-परिभाषा स्वकपोल-कल्पित है क्योंकि वही गुण है जो द्रव्यमें समवेत रहता है, समवाय भी द्रव्य-समवेत गुण है और गुण सदैव द्रव्यमें समवेत हो कर ही रहता है, समवाय के विना समवेतत्व नहीं हो सकता है।

" कार्य होने के कारण संयोगका समवायी और असमवायी कारण होना ही चाहिये अतः संयोग समवेत कहा जाता है

क्योंकि जिसका समवायी कारण रहता है वह समवेत कहा ही जाता है क्योंकि वह समवाय सबन्धसे अपने समवायी कारण मे रहता है अतः समवेत कहा जाता है" यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि अज-सयोग यानी आत्मा और आकाश प्रभृति विभु-द्रव्य का सयोग 'समवेत' नहीं होगा क्योंकि वह कार्य नहीं है, विभु पदार्थ कार्य नहीं है अत उसका सयोग भी कार्य (उत्पत्तिशाली) नहीं है अतः " कार्य होनेके कारण संयोग समवेत है " ऐसा कहने से विभुद्रव्य के संयोगमे कार्यत्व नहीं रहनेके प्रयुक्त समवेतत्व भी नहीं रह सकता है अतः "समवायः समवेतः सम्बन्धत्वात् सयोगवत्— यानी समवाय भी समवेत है, संबन्ध होने के कारण संयोग की तरह" इस अनुमानके विरुद्ध ऐसा अनुमान करना कि "समवायः संबन्धानपेक्षः अगुणत्वे सति संबन्धत्वात्— यानी समवाय दूसरे सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं करता है क्योंकि अगुण अर्थात् वह गुण नहीं है और संबन्ध है' यह असंगत है क्योंकि इस अनुमान का कोई दृष्टान्त नहीं है अतः यह अनुमान नहीं किया जा सकता है किन्तु "समवायः समवेतः संबन्धत्वात् संयोगवत्" यही पूर्व अनुमान समुचित है।

फिर भी समवाय का अस्तित्व सम्बन्धीके अधीन है यानी संबन्धी के रहने से समवाय रहता है और संबन्धीके नहीं रहने से समवाय नहीं रहता है और दो वा एक सम्बन्धी के नष्ट होने से समवाय भी नष्ट होता है। यह सम्भव नहीं कि एक गुण को अथवा

गुण-गुणी दोनोंकी, एक अवयवीकी अथवा अवयव-अवयवी दोनों की सत्ता तो नहीं है किन्तु समवाय है, अतः समवाय कार्य है यही निश्चित होने से यानी कार्य होनेके प्रयुक्त संयोग की तरह इसकी भी निमित्त कारणसे उत्पत्ति निश्चित है।

"समवाय भी समवायीकारण और असमायीकारणकी अपेक्षा करता है यानी समवाय भी अपने समवायीकारणमें समवेत रहता है और'समवेतत्व'विना समवायसम्बन्धसे हो नहीं सकता है अतः उस को भी अन्य समवायकी अपेक्षा होगी क्योंकि वह भी कारणमें समवेत हो कर ही रहने वाला है अतः उसके लिये भी अपर एक समवाय की अपेक्षा होगी इस प्रकार समवायका कहीं विश्राम नहीं होनेके कारण अनवस्था नामका दोष हो जाता है इस लिये समवाय सवन्धान्तरकी यानी अन्य संबन्धकी अपेक्षा नहीं करता है यह जैसे मान्य है वैसे ही संयोग भी सम्बन्धान्तर की अपेक्षा नहीं करेगा।

"संयोग दो सबन्धियोंको परस्पर सम्मिलित कर देता है। किन्तु अपने को उन संबन्धियोंसे नहीं मिलाता है" यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वैसा होनेसे वह स्वयं तो उन संबन्धियोंसे संबन्ध-युक्त नहीं होता है तब असंबद्ध रहनेके कारण उनसे अत्यन्त भिन्न हो जाने से कैसे वह उन सम्बन्धियोंको सबन्ध-युक्त कर सकता है और ऐसे ही यदि संबन्ध-युक्त करता है तो हिमालय और विन्ध्याचल को भी परस्पर संबन्ध-युक्त क्यों नहीं कर देता है।

इस प्रकार गवेषणा करने से यही निश्चित होता है कि संयोग तो

संयोगी (संयुक्त) पदार्थोंमें समवाय संबन्धसे रहता है और जब संयोग, समवाय सम्बन्ध से समवायी पदार्थमे समवेत रहता है तो वह समवाय सम्बन्ध भी समानरूप से ही समवायी पदार्थमे समवेत रहता है और ऐसा कहने से अनवस्था दोष दुर्निवार हो जाता है और अनवस्थामें एक की असिद्धि हो जानेके कारण सबकी असिद्धि हो जानेसे दो परमाणुओं से द्व्यणुक उत्पन्न नहीं होगा अतः परमाणुकारणवाद युक्ति-युक्त नहीं है।

समस्त भूत और भौतिक पदार्थोंका मूल कारण परमाणु नित्य माना गया है और रूपादिमान् भी माना गया है यह विरुद्ध है क्योंकि रूप आदि मानने से परमाणुत्व और नित्यत्वके विरुद्ध स्थूलत्व और अनित्यत्व हो जाता है।

तात्पर्य यह कि परमाणुओमे रूप आदिके स्वीकार करनेसे वे रूप आदि तेजःसंयोग-जन्य (पाकज) ही होंगे और उनकी उत्पत्ति होनेमे उनके आश्रय पदार्थके कारणके रूप आदिकी अपेक्षा होगी यानी जलपरमाणु-वर्त्ती या पार्थिवपरमाणु-वर्त्ती रूप आदि की उत्पत्तिमे उसके आश्रयके कारण-वर्त्ती रूप आदि को अपेक्षा होगी। परमाणुरूपका आश्रय परमाणु है और उसके कारण उसके अवयव ही सिद्ध होते है और सावयव होने से परमाणु का अनित्यत्व अनिवार्य हो जाता है। वैशेषिकगण अपने इस अनुमान के द्वारा परमाणुकी स्थापना करते हैं—

"त्रसरेणुः समवायिकारणारभ्यः महत्त्वे सति चाक्षुषत्वात्—

यानी समवायीकारणके द्वारा त्र्यणुककी उत्पत्ति होती है क्योंकि उसमें महत्त्व गुण है और उसका चक्षुसे प्रत्यक्ष होता है।" "त्रसरेणु-समवायिकारणमपि समवायिकारणारभ्य, महदारम्भकत्वात्– यानी उस ? णुक का समवायी कारण भी एक दूसरे समवायी कारणसे उत्पन्न होता है क्योंकि महत् गुणशाली पदार्थका उत्पादक है।" इस प्रकार मूल कारण परमाणु सिद्ध होता है।

महत् परिमाण तो ज य (उत्पन्न) होता है, उसके जन्यत्वमें महत्त्वापकर्ष मात्र प्रयोजक है किन्तु महत् परिमाण-गत उ कर्ष और अपकर्षरूप जाति द्वय प्रयोजक नहीं है क्योंकि गौरव स्वरूप दोष हो जाता है।

साराश यह कि महत् परिणाममें उत्कर्ष और अपकर्ष दोनों जाति हैं किन्तु जन्यताका प्रयोजक अपकर्ष मात्र है उत्कर्ष नहीं है क्योंकि दोनो मानने से गौरव होता है अत एक ही जन्यता का प्रयोजक माना गया है यानी जो महत् परिमाण की उत्पत्ति मानी जाती है उसका प्रयोजक महत् परिमाणका अपकृष्टत्व है यानी अपकर्ष होने के कारण ही महत् परिमाणकी जन्यता (उत्पत्ति) सिद्ध होती है अत. अपकृष्टत्व प्रयुक्त महत् परिमाण जन्य (उत्पत्ति-शाली) कहा जाता है किन्तु उत्कृष्टत्व प्रयुक्त ,नहीं, यही निश्चित होता है।

इस प्रकारके नियम रहने से त्रसरेणु (त्र्यणुक) का जो महत् परिमाण है वह अपकृष्ट महत परिणाम होने के कारण जन्य है, और

जन्य होनेके कारण उसमें कारण की अपेक्षा होगी क्योकि त्रसरेणु में स्वाश्रय समवायि-कारणगत सख्या अर्थात् त्रसरेणुके परिमाणका आश्रय जो त्रसरेणु है उसमे अपने समवायी कारण-वर्त्ती सख्या या परिमाण या शिथिल सयोग कुछ अवश्य ही रहता हे अत त्रसरणुका समवायी कारण अवश्य मान्य है, वहा पर यानी त्रसरेणुके समवायी कारणमे महत् परिमाणका अपकर्ष प्रयोजक नहीं है किन्तु परिमाणका अपकर्ष प्रयोजक है क्योकि द्वयणुकमे महत् परिमाण नहीं है किन्तु अपकृष्ट परिमाण यानी अणु परिमाण है। सामान्य परिमाण लघु होता है और वह दीर्घ परिमाणमें भी अनुगत रहता है इस प्रकार त्रसरेणुका मूल कारण जो परमाणु हे उसमें यदि अपकृष्ट परिमाण माना जाय तो वह भी जन्य हो जाता है क्योकि जन्यताका प्रयोजक अपकृष्ट परिमाण ही सिद्ध हो चुका है और उसके जन्य होने से उसमे भी अपने कारणवर्त्ती परिमाणकी अपेक्षा होनेसे वह सावयव सिद्ध हो जाता है और परमाणुको सावयव माननेसे वैशेपिकका सिद्धान्त ही नष्ट हो जाता है अत उसके निवारण करने के लिये परमाणु मे परम महत् परिमाण ही मानना पडेगा ।

उक्त वैशेपिक पद्धतिसे परिमाण की जन्यतामें अपने प्रयोजककी अपक्षा रहनेके कारण जगत् के मूल कारणके अनुमान करने मे प्रवृत्त होनेसे तो परम महत् ब्रह्म ही जगतका मूल कारण सिद्ध हो जाता है यही निश्चित होता है । सावयव द्रव्यों के प्रत्येक अवयवका विभाग करते करते जिनसे आगे विभाग होना सभव

नहीं होता है वे परमाणु कहे गये हैं। वे रूप आदिमान् है, चार प्रकार के होते हैं। वे ही पार्थिव आदि चार परमाणु चार प्रकारके भूत-भौतिक जगतके उत्पादक होते हैं और वे परमाणु नित्य हैं ऐसा ही वैशेषिकगण मानते हैं किन्तु ऐसा मानना आश्रय-हीन है क्योंकि रूप आदि मान् होनेके कारण परमाणुओंका अणु होना और नित्य होना असम्भव ह किन्तु कारण की अपेक्षासे स्थूल और अनित्य हो जायगा क्योंकि जो रूपादिमान् पदार्थ है वह अपने कारणकी अपेक्षा स्थूल और अनित्य ही सर्वत्र दृष्ट होता है । जैसे तन्तु की अपेक्षा पट (वस्त्र) स्थूल और अनित्य होता है और तन्तु भी अंशु (तन्तुके अवयव) की अपेक्षा स्थूल और अनित्य ही होता है ।

परमाणु भी रूपादिमान् है अतः वे भी कारणवान् हैं यानी जो रूप आदिमान् पदार्थ होते हैं उनका कारण रहता ही है इस लिये वे अपने कारणकी अपेक्षा स्थूल और अनित्य सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार गवेषणा करने से यही निश्चित होता है कि उन्होंने ही जो नित्यका लक्षण किया है वह परमाणुओंमें नहीं रहता है क्योंकि-

" सदकारणवन्नित्यम् " (वै० ४।१।१)

जो भाव पदार्थ हो और कारण-शून्य हो वह नित्य है । परमाणु कारण-शून्य नहीं है क्योंकि वह रूप-रस आदिमान् माना गया है।

" अनित्यमिति विशेषतः प्रतिषेधाभावः " (वै० सू० ४।१।१)

अर्थात् कारण को अनित्य माननेसे कार्यके नित्यत्व का निषेध

नहीं हो सकता है यानी कारणको अनित्य मानने से कार्य अनित्य नहीं होगा अत एव परमाणुस्वरूप कारण नित्य है यही वैशेषिकका अभिप्राय है। यह जो नित्यत्वका दूसरा कारण माना गया है वह भी परमाणुमें नित्यत्व का साधक नहीं होगा। किसी स्थानमें कोई भी पदार्थ जब लब्धरूप यानी सिद्ध रहता है तब अन्य स्थानमें उसका निषेध होता है अत अनित्य यानी नित्य नहीं है इस निषेध से अन्य किसी स्थानमें नित्य वस्तु है ऐसी कल्पना करनी पडती है और अनित्य-भिन्न नित्य परमाणु है यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि परमाणु के अतिरिक्त आत्मा भी नित्य पदार्थ है, और प्रतीति-पूर्वक जो व्यवहार है वह उस पदार्थके अभाव रहने पर भी निर्मूल ही देखा जाता है। जैसे—'इह वटे यक्षः—इस वट वृक्ष पर भूत रहता है" वृक्ष पर कोई कभी भूतको नहीं देखता है और भूत रहता भी नहीं, तब भी उक्त व्यवहार होता रहता है।

फिर भी "परमाणु के नित्यत्व के विषय में अविद्याको तृतीय कारण कहा है यह भी ठीक नहीं, क्योंकि "जिन के स्थूल कार्य का प्रत्यक्ष होता है ऐसे जो भाव रूप परमाणु हैं उन परमाणुओंके कारण का प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञान नहीं होना ही अविद्या है" यदि इस प्रकार की अविद्या से परमाणुकी नित्यता सिद्ध हो तो द्व्यणुक की भी नित्यता हो जायगी क्योंकि द्व्यणुकका कारण परमाणु है और उसका भी प्रत्यक्ष नहीं होता है।

"जिसका कारण कोई द्रव्य नहीं" ऐसा कहने से यद्यपि

द्वयणुक मे उक्त दोष नहीं होता है किन्तु वैसा कहने से अकारणत्व ही नित्यता का निमित्त हो जाता है तो पुन. उसीके प्रतिपादन करनेसे पुनरुक्ति दोष आ जाता है क्योंकि अकारणत्व निमित्त का उपपादन हो चुका है और जिसका कारण स्वरूप कोई द्रव्य नहीं है वही नित्य है इतना कहने से ही इष्ट सिद्ध हो जाता है। अविद्या कहने की कोई आवश्यकता नहीं।

"अविद्या" पदस द्रव्य विनाश के जो दो कारण हैं उन दोनो की अविद्यमानता कही जाती है यानी दो प्रकार से द्रव्य का विनाश होता है। एक अवयवका विनाश अर्थात् समवायी कारण का नाश, दूसरा अवयवव्यतिषङ्गका विनाश अर्थात् अवयव-द्वय का सयोग नाश। परमाणु मे उनमे से एक भी नहीं है अतः परमाणु नित्य है। सुख आदि मे व्यभिचार नहीं हो सकता है क्योंकि उस मे 'द्रव्यत्व' का विशेषण है और सुख आदि द्रव्य नहीं हैं ऐसा कहना भी ठीक नही है क्योंकि यदि सयोग-सहकृत हो कर बहुत से द्रव्य पदार्थ अन्य द्रव्यका आरम्भक होता तो उक्त प्रक्रिया की सिद्धि होती अर्थात् बहुत से द्रव्य व्यक्ति परस्पर सयुक्त हो कर यदि अप-नेसे अन्य द्रव्य व्यक्ति के उत्पादक होते तो द्रव्यविनाशके कारण समवायी कारण-नाश और असमवायी कारण-नाश ये दो ही होते किन्तु ऐसा नहीं होता है क्योंकि द्रव्य के स्वरूप का कुछ भी ज्ञान नहीं होता है।

तन्त्वाधार अर्थात् तन्तु मे वर्तमान और तन्तु से भिन्न पट

(वस्त्र) नाम का कुछ भी पदार्थ नहीं है जो तन्तुओंके संयोग से उत्पन्न हो । तन्तु से भिन्न वस्त्र कुछ भी नवीन पदार्थ नहीं है, किन्तु सर्वत्र कारण ही अवस्थान्तरको प्राप्त करके कार्य बनता है यानी कारणकी एक प्रकारकी विशेष अवस्थाको ही कार्य कहते हैं और सामान्य अवस्थाको कारण कहते है किन्तु कारण से विलक्षण नवीन कार्य;उत्पन्न नहीं होता है। जैसे मिट्टी घट में और सुवर्ण कुण्डलमे सामान्य रूप से अनुगत (विद्यमान) ही रहता है। घट और कुण्डल कभी मिट्टी और सुवर्णसे अतिरिक्त हो कर नहीं दृष्ट होते हैं अतः मिट्टी के ही रूपान्तर घट, कपाल, शर्करा(भुटकी)प्रभृति हैं और सुवर्ण के ही रूपान्तर वलय या शकल यानी उसके अवान्तर विकार प्रभृति हैं क्योंकि उन सब में मिट्टी और सुवर्ण की ही प्रत्यभिज्ञा होती है।

घट आदि का कपाल आदि में या कपाल आदि का ही घट आदिमें कभी प्रत्यभिज्ञान नहीं होता है, इसी प्रकार वलय आदिका सुवर्ण आदि में अथवा सुवर्ण आदि का वलय आदि में कभी प्रत्यभिज्ञान नहीं होता है जिस से कार्य-कारण भाव होता । "विनष्ट होते हुए घट-क्षण को प्राप्त कर के ही कपालक्षण, विना उपादान के ही उत्पन्न होता है अतः उपादान के प्रत्यभिज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं होती है" यह भी नहीं कह जा सकता क्योंकि बौद्ध-मत में अभाव से भाव की उत्पत्ति के खण्डन में विशदरूप से इसका खण्डन कर दिया गया है अत

उत्पत्ति और विनाश स्वभाव वाले जो विशेष अवस्था सब हैं, वे सामान्य के उपादेय यानी कार्य हैं और उन सब का सामान्य स्वरूप उपादान यानी कारण है।

इस प्रकार की व्यवस्था से जब सुवर्ण द्रव्य अपनी काठिन्य अवस्था का परित्याग करके द्रवीभूत (तरल) अवस्था मे परिणत हो जाता है तब अवयवों का विभाग होता ही है किन्तु वह द्रवत्वका कारण नहीं माना जाता है क्योकि वैशेषिक-सिद्धान्तके अनुसार परमाणुओके अवयव नहीं रहनेके कारण अवयव-विभागके असंभव होने से उन परमाणुओं का द्रवत्व (तरलता) नहीं हो सकता है इस लिये जैसे परमाणु द्रव्य अग्नि-संयोग से काठिन्य का त्याग कर के द्रवस्वरूप से परिणत हो जाता है किन्तु काठिन्य और द्रवत्व ये दोनों अवस्थाएं परमाणु से अतिरिक्त नही हैं उसी प्रकार मिट्टी और सुवर्ण अपनी सामान्य पिंड अवस्था का परित्याग करके कुलाल और सोनार के व्यापार से घट और रुचक (वलय) आदि अवस्था को प्राप्त करते हैं। अवयव के विनाश से, उसके सयोगके विनाश से वे कभी विनष्ट नहीं हो सकते हैं।

घट आदिके उपादान कपाल आदि नहीं हैं और कपाल आदिका सयोग असमवायी कारण भी नहीं हैं किन्तु सामान्य स्वरूप मृत्तिका आदि घट आदि का उपादान है और वह सामान्य स्वरूप नित्य है। वह संयोग-सहकृत नही है क्योकि सामान्य स्वरूप एक है

और संयोग दो पदार्थों में रहने वाला है अतः उस मे संयोग नहीं रह सकता है ।

इस प्रकार गवेषणा करने से परमार्थ सत् जो सामान्य अवस्था है उसीकी अनेकानेक विशेष अवस्थाएं होती हैं। वे विशेष अवस्थाएं अनिर्वचनीय है और वे तदधिष्ठान है यानी उन विशेष अवस्थाओं का अधिष्ठान सामान्य स्वरूप ही है, जैसे भुजङ्ग (सर्प) आदि के उपादान स्वरूप रज्जु आदि होते हैं यानी सर्प आदिका अधिष्ठान रज्जु ही होता है । उन विशेष अवस्थाओंकी उत्पत्ति और विनाश होता है किन्तु सामान्य स्वरूप के उत्पत्ति-विनाश नहीं होते हैं। वह परमार्थ सत् है ।

गन्ध आदि गुण-व्यवस्थाका खण्डन

गन्ध, रूप, रस और स्पर्श गुण स्वरूप पृथिवी स्थूल दृष्ट होती है। रस, रूप और स्पर्श स्वरूप जल सूक्ष्म दृष्ट होता है। रूप और स्पर्श स्वरूप तेज सूक्ष्मतर दृष्ट होता है और केवल स्पर्श गुण स्वरूप वायु सूक्ष्मतम दृष्ट होता है। पुराण मे भी कहा है—

> आकाशं शब्दमात्रन्तुस्पर्शमात्रं समाविशत् ।
> द्विगुणस्तु ततोवायुः शब्दस्पर्शात्मकोऽभवत् ॥
> रूपंतथैवाविशतः शब्दस्पर्शगुणावुभौ ।
> द्विगुणस्तु ततोवह्निः स शब्दस्पर्शवान् भवेत्॥
> शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसमात्रं समाविशत् ।
> तस्माच्चतुर्गुणा आपो विज्ञेयास्तु रसात्मिकाः ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपंच रसश्चेत् गन्धमाविशत् ।
संहतान् गन्धमात्रेण तानाचष्टे महीमिमाम् ॥
तस्मात् पञ्चगुणा भूमिः स्थूला भुतेषु दृश्यते ।
शान्ता घोराश्च मूढाश्च विज्ञेयास्तेन ते स्मृताः ॥
परस्परानुप्रवेशात् धारयन्ति परस्परम् ।

शब्दतन्मात्र जो आकाश है वह स्पर्शतन्मात्र स्वरूप वायु में प्रविष्ट हो जाता है अतः वायु के शब्द और स्पर्श दो गुण होते हैं। वह दो गुण वाला वायु रूपतन्मात्र तेज में प्रविष्ट हो जाता है अतः तेज (वह्नि)में शब्द, स्पर्श और रूप यह तीन गुण रहते हैं। वह त्रिगुणात्मक तेज रसतन्मात्रस्वरूप जलमे प्रविष्ट होता है अतः जलमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस ये चार गुण रहते हैं। वह चतुर्गुणात्मक जल भी गन्ध तन्मात्रस्वरूप पृथिवी मे प्रविष्ट होता है अतः पृथिवीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच गुण रहते हैं।

इस प्रकार गन्ध तन्मात्रके साथ सम्मिलित जो उक्त तन्मात्र गण है वही यह दृश्यमान पृथिवी है इसी कारण पंचगुणा यह पृथिवी महाभूतों मे स्थूल देखी जाती है।

सत्त्व, रज और तम गुण-प्रयुक्त शान्त, घोर और मूढ़स्वभावके होने के कारण तन्मात्र सब परस्पर विभिन्न कहे जाते हैं। एक के दूसरे में प्रवेश होने से एक दूसरे को धारण करते हैं, यानी परस्परमें गन्ध आदि के प्रवेश होने से द्रव्य संज्ञा को प्राप्त कर के रस और

उक्त प्रकार गन्ध आदि गुण सकल परस्पर मिलित होने से पृथिवी, जल आदि होते है।

वे गन्ध आदि जैसे जैसे सहन्यमान (सम्मिलित) होते हैं वैसे वैसे उपचित (अधिक) होते आते हैं। जैसे- जैसे उपचित होते हैं वैसे वैसे स्थूलता आती है और जैसे अपचय (अल्पता) होता है वैसे वैसे सूक्ष्मता का तारतम्य होता है। इस प्रकार अनुभव और शास्त्र से जो अर्थ ज्ञात होता है, वह वैशेषिक की इच्छा नहीं रहने पर भी अनुभव और शास्त्र के अनुरोध से मानना ही पड़ेगा।

उक्त प्रक्रिया मे शब्द के सर्वत्र, प्रवेश रहने से पृथिवी आदि पंचभूत का गुण शब्द कहा जाता है किन्तु वैशेपिक-सिद्धान्त में शब्द, पृथिवी आदिका गुण नहीं माना गया है इसी लिये चार, तीन, दो और एक गुण से युक्त भूता का ऊपरमे उदाहरण दिया गया है

प्रश्न—गन्ध आदि का सघात (समूह) परमाणु नहीं है किन्तु गन्ध आदिका आश्रय द्रव्य स्वरूप परमाणु है अतः परमाणु मे रहने-वाले गन्ध आदिके उपचय होने पर भी द्रव्यका उपचय नहीं हो सकता है क्योंकि वह उससे अन्य है।

समाधान—परमाणु तो स्वरूपतः कभी दृष्ट नहीं है किन्तु कार्य-द्वारा ज्ञात होता है यानी कार्य-द्वारा उसका अनुमान होता है। गन्ध आदिसे भिन्न कार्य नहीं है। वह गन्ध आदि कार्य परमाणुके आश्रितस्वरूप से ज्ञात नहो होता है किन्तु तदात्मक स्वरूपसे यानी

परमाणु से अभिन्नरूप से गृहीत होता है और अभिन्नरूप से गृहीत होनेसे परमाणुओंके उपचय होनेसे कार्य भी उपचित (वृद्ध) होता है और कार्य के उपचित होने से उसके कारण परमाणु भी वैसे ही होंगे।

इस प्रकार स्थूलत्व हो जाने के कारण अपरमाणुत्व हो जाता है यानी परमाणु का सूक्ष्मतमत्व नष्ट हो जाता है अर्थात् गुण और गुणीके अभेद रहने से गुणके उपचय से परमाणु का भी उपचय हो जाने से परमाणु मे स्थूलता उत्पन्न हो जायगी। "परमाणुओंमें गुणके आधिक्य और न्यूनता की कल्पना नहीं है, सारे परमाणु समान परिमाण के ही होते हैं यानी किसी से किसी का न्यूनाधिक्य नहीं रहता है अतः एक एक गुण ही समस्त परमाणु में रहता है" ऐसा कहने पर तेज में स्पर्शका ज्ञान नहीं होगा, जलमें रूप और स्पर्शका ज्ञान नहीं होगा और पृथिवीमें रस, रूप और स्पर्शका ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि कारण गुण-पूर्वक कार्य का गुण होता है यह वैशेषिक ने ही माना है।

समस्त परमाणुओंमें यानी पार्थिव आदि चतुर्विध परमाणुओंमें यदि गन्ध आदि चतुर्विध गुण माने जायं तो जलमें भी गन्धकी उपलब्धि होनी चाहिये और वायुमें गन्ध, रूप और रस की उपलब्धि होनी चाहिये और ऐसी उपलब्धि कभी नहीं होती है अतः परमाणु-कारणवाद असंगत है।

साङ्ख्य और योगमे प्रधानकारणवाद यानी प्रकृतिसे यह जगत्

उत्पन्न होता है यही माना गया है। वेदके ज्ञाता मनु आदिने भी उसे किसी अंशमे माना है क्योंकि उनके सत् कार्यवादका श्रुतियोंके अनुकूल रहनेके कारण महर्षि मनु आदिने समर्थन किया है किन्तु वैशेपिक का यह परमाणुकारणवाद यानी पृथिवी आदि के परमाणुसे यह जगत् उत्पन्न होता है इस मतको मनु आदि शिष्ट आचार्योंने किसी अशमे नहीं माना है। उन लोगोंने अपने ग्रन्थों मे इस मत का लेश मात्र भी समर्थन नहीं किया है। आस्तिक दर्शन कहलाने पर भी न्याय-वैशेषिक का यह परमाणुकारणवाद अमान्य है।

वैशेषिक सिद्धान्तमे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छः पदार्थ प्रतिपाद्य विषय हैं किन्तु वे एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न कहे जाते है और उनका लक्षण भी भिन्न भिन्न कहा गया है। जैसे—मनुष्य, घोड़ा, खरगोश ये सब परस्पर विभिन्न हैं वैसे ही द्रव्य, गुण आदि पदार्थ परस्पर विभिन्न माने गये हैं ऐसा मान कर फिर भी द्रव्यके अतिरिक्त शेष जो गुण आदि पांच पदार्थ हैं उनकी सत्ता द्रव्यके अधीन मानी गयी है वह सर्वथा विरुद्ध है, कथमपि वैसा नहीं हो सकता है क्योंकि खरगोश, कुश और पलास ये सब एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं अतः उनकी सत्ता एक दूसरे के अधीन (परस्पराधीन) कभी नहीं देखी जाती है। इसी प्रकार जब द्रव्य आदि पदार्थ परस्पर अत्यन्त विभिन्न माने जाते हैं तब उनकी सत्ता परस्पर द्रव्यके अधीन कभी नहीं रह सकती है। फिर भी यदि गुण आदिकी सत्ता हठवश द्रव्यके अधीन

ही मानें तो द्रव्यके सद्भावमें गुण आदिका सद्भाव और द्रव्यके अभाव मे गुण आदिक अभाव रहनेके कारण द्रव्य ही आकार आदि के भेद से अनेक नामका और ज्ञानका विषय हो जाता है अत: रूपान्तरसे द्रव्यकी सत्ता सिद्ध होती है किन्तु उससे अत्यन्त विभिन्न गुण आदिकी सत्ता सिद्ध नहीं होती है। जैसे—एक ही देवदत्त अवस्थान्तर को प्राप्त करके अनेक शब्द और अनेक ज्ञान का विषय होता है ऐसा होनेसे सांख्य-सिद्धान्तका समर्थन हो जाता है और अपने यानी वैशेषिक-सिद्धान्तका विरोध हो जाता है। जैसे—गाय, घोडा, भैंसा और हाथी इन सबका निरूपण परस्पराधीन (एक दूसरेके अधीन नहीं होता है किन्तु स्वतन्त्ररूपसे उनका निरूपण होता है। गायके ज्ञान करनेमे घोड़ेकी जरूरत नहीं, घोडेके ज्ञान करनेमे गायकी जरूरत नहीं पडती है किन्तु धूमका निरूपण तो अग्निके अधीन दृष्ट होता है।

समाधान—और अग्नि आदिके अधीन जिसकी उत्पत्ति होती है उस धूम आदि का भी अग्नि आदिके अधीन निरूपण नहीं होता है किन्तु स्वतन्त्र हो कर ही धूम आदिका निरूपण होता है यह सत्य है, क्योंकि अग्नि, धूम के भेद की प्रतीति हो रही है, वैसे गुण आदिका निरूपण स्वतन्त्र हो कर नहीं होता है किन्तु द्रव्यके अधीन ही होता है जब जब गुण आदिका निरूपण होता है तब तब द्रव्याकार-रूपसे ही निरूपण होता है। जैसे वह्नि और धूमकी अलग अलग प्रतीति होती है यानी एक स्वरूप से प्रतीति वह्नि-धूमकी

कभी नहीं होती है क्योंकि धूमका अलग रूप रहता है, और अग्निका अलग रूप रहता है अतः उन दोनोके कार्य-कारण भाव रहने पर भी स्वतन्त्र निरूपण कहा जाता है, किन्तु गुण आदि का द्रव्य से अलग हो कर कभी निरूपण नहीं होता है ।

"शुक्लः कम्बलः, कृष्णा गौः, नीलमुत्पलम्—सफेद कम्वल, काली गाय और नील कमल" इन सबमे कहीं भी ऐसा दृष्ट नहीं होता है कि गाय अलग रहे और उसकी कृष्णता अलग रहे, कम्वल और उसकी शुक्लता, कमल और उसकी नीलता का अलग अलग कभी निरूपण नही हो सकता है अतः कार्य-कारण भाव रहने पर भी धूम-अग्निकी तरह द्रव्य और गुणकी भेद-प्रतीति नहीं हो सकती है किन्तु गुणकी द्रव्यात्मकता सिद्ध हो जाती है यानी प्रथामे अर्थात् निरूपणविपय मे गुण आदिका स्वातन्त्र्य नहीं रहनेके कारण द्रव्य से गुण आदि अतिरिक्त नहीं हैं यही निश्चित होता है किन्तु सामान्य रूप द्रव्य ही तत् रूपसे यानी गुण आदिसे निरूपित होता है ।

साराश यह कि उसके अधीन उत्पत्ति होनेसे उसके अधीन है यह नहीं कहा जाता है किन्तु उसकी तरह आकार होनेसे उसके अधीन है यह कहा जाता है और ऐसा होने से व्यभिचार भी नहीं होता है ।

इसी प्रकार कर्म, सामान्य (जाति) विशेष और समवाय ये भी द्रव्य स्वरूप ही है द्रव्य से भिन्न नहीं है ।

वैशेपिक का कथन

अयुत सिद्ध होनेके कारण गुण आदि पदार्थ द्रव्यके अधीन हैं यानी उसीसे द्रव्यको छोड़ कर गुण आदि अलग नहीं रहते हैं किन्तु गुण आदि पदार्थ द्रव्यसे भिन्न हैं।

साराश यह कि गुण द्रव्य का सामानाधिकरण्य नियम जो इष्ट होता है इसका कारण अयुत सिद्धि है। जहां पर विभिन्न दो धर्मोंसे दो स्वतन्त्र पदार्थ सम्वद्ध हो कर अथवा असम्वद्ध हो कर ज्ञात होते हैं वहा वैयधिकरण्य रहता है। जैसे "इह कुण्डे दधि, न गोरश्वः—इस कुण्डमें दही है, गाय घोडा नहीं है" यहा वैयधिकरण्य है। सामानाधिकरण्य नहीं है। क्योंकि कुण्ड और दधि एवं गाय घोड़ा अलग अलग रह सकता है किन्तु वैसे गुण, कर्म, जाति, विशेष और समवाय नहीं है क्योंकि द्रव्यका आकार ही उनका आकार है यानी द्रव्य के धर्म होनेसे अन्य आकार उनका नहीं रहता है अतः उनके स्वातन्त्र्य-प्रयोजक कोई अपना धर्म नहीं रहने से आकार-विशिष्ट जो धर्मी स्वरूप द्रव्य है उससे भिन्न हो कर आकार विशिष्ट धर्मी रूप से गुण आदि व्यवस्थित नहीं होते हैं यही उनकी 'अयुत सिद्धि' है।

तत्पर्य यह कि स्वतन्त्र दो पदार्थोंका सामानाधिकरण्य नहीं रहता है किन्तु स्वतन्त्र और परतन्त्र दो पदार्थोंका भेद रहने पर भी सामानाधिकरण्य होता है अतः द्रव्य और गुणके भेद रहने पर भी द्रव्य-तन्त्र यानी द्रव्य के अधीन अर्थात परतन्त्र गुणका और

स्वतन्त्र द्रव्यका सामानाधिकरण्य होता है यानी सामानाधिकरण्य का साधक अयुतसिद्धि है, उसी अयुतसिद्धिके कारण भेद रहने पर भी सामानाधिकरण्य यानी अभिन्नरूपसे प्रतीति होती है ।

अयुत-सिद्धि

संयोगी जन्य दो पदार्थ का संबन्धि-द्वयसे जो अन्य देशान्तरमें रहना है वह युतसिद्धि है। जसे— "कुण्डे वदरवत्" यहा कुण्ड और वदर (वर फल) का संयोग है अतः सयोगो जो कुण्ड और वेर है उनसे अन्य देश उन दोनोंका अपना अपना अवयव है इस युतसिद्धि से जो भिन्न है उसे अयुतसिद्धि कहते ह। अथवा सयोगी जो नित्य दो पदार्थ हैं उन दोनोंका या एकका अपनेसे पृथक् देशमें जो गति है वह युतसिद्धि है और उससे अन्य अयुतसिद्धि है। प्रथम पक्ष माननेसे दो परमाणुओ का या परमाणु और आकाशका जो संयोग होता है उसमे अयुत सिद्धि हो जायगी क्योंकि जन्य पदार्थ-द्वयका विभिन्न स्थानमे रहना हो युतसिद्धि है उससे भिन्न अयुत-सिद्धि है यह कहने से परमाणु-द्वय अथवा परमाणु और आकाश आदि विभु पदार्थकी भी अयुत सिद्धि क्यों नहीं हो जायगी, क्योंकि वे जन्य पदार्थ नहीं हैं, अतः प्रथम पक्षके सिवाय, द्वितीय पक्षका भी अवलम्बन किया जाता है।

द्वितीय पक्ष मानने पर उक्त दोष नहीं होता है किन्तु गुण और गुणी, एवं शुक्लता और वस्त्रकी अयुतसिद्धि हो जाती है क्योंकि वहा शुक्लता और वस्त्र तो शुक्लता और वस्त्ररूप संवन्धीसे अन्य किसी

देश में विद्यमान नहीं है। यद्यपि वस्त्र तो संबन्धिद्वय-भिन्न तन्तु रूप अन्य देशमें रहता है किन्तु शुक्लता स्वसंबन्धी यानी अपने सबन्धी वस्त्र में ही विद्यमान है, उस से अन्य देश में विद्यमान नहीं है।

सारांश यह कि सबन्धी से भिन्न देश में एक पदार्थ तो रहता है किन्तु एक नहीं रहता है अतः एकाभाव से उभयाभाव सिद्ध होता है यानी एक के अभाव हो जाने से उभय का अभाव हो जाता है अर्थात् दो संबन्धियों मे से जब एक का अन्य प्रदेश में अभाव है तो दूसरे का भी अभाव ही सिद्ध होता है इस प्रकार शुक्लता और पट यानी गुण और गुणी की अयुत सिद्धि होती है अतः अयुत-सिद्ध पदार्थ के भेद रहने पर भी समानाधिकरण्य यानी अभिन्न-रूपसे प्रतीति होती है।

वैशेषिक के कथन का निराकरण

पूर्वोक्त अयुत सिद्धि के द्वारा गुण-गुणीके परस्पर भेद रहने पर भी अभेदरूपसे प्रतीति हो सकती है यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि नित्य जो आत्मा और आकाश पदार्थ हैं उन नित्य पदार्थों के नित्य संयोग में दोनों में से एक प्रकार की भी युतसिद्धि नहीं है। कारण, उन नित्य दोनों पदार्थों का पृथगाश्रितत्व नहीं है अर्थात् प्रत्येक का अपने से विभिन्न प्रदेश में अस्तित्वरूप युतसिद्धि नहीं है क्योंकि उन का कोई आश्रय नहीं है अथवा उन दोनों की या एक की पृथक् गति नहीं है क्योंकि अमूर्त्त होने से उनकी कुछ क्रिया नहीं है। जिसका परिच्छिन्न परिमाण नहीं है वह

निष्क्रिय ही रहता है। "नित्य पदार्थोका परस्पर संयोग नहीं होता है" यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि नित्य पदार्थोका संयोग अनुमान-सिद्ध है। जैसे — "आकाशमात्मसंयोगि, मूर्तद्रव्य-संयोगित्वात् घटवत्-- आकाश आत्माके साथ संयुक्त है, क्योंकि वह मूर्त द्रव्यके साथ संयुक्त है, घट आदि की तरह" इस प्रकार के अनुमानके द्वारा आकाश और आत्माका संयोग सिद्ध होता है। फिर भी पूर्वोक्त पृथगाश्रितत्व और पृथक्गतिमत्व रूप युतसिद्धिसे अन्य जो अयुतसिद्धि है उसके स्वीकार करने पर भी किसी प्रकारका विरोध नहीं होता किन्तु उससे सामानाधिकरण्यका निरूपण नहीं हो सकता है।

सारांश यह कि गुण और गुणीको भिन्न भिन्न पदार्थ माननेसे सामानाधिकरण्य का निरूपण अयुतसिद्धि रहने पर भी नहीं किया जा सकता है अर्थात् वह गुण और गुणीका अभेद-प्रत्यक्ष नहीं करा सकता है।

गुण और गुणी (द्रव्य) के इस प्रकारके समवाय स्वीकार करने पर भी गुण और द्रव्य सनद्ध है इस प्रकारकी प्रतीति हो सकती है किन्तु "शुक्लः पटः" इस प्रकार अभेदकी प्रतीति नहीं हो सकती है, इस अभेद-प्रतीतिकी सिद्धि के लिये ही समवाय स्वीकार किया जाता है और समवायके स्वीकार करने पर भी यदि वह समवाय अभेद प्रतीतिका साधन नहीं कर सके, तो समवाय की कल्पना करना निरर्थक (व्यर्थ) है।

फिर भी प्रत्यक्षात्मक सामानाधिकरण्य अर्थात् गुण और द्रव्य की जो अभेदकी प्रतीति है वह समवाय-गोचर नहीं है। यानी समवाय का प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि भेदका विरोधी अभेद ही उसका विषय होता है। यदि उक्त प्रत्यक्ष का विषय समवाय होता तो "पटमें शुक्लता है" इस प्रकार भेदका ही प्रत्यक्ष होता किन्तु "शुक्ल पट है" इस प्रकार अभेदका प्रत्यक्ष नहीं होता।

"शुक्ल गुण-विशिष्ट गुणी जो द्रव्य है वह शुक्ल पदसे लक्षणा शक्ति-द्वारा जाना जाता है यानी शुक्लका शुक्ल गुणसे तात्पर्य नहीं है किन्तु शुक्ल गुण-युक्त गुणीसे तात्पर्य है। अतः "शुक्लः पटः" इस प्रकार अभेद-प्रत्यय होता है यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि शब्दकी शक्तिके अनुसार प्रत्यक्ष नहीं होता है अर्थात् लक्षणा तो शब्दका संबन्ध है, प्रत्यक्षका नहीं है, इस लिये लक्षणाके द्वारा उक्त प्रकार का प्रत्यक्ष नहो हो सकता है। जैसे— "अग्निर्माणवकः— ब्रह्मचारी ब्राह्मणकुमार अग्नि है" यहां माणवकमें अग्निका आरोप होता है यानी अग्निरूपसे माणवक (ब्रह्मचारी ब्राह्मणकुमार) कहा जाता है किन्तु अग्निरूपसे वह दृष्टि-गोचर नहीं होता है अतः यही निश्चित है कि शब्द की जैसी शक्ति होगी वैसा ही प्रत्यक्ष नहीं होता है।

"गुण और द्रव्यके भिन्न भिन्न रहने पर भी समवायके कारण अभेद-भ्रम होता है" यह भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि गुण आदिके सद्भावमें और गुण-गुणी के भेदमें प्रत्यक्ष अनुभवके

सिवा अन्य कोई भी प्रकार नहीं है और उस प्रत्यक्ष अनुभवको भ्रान्त कहनेसे समस्त पदार्थका ही अभाव हो जायगा और प्रत्यक्ष के आश्रित रहने वाला जो भेद-साधक अनुमान प्रमाण है उसका प्रत्यक्षके विरुद्धमें उत्थान (उत्पत्ति) ही नहीं होगा ।

सारांश यह कि 'शुक्लः पटः' इस प्रकार अभिन्नरूपसे जो शुक्लता और पटका प्रत्यक्ष होता है उस प्रत्यक्षको, "द्रव्य गुणादिभ्यो भिद्यते समवायिकारणत्वात्— द्रव्य पदार्थ गुण आदि से भिन्न है क्योंकि वह समवायी कारण है" इस भेद-साधक अनुमानके बल पर भ्रान्त कहना असंगत है क्योंकि अनुमान प्रमाण भी प्रत्यक्षका ही अनुसरण करता है। साध्य और हेतु के सहचार-दर्शन आदि होने के पश्चात् अनुमान होता है। प्रत्यक्ष तो अनुमानका उपजीव्य कहा जाता है इस लिये प्रत्यक्ष-विरुद्ध होनेसे अनुमान नहीं हो सकता है ।

प्रश्न—"पटस्य शुक्ल रूपम्—पटका शुक्ल रूप है इस प्रकार व्यवहार रहने से भेद-विषयक भी यानी भेदका भी प्रत्यक्ष होता है और यह भेद का प्रत्यक्ष उक्त अभेद प्रत्यक्षको बाधित करेगा।

समाधान—उक्त व्यवहार भेद-विषयक नहीं है अर्थात् 'पटस्य शुक्ल रूपम्' इस प्रकार व्यवहार रहने से शुक्ल और पट का भेद नहीं साबित होता है किन्तु षष्ठीका अर्थ जो सम्बन्ध है वही विषय है यानी पट से शुक्लरूप का सम्बन्ध उक्त व्यवहार से जाना जाता है और उस सम्बन्ध के द्वारा भेद का अनुमान किया जा सकता है किन्तु वह अनुमान भी "शुक्ल पट" इस अभेदके प्रत्यक्षसे बाधित कर

दिया जाता है इस लिये 'राहोः शिरः' की तरह संबन्धका कथन औपचारिक होने से अमान्य है।

फिर भी अभेद के प्रत्यक्ष के अनुसार व्यवहार की व्यवस्था करने से लाघव भी होता है और द्रव्य से अतिरिक्त गुणकी कल्पना करने से गुण और उस के संबन्ध की भी कल्पना करनी पड़ती है यह गौरव हो जाता है।

इस प्रकार गवेषणा करने से लाघव रहने के कारण अभेद के प्रत्यक्ष होने के अनुरोध से गुण का गुणी मे अभेद है यही मान्य होता है "सुरभिर्गन्धफलो, मधुरोगुड़ः उष्णो वह्निः" इत्यादि प्रयोग से गन्ध आदि के भी द्रव्य से अभेद का प्रत्यक्ष ज्ञात होने से गन्ध आदि गुण से द्रव्य के भेद का विरोध हो जाता है।

फिर भी युतसिद्ध दो पदार्थोंका सयोग सवन्ध होता है और अयुत-सिद्ध पदार्थों का समवाय संबन्ध होता है यह वैशेपिक का कहना भी अयुक्त ही है क्योंकि अयुत सिद्धि से जब अपृथक उत्पत्ति कही जाती है तब द्रव्य और गुण को अयुत सिद्धि वैशेपिक के मत मे भी नहीं रह सकती है क्योंकि द्रव्य पहलेसे ही सिद्ध है और गुण की पश्चात् उत्पत्ति होती है।

"कारण पदाथ की युतसिद्धि रहे, किन्तु कार्य पदार्थ की तो अयुत सिद्धि ही रहेगी क्योंकि कारण के बिना कार्य रहता ही नहीं" यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि दो संबन्धिओं के अधीन ही संबन्ध रहता है, एक संबन्धी के भी नहीं रहने पर सबन्ध नहीं रह

सकता है अतः कारण की युतसिद्धि और कार्य मात्रकी अयुत सिद्धि रहनेसे समवाय संबन्ध कैसे रह सकता है और समवाय कोई नित्य स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है इसका निरूपण हो चुका है।

" कारण-समवायसे कायकी उत्पत्ति भिन्न नहीं है" यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वैशेषिक-सिद्धान्तमे समवाय को नित्य मान-नेके कारण सर्वत्र समवायी कारण व्यर्थ हो जायगा।

साराश यह कि कारण-वर्ती जो समवाय है वह जब काय की उत्पत्ति स्वरूप माना जायगा तो उक्त समवाय की नित्यता-प्रयुक्त अवस्थिति तो कारणके अभावमें भी रहेगी और वही कार्य-उत्पत्ति होगी फिर कारण का क्या प्रयोजन ? विना कारण से भी कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिये।

यदि समवाय की उत्पत्ति ही मानी जाय तो कार्य की ही उत्पत्ति क्यों नहीं मानी जाय, फिर समवाय से क्या प्रयोजन ?

सिद्ध कार्य और कारणके संबन्ध मानने पर युतसिद्धि हो जाती है, 'अयुत सिद्धि' नहीं हो सकती है।

इस प्रकार विचार करने से "युतसिद्धिके अभावसे कार्य-कारण के परस्पर संयोग और विभाग नहीं होता है" यह वैशेपिक का कहना अत्यन्त दुष्कर है क्योंकि 'युतसिद्धि' के अभाव का ही अभाव विद्यमान है।

इस प्रकार 'युत्-सिद्धि' के अभाव से जो संयोग का अभाव होता

है उसके नहीं रहने के कारण अप्राप्ति और संयोग युतसिद्धि है" यह लक्षण भी युक्ति-रहित सिद्ध होता है।

सारांश यह कि इस प्रकार की जो युतसिद्धि की व्यवस्था की गयी है वह केवल कार्य-कारण के संयोग संबन्ध को हटाने के लिये ही की गयी है किन्तु कार्य की नित्य (सदैव) परतन्त्रता रहने के कारण अप्राप्ति के अभाव रहने पर भी यानी अप्राप्तिस्वरूप 'युत-सिद्धि' नहीं रहने पर भी कार्यकी प्राप्ति तो रहती है और वह प्राप्ति संयोग स्वरूप ही है, तब संयोग सबन्ध किस प्रकार हटाया जा सकता ? अतः कार्य-कारणके संयोग सबन्धके अभाव की सिद्धि नहीं होने के कारण अर्थात् कार्य-कारण में सयोग संबन्ध रह जानेसे 'युतसिद्धि' के लक्षण में जो सयोग पद है उस से जब काय-कारण के सबन्ध का व्यवच्छेद (व्यावृत्ति) नहीं होता है तब वह संयोग पद व्यर्थ हो जाता है।

कार्य-कारण संबन्ध-रहित, उभय पक्ष-संमतधर्मवाचक पद से युक्त एक अन्य ही लक्षण करना चाहिये। जैसे—"द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वम्—यानी दोनों सबन्धियोंकी अथवा दोनोंमें से एक की जो पृथक् गति है" वह युतसिद्धि है।"

युतसिद्धि के इस प्रकार लक्षण करने से प्राप्तिरूप जो कार्य-कारण संबन्ध है, उसके संयोगत्व की सिद्धि होने पर ही तद्व्यावृत्ति-समर्थ यानी कार्य-कारण संबन्ध-रहित, संयोगपदयुक्त युतसिद्धि के लक्षणकी सिद्धि हो और जब इस प्रकारकी युतसिद्धिके

लक्षणकी सिद्धि हो तब उसके द्वारा लक्षित युतसिद्धिके नहीं रहनेके कारण कार्य-कारण सम्बन्धका असंयोगत्व सिद्ध हो इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष रहनेके कारण युत सिद्धि का लक्षणान्तर यानी अन्य ही लक्षण करना पडेगा और अन्य लक्षण असम्भव है।

प्रश्न—अप्राप्ति-पूर्वक प्राप्ति संयोग है और वह अन्यतर यानी दो में से एक की क्रिया-द्वारा अथवा दोनोंकी क्रिया-द्वारा होता है यही अन्य लक्षण है, जैसे—स्थाणु एवं श्येन पक्षी का संयोग है और दो मल्ल व्यक्तियोंका संयोग होता है क्योंकि श्येन पक्षी मात्र की क्रिया से स्थाणु और श्येन पक्षीका अप्राप्ति-पूर्वक प्राप्तिस्वरूप संयोग होता है। दोनों क्रिया से दो मल्ल (पहलवान) व्यक्तिका अप्राप्तिपूर्वक प्राप्तिस्वरूप संयोग होता है।

समाधान—उस प्रकार का कर्मज तन्तु और पटका संबन्ध नहीं है क्योंकि पटके उत्पन्न होने पर ही तन्तुसे संबन्ध हो जाता है वह संबन्ध कर्मज नहीं है यानी तन्तु और पट इन दोनोंमें से किसीकी बिना कुछ क्रिया से ही सम्बन्ध होता है अतः वह संयोग नहीं है किन्तु समवाय सम्बन्ध माना जाता है। यद्यपि तन्तुओं से पटके उत्पन्न होने पर उसी क्षणमें तन्तु और आकाशके संयोगसे पट और आकाशका संयोग उत्पन्न होता है। वह संयोग कर्मज नहीं है यानी किसी क्रियाके द्वारा नहीं होता है क्योंकि उससे पूर्व पटके अस्तित्व-क्षणमें पटमें कुछ भी क्रिया नहीं है क्योंकि जब कार्य द्रव्य उत्पन्न ही होता है, उस समय एक क्षण तक वह सर्व प्रकारकी क्रिया-शून्य रहता

है। उक्त प्रकारका सयोग कर्मज नहीं है किन्तु वह संयोगज संयोग है ऐसा वैशेषिक ने माना है।

"अप्राप्ति-पूर्वक प्राप्तिस्वरूप ही सयोग है। कर्मज कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि ऐसा कहनेसे पूर्वोक्त अव्याप्ति और आश्रय-दोप कुछ भी नहीं होता है" यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि आत्मा और आकाशका जो नित्य सयोग है वह अप्राप्ति-पूर्वक प्राप्ति स्वरूप नहीं है और उत्पन्न होनेसे एक क्षण तक कार्यमें कारणकी प्राप्ति नहीं होती है। एक क्षणके बाद प्राप्ति होती है अत. वहा भी अप्राप्ति-पूर्वक प्राप्ति रहनेसे सयोग सम्बन्धका अवसर हो जाता है। यद्यपि समवाय नित्य है, इस पक्षमें पूर्व क्षणमें प्राप्तिके नहीं रहने से जन्म-समयमें ही समवायरूप कारण-प्राप्ति है तथापि यह दोष समवायके अनित्यत्व-पक्षमें होता है। इस प्रकार गवेषणा करनेसे निश्चय होता है कि उत्पन्न मात्र निष्क्रिय कार्य-द्रव्यका आकाश आदि विभु पदार्थोंके साथ जैसे सयोग सम्बन्ध ही माना जाता है, समवाय सम्बन्ध नहीं माना जाता है, वैसे ही कारण द्रव्यके साथ भी कार्य द्रव्यका सम्बन्ध सयोग होगा, समवाय नहीं होगा।

फिर भी "सम्बन्धीके स्वरूपसे अतिरिक्त सम्बन्धका स्वरूप है" इस का जब निश्चय होगा यानी सम्बन्धीसे अतिरिक्त सम्बन्धकी सिद्धि होनेसे सम्बन्धका किसी प्रकारका लक्षण किया जा सकता है किन्तु यहा तो सम्बन्धीसे अतिरिक्त सम्बन्ध सिद्ध ही नहीं होता है। पहले यह कहा जा चुका है कि "सम्बन्धियोंसे भिन्न और सम्बन्धियोंसे

असम्बद्ध यानी सम्बन्ध-रहित सम्बन्ध सम्बन्धियो को परस्पर सम्मिलित नहीं करा सकता है" और सम्बन्धियोंसे सम्बद्ध मानने से यानी सम्बन्धियोके साथ सम्बन्धका सम्बन्ध है ऐसा माननेसे अनवस्था दोष हो जाता है। इस प्रकार युक्ति और अनुभवसे कार्य का कारणसे भेद नहीं है किन्तु कारण का ही एक प्रकारका अनिर्वचनीय परिणाम कार्य है यही निश्चित होता है।

इस प्रकार कार्यका कारणसे अभेद है यही निश्चित होने से कौन किससे सम्बन्ध-युक्त होगा और सयोगी दोनो पदार्थोसे सयोगके अभेद निश्चित होने से उन दोनों सयोगी पदार्थोका क्या सयोग होगा ? क्योकि सम्बन्धी से अतिरिक्त हो कर सम्बन्धका अस्तित्व है। इसमें कुछ भी प्रमाण नहीं है।

प्रश्न—सम्बन्ध शब्दके सिवाय सयोग और समवाय शब्द भी लोगोंमे व्यवहृत होते हैं और लोगो को 'सम्बन्धी' शब्दका जो अर्थ-ज्ञान होता है उससे भिन्न सयोग, समवाय शब्दका अर्थ-ज्ञान होता है यानी 'सम्बन्धी' शब्द का पर्यायवाचक (एकार्थबोधक) जब सयोग, समवाय शब्द नहीं हैं, तो सम्बन्धीसे अतिरिक्त संयोग और समवाय क्यों नहीं होगा ?

समाधान—एक पदार्थमें भी स्वरूप और बाह्यरूपके अनुसार यानी स्वगत रूप और वाह्यिक रूपके अनुसार अनेक प्रकार का शाब्दबोध होता है अर्थात एक वस्तुमें भी अनिर्वचनीय विलक्षण भिन्न भिन्न अवस्थाके अनुसार नाना बुद्धिका व्यपदेश (कथन)

होता है। जैसे एक ही देवदत्त अपनी भिन्न भिन्न विशेषता के कारण कभी मनुष्य और ब्राह्मण कहा जाता है। वही अपनी भिन्न भिन्न अवस्थाके कारण बाल, युवा और वृद्ध कहलाता है और वही देवदत्त अपनी क्रिया के द्वारा श्रोत्रिय कहा जाता है। फिर वही देवदत्त किसी से पिता, किसीसे पुत्र और किसीसे पौत्र और किसीसे भ्राता कहा जाता है। जैसे— एक रेखामें भी स्थानके भेदसे विभिन्न शाब्द बोध होता है अर्थात् एक ही रेखा भिन्न भिन्न स्थान में लिखित होनेसे एक, दश, शत और सहस्र आदि नामधारी होती है, उसी प्रकार दो सम्बन्धी पदार्थों के ही सम्बन्धी नामके अतिरिक्त संयोग और समवाय नाम होते हैं यानी दोनों सम्बन्धियों के ही सम्बन्धी शब्द और उसके शाब्दबोध के अतिरिक्त संयोग, समवाय शब्द और उसके शाब्द बोध होते हैं किन्तु सम्बन्धीसे वह अतिरिक्त वस्तु है इस रूपसे शाब्द बोध नहीं होता है।

"सम्बन्ध शब्दसे यदि सम्बन्धीका बोध होता है तो सम्बन्धका शाब्द-बोध सदैव होता रहेगा अर्थात् जब सम्बन्ध नहीं रहता है तब भी सम्बन्धका व्यवहार होगा क्योंकि सम्बन्धी विद्यमान है" यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि स्वगतरूप और बाह्यरूप दोनों के अनुसार शाब्द-बोध होता है यह पहले कह दिया गया है।

प्रश्न— दो अंगुलियोंका अव्यवधान संयोग है और दधि-कुण्ड इन दोनोंका आधार-आधेय भाव संयोग है किन्तु कार्य-कारणके अभेद रहनेके कारण कार्य-कारणको कैसे दोसम्बन्धी कहा जा सकता

समाधान— काय कारणके तदात्म्य (अभेद) रहने पर भी अनिर्वचनीय कायका भेद मान कर दो सम्बन्धी कहा गया है अत तदात्म्य सम्बन्ध कहनेसे कल्पित भेदसे युक्त अभेद सम्बन्धको जानना चाहिये, सम्पूर्ण अभेद सम्बन्ध नहीं होता है।

फिर भी अदृष्टयुक्त क्षेत्रज्ञसे यानी जीवके सयोग होने से परमाणु और मनमें आद्य कर्म यानी प्राथमिक क्रिया उत्पन्न होती है ऐसा वैशेपिकने माना है। जैसा कहा गया है—

"अग्नेरूर्ध्वज्वलन वायोस्तिर्यक्पवनमणुमनसोश्चाद्य कर्म त्वदृष्टकारितानि— अग्निकी ऊर्ध्वगति, वायुका वक्रगमन, अणु और मनका आद्य कर्म ये सब अदृष्टसे ही उत्पन्न होते हैं" किन्तु परमाणु और मन दोनो निरवयव पदाथ माने गये है और क्षेत्रज्ञ यानी जीव भी निरवयव माना गया है तब निरवयव पदार्थका निरव यव पदार्थ के साथ कैसे सयोग हो सकता है यानी अदृष्टसे युक्त जीवसे परमाणु और मनका कैसे सयोगका कथन सभव हो सकता है और सभव होने पर भी यदि परमाणु और मनका निरवयव आत्मा के साथ सयोग होगा तो परमाण और मन आत्मामे व्याप्त हो जायगा अर्थात् तल्लीन हो जानेसे परमाण और मनका भी वही परिणाम होगा जो आत्मा का है यानी परमाणु, मनका भी महत् परिणाम हो जायगा। अणु परिमाण नहीं होगा।

"किसी एक प्रदेशसे ही आत्माका परमाणु और मनसे सयोग होता है' यह भी नहीं, क्योंकि आत्माका कोई प्रदेश (अश) नहीं

है। "परमाणु, आत्मा और मनके कल्पित प्रदेश (अंश) होते हैं" यह भी नहीं, क्योंकि ऐसी अविद्यमान वस्तुकी कल्पना करनेसे सर्वार्थ-सिद्धि प्रसंग यानी समस्त वस्तुकी सिद्धि हो सकती है। अपने अधीन कल्पना के रहने से अधिकाधिक कल्पना की जा सकती है। वैशेषिकके द्वारा कल्पित द्रव्य आदि छः पदार्थकी अपेक्षा अधिक-शत वा सहस्र पदार्थ की कल्पना की जा सकती है क्योंकि इसका कुछ भी नियम नहो है अतः जिसको जैसी इच्छा होगी तदनुसार ही वह कल्पना कर बैठेगा। "यह दुःखमय संसार प्राणियोंके लिये न रहे यानी संसार का अन्त हो जाय इस प्रकार की किसी दयालु व्यक्तिकी कल्पना होगी तो किसी विलासी अन्य व्यक्तिके द्वारा मुक्त पुरुषोंको भी उत्पत्तिकी कल्पना की जाती है उन दोनों को कौन निवारण करेगा?

फिर भी जो काय-स्वरूप, द्वयणुकके कारण हैं उन दो निरवयव परमाणुओंके साथ सावयव कार्य-स्वरूप द्वयणुकका संश्लेष नहीं हो सकता है अर्थात् तन्तु और वस्त्र की तरह परस्पर वन्धा-बन्धी संबन्ध, जिस मे एकके आकर्षणसे अपर संबन्धीका भी जो आकर्षण हो जाता है उसकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

साराश यह कि अंकुर, वृक्ष और शाखा आदि सावयव पदार्थोंमें ही एक के आकर्षणसे अपरका आकर्षण दृष्ट होता है।

"कार्य-कारण द्रव्यका आधार-आधेय भाव अन्यथा नहीं होता है अतः संयोग-भिन्न समवाय संबन्धकी अवश्य कल्पना करनी चाहिये"

यह भी नहीं, क्योंकि अन्योऽन्याश्रय दोष हो जाता है । कार्य और कारण के भेद की सिद्धि होने पर आधार-आधेय भाव की सिद्धि हो सकती है और आधार-आधेय भावकी सिद्धि होनेसे ही कार्य–कारण का भेद सिद्ध होगा।

"कुण्ड बदर" की तरह अर्थात् तलाधार पात्र या पात्राधार तैल इस तरह कार्य-कारण-भेद और आधार-आधेयभाव इसमें अन्योऽन्याश्रय दोष हो जाता है ।

फिर भी जो परिच्छिन्न होते हैं वे सावयव होते हैं, उसी प्रकार परमाणु सब भी परिच्छिन्न हैं अतः सावयव हैं और सावयव होने से व अनित्य सिद्ध होते हैं और परिच्छिन्न नहीं मानने से परमाणु का ही व्याघात हो जायगा । परिच्छिन्न नहीं रहने के कारण आकाश आदि विभु पदार्थकी तरह परमाणुत्वका व्याघात होता है ।

"परमाणु के जिन अवयवोंकी कल्पना की जाती है वे अवयव ही परमाणु हैं" यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्थूल-सूक्ष्मके तारतम्य के अनुसार परम कारण-पर्यन्त पदार्थ नाशवान् हैं। जैसे द्वयणुक आदि की अपेक्षा अत्यन्त स्थूल पदार्थ पृथिवी वस्तुरूप रहने पर भी विनाश शाली है, उसी प्रकार सूक्ष्म, सूक्ष्मतर सब पृथिवी के सजातीय पदार्थ विनष्ट होते हैं, उसके बाद द्वयणुक और उसके बाद परमाणु सब भी नाशशील हो जाते हैं क्योंकि वे सब भी पथिवीके सजातीय पदार्थ है।

फिर भी न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्त की अयुक्तता स्पष्ट है।

जैसे-कि न्याय· वैशेषिकके सिद्धान्तने सुख,दुःख, ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, ज्ञान जन्य-संस्कार, संख्या, . व, संयोग और विभाग ये चौदह गुण जीवात्मा के कहे गये हैं और संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न ये आठ गुण परमात्मा के कहे गये हैं। उस में इतना भेद है कि ईश्वर (परमात्मा) के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न नित्य हैं और जीवके उक्त तीनों अनित्य है अतः जब ज्ञान गुण जीवात्मा में उत्पन्न होता है तब वो जीवात्मा चेतन होता है और जब ज्ञान गुणका नाश होता है तब जीवात्मा जड़ हो कर रहता है और ज्ञान गुण उत्पन्न होने के अव्यवहित पूर्व क्षणमे भी जड़ ही रहता है एवं प्रलयकालमे भी जीवात्मा जड़ ही रहता है॥

एकविंशति (इकीस) प्रकार के दुःखों का ध्वंस ही मोक्ष माना गया है।

एक विंशति दुःख

श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना, घ्राण मन ये षट् इन्द्रिय, षट् इन्द्रियके षट् (छः) विषय और षट् इन्द्रिय के छः प्रकार के ज्ञान तथा शरीर, सुख, दुःख, ये इकीश दुःख कहे गये हैं। दुःखके जनक होनेक कारण शरीरादि भी दुःख हैं और सुखमे भी नाश होने का भय रहता ही है अतः वह भी दुःख कहा गया है।

आत्मा और मन के संयोग होने से आत्मा में ज्ञान गुण• उत्पन्न

होता है। मोक्ष-कालमे इस मतमे कुछ भी क्रिया नही रहने के कारण संयोगवान् मन का ही अभाव हो जाता है।

किसी के मत मे त्वचा और मन के संयोग होने से ही ज्ञान उत्पन्न होता है अत सुषुप्ति मे पुरीतत् नाम की नाडी में मनके प्रविष्ट हो जाने से त्वचा और मन का संयोग नहीं होता है इसलिये कुछ भी ान उस समय नहीं होता है।

उन के मत मे त्वचा-सयुक्त मन ही दु.ख है, क्योंकि व ी ज्ञान उत्पादन के द्वारा दु ख-जनक होता है, केवल मन दु ख-जनक नह ीं है।*

मनकी नित्यता रहने पर भी मोक्ष-अवस्था मे त्वचा के अभाव रहने से त्वचा-संयुक्त मन नहीं है अत दु:ख नहीं है।

इस प्रकार मोक्ष अवस्था मे व्यापक आत्मा (जीवात्मा) दु ख-रहित हो कर के भी परमात्मा से अलग ही जड रूप हो कर अवस्थित रहता है क्योंकि ज्ञान गुण से ही आत्मा का प्रकाश (चैतन्य) होना है। जीवात्मा का ज्ञान इन्द्रिय-जन्य ही है अत नित्य नहीं है, उस इन्द्रिय-जन्य ज्ञानका मोक्ष-कालमे नाश हो जाता है अत. प्रकाश-रहित यानी चैतन्य शून्य जड रूप हो कर आत्मा मोक्ष-कालमे रहता है।

न्याय-और वैशेषिक मत में सुख, दु ख और वन्ध, मोक्ष आत्मा के धर्म माने गये हैं अत आत्मा नाना और व्यापक माने गये हैं।

समस्त अल्प पदार्थसे जो संयोग है वही व्यापक का लक्षण है। न्याय और वैशेपिकका उक्त सिद्धान्त समीचीन नहीं है क्योंकि आत्मा को व्यापक मान कर नाना मानना युक्ति-युक्त नहीं है क्योंकि व्यापक आत्माको नाना मानने से समस्त शरीरोंसे समस्त आत्माका संवन्ध समान रूप से ही रहेगा, तव कौन शरीर किस आत्मा का है इसका निर्णय नहीं होगा और प्रत्येक आत्मा के समस्त शरीर हो जायगे।

"जिस आत्मा के कर्म के द्वारा जो शरीर उत्पन्न होता है वही शरीर उस आत्मा का है" यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह कर्म भी जिस शरीरसे किया गया था उस शरीर से समस्त आत्माओंका समान रूप से संवन्ध विद्यमान ही था अतः वह कर्म-सम्पादक शरीर भी किस आत्मा का था इस का भी निर्णय असंभव है,. किन्तु सव के संवन्ध रहने से वह शरीर भी सव आत्मा का होगा।

'जिस आत्मा के मन-सहित जो शरीर है वह उस आत्मा का शरीर है" यह भी नहीं, क्योंकि शरीर की तरह मन के साथ भी समस्त आत्माओं का संवन्ध समान ही है अतः सव मन सव आत्माके हो जायँगे वैसे ही सव इन्द्रिय सव आत्मा के समान रूपसे हो जाते हैं।

वाह्य पदार्थ मे भी "यह मेरा है, और यह अन्य का है" इस प्रकार व्यवहार शरीर निमित्तक ही माना जाता है, किन्तु जव सव शरीर सव आत्मा के हैं तव उक्त व्यवहार नहीं हो सकता है।

प्रश्न--जिस आत्माको जिस शरीर मे 'अह बुद्धि' और 'मम बुद्धि' होती है उस आत्माका वही शरीर है, और वह अहं बुद्धि मम बुद्धि एक है अत. सब आत्माओंमें वह नहीं, किन्तु एक धर्म एक ही धर्मीमे रहता है अतः एक ही आत्माका एक शरीर है। जिस आत्मा का जो शरीर है उस शरीरके सम्बन्धी मन, इन्द्रिय और वाह्य पदार्थ सब उसी आत्मा के हैं अतः व्यापक और नाना आत्मा मानने पर भी कुछ दोष नहीं है।

समाधान-- यद्यपि अहं बुद्धि एक देह मे एक ही आत्माको होती है किन्तु न्याय-वैशेपिक मतके अनुसार वह अह बुद्धि समस्त आत्माओंको एक देहमें होनी चाहिये क्योंकि न्यायमें ज्ञान का नाम बुद्धि है और वह ज्ञान आत्म-मनः सयोग से उत्पन्न होता है और उस मनके साथ समस्त आत्माका सयोग है अतः मनके सयोगसे जैसे एक देहमे एक आत्माको अहं बुद्धि होती है वैसे ही उसी एक देहमे समस्त आत्माओंको अहं बुद्धि होनी चाहिये।

"एक ही मनके साथ नाना व्यापक आत्माओंके समान रूपसे सयोग रहने पर भी आत्मामे ज्ञान-जनक अदृष्ट के रहने से ज्ञान होता है और उसके नहीं रहनेसे ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है" यह कहना भी समीचीन नहीं, क्योंकि इस मत मे व्यापक नाना आत्मा अंगीकृत होने से एक शरीर के द्वारा भी सम्पादित शुभ-अशुभ-क्रिया-जन्य अदृष्ट से सब आत्माओंका समानरूप से सम्बन्ध है, क्योंकि जिस शरीर से शुभ-अशुभ क्रिया की जाती है उस शरीर से जैसे एक आत्मा का सम्बन्ध है वैसे ही उस शरीरसे सब आत्माओंका सम्बन्ध विद्यमान है क्योंकि सब आत्मा व्यापक माने जाते हैं

अतः एक शरीर में जैसे एक आत्माको सुख-दुखका अनुभव होता है वैसे ही उसी शरीरमें सबको सुख-दुखका अनुभव होना चाहिये किन्तु यह अनुभव-विरुद्ध है अतः न्याय-वैशेषिक दर्शनका आत्मा को व्यापक मान करके नाना मानना सर्वथा असङ्गत है।

वेदान्त-सिद्धान्तमें तो कर्त्ता और भोक्ता अन्तःकरण माना जाता है और वह अन्तःकरण नाना है। व्यापक अथवा अणु नहीं है किन्तु शरीरके समान अन्तः करणका परिमाण है। वह जब जैसे छोटे बड़े शरीर को प्राप्त करता है, तदनुसार ही दीप के प्रकाश की तरह उसके संकोच-विकास होते हैं यह 'सिद्धान्त-विन्दु'में मधुसूदनसरस्वती ने कहा है।

उस अन्तःकरणका जिस शरीरसे सम्बन्ध रहता है उसी अन्तः-करण को उस शरीरमें सुख-दुःखादिका भोग प्राप्त होता है।

फिर भी न्याय-वैशेषिक-मतमें आत्माके साथ मनके संयोग होने से ज्ञान गुण उत्पन्न होता है किन्तु स्वभावतः आत्मा जड़ है यह जो माना गया है वह सर्वथा असंगत है क्योंकि आत्मा चित् है यानी प्रकाश स्वरूप है।

आत्माको जड़ माननेसे उसकी प्रकाशकता का व्याघात हो जाता है और आत्मा सर्व-प्रकाशक है अतः स्वयं प्रकाशरूप है।

"अन्तःकरण और इन्द्रिय के द्वारा पदार्थोंका प्रकाश होगा" यह भी नहीं, क्योंकि अन्तःकरण और इन्द्रिय परिच्छिन्न हैं अतः कार्य हैं क्योंकि जो परिच्छिन्न होता है वह कार्य ही होता है। जैसे घट आदि पदार्थ।'

किसी देश अथवा किसी कालसे जिसका अन्त होता है वह

परिच्छिन्न कहा जाता है। जो परिच्छिन्न होता है वह कार्य(अनित्य) होता है और जो कार्य होता है वह जड़ है।

न्याय-वैशेषिक में ज्ञानके द्वारा जो आत्मा और अनात्माका प्रकाश माना जाता है वह असङ्गत है क्योंकि आत्माका ज्ञान गुण नित्य, अनित्य कुछ भी प्रमाणित नहीं हो सकता है।

यदि नित्य माना जाय तो आत्माका स्वरूप ही ज्ञान हो जाता है क्योंकि नियम है कि जो आत्मासे भिन्न है वह अनित्य है अतः ज्ञानको नित्य मानकर आत्मासे भिन्न कहना असङ्गत है।

यदि ज्ञान अनित्य है तो घटादिकी तरह वह जड़ होगा क्योंकि जो अनित्य है वह जड़ है।

इस प्रकार विवेचना करनेसे नित्य, अनित्य कुछ भी ज्ञान नहीं हो सकता है।

उत्पत्ति और विनाश अन्तःकरण की वृत्तिके होते हैं, ज्ञानके नहीं होते हैं।

आत्मस्वरूप जो ज्ञान है वह विशेष व्यवहारका हेतु नहीं है किन्तु ज्ञान-सहित वृत्ति अथवा वृत्तिमें आरूढ़ ज्ञान ही व्यवहारका हेतु है यह वेदान्तके अवच्छेदवादकी रीति है। आभासवादमें आभास-सहित वृत्तिसे व्यवहार होता है। आभासके द्वारा अथवा साक्षात् वृत्ति-द्वारा आत्मस्वरूप ज्ञान से ही समस्त व्यवहार सिद्ध होते हैं अन्यथा नहीं होते हैं।